Bachelor of Arts (Sanskrit)
बैचलर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत)
षष्ठ सेमेस्टर - बी0ए0एस0एल (N)- 302
भारतीय ज्ञानमीमांसा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **बी0ए0एस0एल (N)- 302**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय, संकाय अध्यक्ष
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर गिरीश चन्द्र पन्त,
संस्कृत विभागाध्यक्ष, जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर जया तिवारी,
संस्कृत विभागाध्यक्षा, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र,
संस्कृत संकाय, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

मुख्य सम्पादक

प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय, संकाय अध्यक्ष
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सह सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	**खण्ड**	**इकाई संख्या**
डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी. संस्कृत विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 1**	**(इकाई 1,2,3 एवं 4)**
श्री राहुल पन्त, असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 1**	**(इकाई 5)**
डॉ0 सुधीर प्रसाद नौटीयाल, असि0 प्रोफे0-ए.सी.संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 1**	**(इकाई 6)**
डॉ0 योगेन्द्र कुमार, नेशनल पी0 जी 0 कॉलेज, बड़हलगंज , गोरखपुर	**खण्ड 2**	**(इकाई 1 से 5)**
डॉ0 पूरन चन्द्र पपनै उ0मु0वि0वि0, हल्द्वानी	**खण्ड 3**	**(इकाई 2, 3 एवं 4)**
डॉ0 वन्दना द्विवेदी, वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, अग्रसेन महिला महाविद्यालय, आजमगढ़ उत्तर प्रदेश	**खण्ड 3**	**(इकाई 1, 5 एवं 6)**

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139

कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

पुस्तक का शीर्षक- भारतीय ज्ञानमीमांसा (BASL (N)- 302)

प्रकाशन वर्ष : 2026

ISBN No.

मुद्रक:

नोट:- सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) ज्ञानमीमांसा के मूल तत्व	**पृष्ठ संख्या 01-05**
इकाई- 1 भारतीय दर्शन का अर्थ, महत्त्व एवं प्रयोजन	06-27
इकाई- 2 भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य	28-37
इकाई- 3 अनुबन्ध चतुष्टय	38-49
इकाई- 4 प्रमाणों का परिचय एवं सिद्धान्त	50-65
इकाई- 5 अद्वेतवाद-द्वैतवाद-एकत्ववाद-ख्यातिवाद के सिद्धान्त	66-78
इकाई- 6 कार्यकारण के सिद्धान्त-सत्कार्यवाद-विवर्तवाद-परिणामवाद तथा अन्य सिद्धान्त	79-89
खण्ड- दो (Section-B) तर्कसंग्रह	**पृष्ठ संख्या 90**
इकाई- 1 न्यायदर्शन एवं अन्नंभट्ट का परिचय	91-98
इकाई- 2 तर्क संग्रह मंगलाचरण से शब्द लक्षण पर्यन्त	99-108
इकाई- 3 बुद्धिलक्षण से प्रत्यक्ष प्रमाण पर्यन्त	109-114
इकाई- 4 अनुमान लक्षण से बाधित हेत्वाभास लक्षण पर्यन्त	115-112
इकाई- 5 उपमान लक्षण से लेकर अभाव वर्णन पर्यन्त	113-129
खण्ड- तीन (Section-C) श्रीमद्भगवद्गीता : द्वितीय एवं तृतीय अध्याय	**पृष्ठ संख्या 130**
इकाई- 1 श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय एवं महत्त्व	131-174
इकाई- 2 श्लोक संख्या 01 से 24 तक मूलार्थ, अन्वय एवं व्याख्या	175-186
इकाई- 3 श्लोक संख्या 25 से 49 तक मूलार्थ,अन्वय एवं व्याख्या	187-198
इकाई- 4 श्लोक संख्या 50 से 73 तक मूलार्थ,अन्वय एवं व्याख्या	199-209
इकाई- 5 तृतीय अध्याय (श्लोक संख्या 01 से 20 तक मूलार्थ,अन्वय,व्याख्या)	210-238
इकाई- 6 तृतीय अध्याय (श्लोक संख्या 21 से 43 तक मूलार्थ,अन्वय,व्याख्या)	239-266

खण्ड- एक (Section-A)
ज्ञानमीमांसा के मूल तत्व

इकाई- 1 भारतीय दर्शन का अर्थ, महत्त्व एवं प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 दर्शन का अर्थ एवं महत्त्व
1.4 दर्शन का प्रयोजन
1.5 भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय
1.5.1 आस्तिक दर्शन
    1.5.1.1 साख्यं एवं योगदर्शन
    1.5.1.2 न्याय एवं वैशेषिक दर्शन
    1.5.1.3 मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन
1.5.2 नास्तिक दर्शन
    1.5.2.1 चार्वाक दर्शन
    1.5.2.2 जैनदर्शन
    1.5.2.3 बौद्ध दर्शन
1.6 भारतीय दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध
1.7 सारांश
1.8 पारिभाषिक शब्दावली
1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियो!

बी.ए. षष्ठसेमेस्टर कार्यक्रम (**बी0ए0एस0एल (N)- 302**) भारतीय ज्ञानमीमांसा नामक पाठ्यक्रम के खण्ड प्रथम से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में भारतीय दर्शन का स्वरूप एवं उनके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में दर्शन का अर्थ एवं महत्त्व तथा उनके सम्प्रदायों का अध्ययन करेंगे। दर्शन ही जीवन है। वही हमारे धर्म तथा आचार की भित्ति है। वर्तमान समाज में विद्यमान धार्मिक तथा समाजिक कलह बाहरी रुपों की और ध्यान देने का ही विषमय फल है। अतः अनेकता के अन्तर्गत हम एकता को पहचाने।

भारतीय दर्शनों का विकास उपनिषदों के बीज रुप में निहित तथा व्यक्त रुप से प्रतिपादित सिद्धान्तों को लेकर हुआ। दर्शन का परम लक्ष्य ही आत्म-दर्शन हैं। स्वयं को जान लेना ही सत्य को जान लेना है। कोई व्यक्ति अपने-आपको जानते ही आनन्द का अधिकारी बन जाता है। इस पाठ्यक्रम की इस प्रथम इकाई में इसी परिप्रेक्ष्य में दर्शन की परिभाषा उसके लक्ष्य, दर्शन-भेद, परम तत्व तथा उसके अधिकारी एवं दर्शनों की तत्व का परिचयात्मक अनुशीलन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- दर्शन शब्द के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- विभिन्न दार्शनिकों के मत से परिचित होंगे ।
- आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन से परिचित होंगे।
- दर्शन के महत्त्व को सरलता से समझकर उसके महत्वपूर्ण बिन्दुओं को जान सकेंगे।
- दर्शन की परिभाषा तथा विचारप्रक्रिया से अवगत हो सकेंगे।
- भारतीय दर्शन के प्रतिपाद्य एवं उसकी ज्ञान परम्परा को जान सकेंगे।
- भारतीय दर्शन में उपलब्ध जीवनमूल्यों के विषय को जानने में समर्थ हो सकेंगे।

1.3 दर्शन का अर्थ एवं महत्त्व

दर्शन शब्द **दृशिर् प्रेक्षणे** अर्थ में प्रयुक्त **दृश्** धातु से करण अर्थ में **ल्युट्** प्रत्यय लगा कर बना है। जिसका अर्थ देखा जाये। यहां इतना और भी विचार करना उचित है कि देखा जाये इस पद का साक्षात् अर्थ ज्ञान प्राप्त किया जाए भी हो सकता है या नही। ज्ञान प्राप्त करने के अनेक उपाय है किन्तु सब से निश्चित अर्थात् विश्वसनीय उपाय है प्रत्यक्ष आंख से देखना। **दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्** अथवा **दृश्यते यत् तद् दर्शनम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा देखा जाए या जो देखा जाए वही दर्शन है। यहां देखने से अभिप्राय वास्तविकता का अवलोकन करने से है। कहने का तात्पर्य यही है कि वस्तु के सत्यभूत तात्विक स्वरुप का अवलोकन करना ही दर्शन है। दूसरे शब्दों में वह विद्या जिसके द्वारा संसार के अद्भूत सत्यों की खोज की जाए अथवा जीवन के गहन सत्यों को खोजने का प्रयत्न करें वही दर्शन है।

यद्यपि आज फिलॉसफी शब्द दर्शन के लिए प्रयुक्त हो रहा है किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फिलॉसफी शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम अथवा विद्यानुराग। दर्शन वह विद्या है

जिसके द्वारा तत्व का साक्षात्कार हो सके। दर्शन की प्रमुख विशेषता व्यावहारिकता है। जीवन की समस्त समस्याओं का हल करने के लिए दर्शन का उद्भव हुआ है। सरल शब्दों में कहा जाये तो दुःखों से दूर होने का एक मात्र साधन दर्शन है। भारत में दर्शन अनुशीलन मोक्ष के लिए किया गया है। मोक्ष का अर्थ ही है दुःखों की निवृत्ति। मोक्ष को परम लक्ष्य मानने के कारण भारतीय दर्शन को **मोक्ष-दर्शन** भी कहा जाता है। आत्मा की परम महत्ता को देने के कारण भी इसे आत्म.विद्या भी कहा जा सकता है। दर्शन एक तथ्य परक सत्य की खोज है। भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता व्यावहारिकता है। भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए दर्शन का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने को दुखों के आवरण से घिरा हुआ पाया तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकरा पाने की कामना की। इस प्रकार दुखों से निवृत्ति के लिए उसने दर्शन को अपनाया। प्रो0 हिरियाना के शब्दों में "पाश्चात्य दर्शन की भांति भारतीय दर्शन का आरम्भ आश्चर्य एवं उत्सुकता से न होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हुआ था। दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्देश्य था जीवन के दुखो का अंत ढूढना और तात्विक प्रश्नों का प्रादुर्भाव इसी सिलसिले में हुआ।" अतः व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषताएँ है।

जीवन एवं दर्शन- जीवन एवं दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का एक ही लक्ष्य है निःश्रेयस की खोज करना। जीवन की मीमांसा करना ही दर्शन का उद्देश्य है। जीवन से सम्बन्धित आध्यात्मिक अधिदैविक तथा अधिभौतिक पदार्थ का तात्विक विश्लेषण करना भी दर्शन का कार्य है। ये दोनों एक ही लक्ष्य को सामने रख कर एक ही मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक है।

दर्शन एवं विज्ञान- दर्शन का उद्देश्य मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, समाजविज्ञान आदि अन्य विज्ञान-शाखाओं में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक सूत्र में ग्रंथित करना। अतः दर्शन भी एक विज्ञान है।

दर्शन समस्त शास्त्रों का संग्राहक- दर्शन समस्त शास्त्रों एवं विद्याओं का संग्राहक है। उसमे ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या या परविद्या, अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या, तर्क या न्याय, आचारशास्त्र या धर्ममीमांसा, सौन्दर्यशास्त्र या कलाशास्त्र आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया है।

इसी विकास के क्रम में अन्तर्भूत भारतीय दार्शनिक मनीषियों ने अपनी जिज्ञासा एवं चिन्तन के बल पर वेदों को आधारभूत करके अपने भिन्न-भिन्न दर्शनों का प्रणयन किया। इसी दार्शनिक व्युत्पत्ति को प्रायः सभी दर्शनों में स्थान प्राप्त हुआ। इसी की व्याप्ति को मानकर करणार्थक ल्युट् प्रत्यय इङ्गित करता है- मनुष्य का वस्तुओं के साथ क्या सम्बन्ध है, उन सम्बन्धों का निर्धारण कैसे करें तथा इनको जानने के साधन क्या हैं ? इन सभी प्रश्नों का एकात्मक उत्तर दर्शन ही है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने पर दर्शन शब्द एक अन्य अर्थ "प्रमाण" की भाँति प्रतीत होने लगता है, क्योंकि दोनों ही शब्द करणार्थक हैं तथा साधन के रूप में अवस्थित हैं। इनका मुख्य कार्य ऐसे साधन के रूप में है जो कि अज्ञानादि की निवृत्तिपूर्वक यथार्थ-ज्ञान कराने वाला हो। अतः भारतीय दार्शनिकों नें दर्शन शब्द के देखना, जानना और प्रमा करना इत्यादि अर्थ परिष्कार रूप में स्वीकार किये हैं।

दर्शन शब्द में अलग-अलग विद्वानों ने भिन्न-भिन्न परिभाषा देकर अपने मत प्रस्तुत कियें हैं। दर्शन को विज्ञान के रूप में जाना गया है जो परम तत्व के यथार्थ स्वरूप की जांच करता

है एवं सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु दर्शन को प्रथम एवं अंतिम विज्ञान मानते हैं। कुछ दार्शनिकों की परिभाषा निम्नलिखित है-

ओक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार दर्शन वह ज्ञान है जो परम सत् की व्याख्या करता है अथवा वस्तुओं के सामान्य कारणों एवं सिद्धान्तों की व्याख्या करता है।

डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार- दर्शन शब्द का प्रयोग अत्यन्त सोच-विचार के बाद उस विचारपद्धति के लिए किया गया जिसकी प्राप्ति तो अंतर्दृष्टिजन्य अनुभव से होती है, पर जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा की जाती है।

डॉ0 भगवानदास के शब्दों में दर्शनशास्त्र आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी सब शास्तों का शास्त्र, सब विद्याओं का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मों का उपाय, दुष्कर्मों का अपाय और नैष्कर्म्य है।

श्री अरविन्द- दर्शन का कार्य ज्ञान के भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री को कभी भी न छोड़ते हुए व्यवस्थित करना तथा उनको एक सत्य एक सर्वोच्च सार्वभौम सदवस्तु से समुचित सम्बन्ध में रखना है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के पृथक-पृथक मत दिए हैं। अतः दर्शन का अर्थ यह है कि दर्शन में सत्य पर आधारित ज्ञान की खोज की जाती है। यह जीवन की प्रत्येक वस्तु से सम्बन्धित होता है। दर्शन के अन्तर्गत इहलोक एवं परलोक की बातों को देखने का प्रयास किया जाता है।

1.4 दर्शन का प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के मन्दबुद्धि भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, तो शास्त्रकारों की प्रवृत्ति प्रयोजन में स्वतः सिद्ध होती है। अतः भारतीय परम्परा में इस उक्ति को अत्यन्त सिद्धयर्थक स्वीकृत किया गया है। यही कारण है कि सभी भारतीय दार्शनिकों ने अपने दर्शनों में पुरुषार्थचतुष्ट्य (धर्म, अर्थ , काम और मोक्ष) में मोक्ष को ही परमप्रयोजनार्थ स्वीकृति प्रदान की है, तथा अन्य सभी प्रयोजनों को गौण रूप में स्वीकृत किया है। यद्यपि भारतीय दार्शनिकों ने अपने-अपने चिन्तन के अनुसार प्रयोजनों को भिन्न-भिन्न रुप में स्वीकार किया है। तथापि मोक्ष को दर्शन के परम प्रयोजन के रूप में सभी में एक मत प्राप्त होता है।

अतः भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनका परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है तथा इसी को भारतीय दर्शनों में मोक्ष, ब्रह्मसाक्षात्कार, निःश्रेयस्, निर्वाण, मुक्ति आदि नामों से अभिहित किया गया है। आस्तिक दर्शनों में प्रतिपादित तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा का आधार हमारा वैदिक वाङ्मय ही है। इन्हीं का अवलम्बन कर भारतीय मनीषियों नें इनके आत्मज्ञान पक्ष एवं मानव के चरमभूत लक्ष्य मोक्ष के निरूपणार्थ वैदिक श्रुतियों के गूढार्थ को द्वैत और अद्वैतादि दर्शनों में विभाजित किया, जिनका परमलक्ष्य मानव के धर्मार्थ को सम्पादित कर उसे मोक्ष की प्राप्ति कराना है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों में तत्वों के अस्तित्व एवं प्राधान्याप्राधान्य में भेद होनें पर भी लक्ष्य में एकात्मकता है तथा

भारतीय दर्शनों का यह भेद भी एकात्मवादी श्रुतियों एवं अनेकात्मवादी श्रुतियों के आधार पर ही है। यद्यपि नास्तिक दर्शनों नें वेदों को अंगीकृत नहीं किया है, तथापि आस्तिक दर्शनों के बाहुल्य तथा प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि समाज में इनकी स्वीकार्यता एवं प्रबलता के कारण ही अधिकांशतः दार्शनिक भारतीय दर्शन को वेदमूलक ही स्वीकृत करते हैं।

1.5 भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय

प्राचीन काल से ही दर्शन की दो धाराएं प्रवाहित हुई है। भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन। भारतीय दर्शन को पुनः दो भागों में विभाजित किया जाता है- आस्तिक दर्शन एवं नास्तिक दर्शन। वेद मार्ग का अनुसरण करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाए तथा वेद मार्ग का खण्डन करने वाले दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाए। कहा जाता है- **नास्तिको वेदनिन्दकः।** अर्थात् नास्तिको को वेदनिन्दक कहा जाता है। अन्य विद्वानों ने कहा है—

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः॥

अभ्यास प्रश्न.1

1. दर्शन शब्द में कौन-सी धातु है ?

क. दृश्य ख. दृश्

ग. दृशिर् घ. दृश्यते

2. फिलॉसफी शब्द किस के लिए प्रयुक्त होता है?

क. दर्शन ख. सांख्य

ग. दृश्यत घ. योग

3. दर्शन के मुख्यतः कितने भेद होते हैं?

क. चार ख. दो

ग. तीन घ. छः

4. "वेद का अनुयायी" किसे कहा जाता है?

क. आस्तिक दर्शन ख. नास्तिक दर्शन

ग. विज्ञान घ. ज्ञान

5. "वेद का विरोधी" किसे कहा जाता है?

क. आस्तिक दर्शन ख. नास्तिक दर्शन

ग. विज्ञान घ. ज्ञान

6. सांख्य दर्शन के आदिप्रवर्तक कौन है?

क. गौतम ख. कणाद

ग. कपिल घ. पतंजलि

7. पूर्वमीमांसा कितने प्रमाण को स्वीकार करता है?

क. 5 ख. 2

ग. 1 घ. 6

8. औलूक्य दर्शन किसे कहा गया है?

क. वैशेषिक दर्शन ख. सांख्य दर्शन

ग. न्यायदर्शन घ. चार्वाक दर्शन

9. चार्वाक दर्शन कितने प्रमाण को स्वीकार करता है?

क. 5 ख. 2

ग. 1 घ. 6

10. असत्कार्यवाद किस दर्शन का सिद्धांत है?

क. वैशेषिक दर्शन ख. सांख्य दर्शन
ग. न्यायदर्शन घ. चार्वाक दर्शन

1.5.1 आस्तिक दर्शन

पूर्व प्रसंग में अपने भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय प्राप्त किया। अब हम आस्तिक दर्शनों की चर्चा करेंगे ताकि आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन में अंतर को समझा जा सकें। मूल रूप से दर्शन शब्द 'दृश दर्शने' धातु से करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा या जाना जाए, वही दर्शन है। यहाँ देखने का अर्थ विचार करने से है। दार्शनिक चिन्तन क्रिया मननात्मक है तथा मनुष्य की अनुभूतियों से सम्बद्ध है। इस अनुभूति का सम्बन्ध तत्त्वजिज्ञासा से है, जिसके पश्चात् मनुष्य यथार्थ के विभिन्न अर्थवान् तथ्यों को चेतना में संचित एवं व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में जिज्ञासु विभिन्न नियमों, सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के विषय में युक्तियों एवं तर्कों से विचार करता है। वेदप्रामाण्य को आधार बनाकर भारतीय दर्शन का द्विविध विभाग किया जाता है- आस्तिक दर्शन तथा नास्तिक दर्शन। वेद की प्रामाण्यता को स्वीकार करने वाले आस्तिक कहलाते हैं जबकि वेद की प्रामाण्यता को न मानने वाले दर्शन नास्तिक कहे जाते हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-वेदान्त ये 6 दर्शन आस्तिक दर्शन की कोटि में आते हैं तथा चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन को नास्तिक कोटि में रखा जाता है। अब हम सर्व प्रथम आस्तिक दर्शनों के बारे में जानेंगे।

1.5.1.1 साख्यं एवं योगदर्शन

सांख्य एवं योग दोनों एक ही सम्प्रदाय के दो रुप है। सांख्य तत्वों का वर्णन एवं विश्लेषण कर उनका सैद्धान्तिक स्वरुप प्रदान करता है और योग उस तत्वज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रायोगिक साधना का विवेचन प्रस्तुत करता है।

सांख्य दर्शन-

समस्त छः आस्तिक दर्शनों में सांख्य दर्शन अत्यन्त ही प्राचीन दर्शन है। सांख्य सिद्धान्त का उल्लेख कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् और मैत्रीयोपनिषद् तथा महाभारत आदि में भी प्राप्त होता है। सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल है। **सांख्य** शब्द **सम्** उपसर्ग पूर्वक **ख्याञ्** धातु से सांख्य शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है सम्यक् ख्यान्, सम्यक् विचार, सम्यक् ज्ञान। सांख्य दर्शन के विषय में विद्वानों द्वारा कहा गया है कि इसमें पच्चीस तत्वों का वर्णन होने के कारण इसे सांख्य कहते हैं। अर्थात् संख्या की प्रधानता होने के कारण इसे सांख्य दर्शन कहा जाता है। प्रकृति एवं पुरुष इसमें मुख्य दो तत्व है। जिनके सहयोग से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। पच्चीस तत्वों के ज्ञान से व्यक्ति तीन प्रकार के आध्यात्मिक-अधिभौतिक-अधिदैविक दुःखो से मुक्ति प्राप्त करता है।

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारस्तस्माद् गणश्चषोडशकम्।
तस्मादपि षोडषकात् पंचभ्यः पंचभूतानि।।

सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्वों का क्रम इस प्रकार है—

प्रकृत- अन्तःकरण- मन, बुद्धि, अहंकार
ज्ञानेन्द्रियां- नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कर्ण
कर्मेन्द्रिया- पाद, हस्त, उपस्थ, पायु, त्वक्

तन्मात्राएं- गन्ध, रस, रुप, स्पर्श, शब्द

महाभूत- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पुरुष

योग दर्शन—

वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि सभी ग्रन्थों में योग की चर्चा मिलती है। योग एक विशिष्ट दर्शन है। इसमें मुख्य रुप से शरीर और आत्मा का विवेचन किया गया है। आत्मा के यथार्थ स्वरुप की प्राप्ति ही योगदर्शन का मूल उद्देश्य है। महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए लिखा है- **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र-2**

पाणिनिव्याकरण-अष्टाध्यायी में **युजिर् योगे** तथा **युज्-समाधौ** ऐसी दो धातुएं मिलती हैं। युजिर् योगे सम्बन्धवाचक है। यहां योग शब्द समाध्यर्थक युज् धातु से निष्पन्न हुआ है। अतः योग का व्युत्पत्ति परक अर्थ समाधि है। ईश्वर के प्राणिधान से ही समाधि का लाभ होता है। पंतजलि ने कहा है— **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।** इसलिए इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। जीवात्मा से परमात्मा का मिलना ही योग है। पांतजल योग सूत्र में चार पाद है। प्रथम समाधि पाद है। समाधि के दो भेद होते है। सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि। द्वितीय साधनापाद है। इसमें योग के बहिरंग का वर्णन किया गया है। क्रियायोग, क्लेश, क्लेशमुक्ति आदि के साधन का उल्लेख किया गया है। तृतीय विभूतिपाद है। इस पाद में योग के अन्तरंग का तथा योगशक्ति से उत्पन्न विभूतियों और ऐश्वर्या का वर्णन है। अन्तिम चतुर्थ कैवल्यपाद है। इसमें समाधिस्थ कैवल्य आदि का वर्णन है। **महर्षि पतंजलि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** कह कर योग को परिभाषित करते हैं। चित्त का अर्थ है— अन्तरिन्द्रिय, अन्तःकरण, अनुसंधानकारिणी वृत्ति, मन, बुद्धि और अहंकार। इसमें सांख्यसम्मत बुद्धि, अहंकार और मन तीनों आ जाते हैं। योगदर्शन में बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों को मिलाकर चित्त नाम दिया गया है।

चित्त की अवस्थाएं— चित्त की पांच प्रकार की अवस्थाएं हैं-

1. क्षिप्तावस्था— इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है। ऐसी स्थिति में अस्थिर चित्त रहता है।

2. गूढ़ अवस्था— गूढ़ावस्था में चित्त तमोगुण से अभिभूत होने के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नही रखता है। निद्रा, तन्द्रा, आलस्य और प्रमाद का प्रभाव बना रहता है।

3. विक्षिप्त— इस अवस्था में चित्त चंचल बना रहता है। विक्षप्तावस्था में सत्वगुण के आाविर्भाव से चित्त अल्पसमय के लिए किसी विषय में लगता है, पुनः विषय से हट जाता है।

4. एकाग्र— बहिर्वृत्तियों का निरोध करने वाला चित्त एकाग्र कहलाता है। यह चित्त की योगानुकूल अवस्था है।

5. निरुद्ध— सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध करने वाला चित्त निरुद्ध कहलाता है। यह योग की अन्तिम अवस्था है।

चित्त वृत्तियां— चित्त की पांच वृत्तियां है-

1. प्रमाण- प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। सांख्य एवं योग तीन प्रमाण को मानते है- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम।

2. विपर्यय- किसी चीज का मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय है। जैसे रज्जु में सर्प या शुक्ति में रजत् का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है।

3. विकल्प- शब्दज्ञान से उत्पन्न होने वाला सत्य वस्तुशून्य ज्ञान है। **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।**

4. निद्रा- ज्ञान का अभाव निद्रा है। **अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।**

5. स्मृति- अनुभूत विषयों को न भूलना ही स्मृति है। अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः। स्मृति दो प्रकार की होती है- यथार्थ और अयथार्थ।

अष्टांगयोग—महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग माने है। महर्षि पतंजलि कहते है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टागांनि।

यम- अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः। यम पांच प्रकार के है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

नियम- नियम भी पांच प्रकार के है- **शौचसन्तोषतपःस्वाध्येश्वरप्रणिधानानि नियमाः।**

आसन- स्थिरता और सुख-प्राप्ति को आसन कहा जाता है- **स्थिरसुखमासनम्।**

प्राणायम- श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। श्वास-प्रश्वास आदि की गति के नियन्त्रण को प्राणायाम कहते हैं।

प्रत्याहार- स्वविषयासम्प्रयोगाभावे (प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना।)

1.5.1.2 न्याय एवं वैशेषिक दर्शन

न्याय दर्शन— न्याय शब्द का अर्थ जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके **नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः** भारतीय दर्शन की परम्परा में न्याय दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है। न्याय दर्शन के साहित्य दो भागों में विभक्त किया गया है। पदार्थ मीमांसा तथा प्रमाण मीमांसा। पदार्थ मीमांसा के प्रवर्तक महर्षि गौतम हुए उन्होनें 16 पदार्थों का विवेचन किया है। प्रमाण मीमांसा का प्रवर्तन मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक गणेश उपाध्याय ने तत्वचिन्तामणि ग्रन्थ को लिखकर किया है। पदार्थ मीमांसा और प्रमाण मीमांसा को क्रमशः प्राचीन न्याय और नव्य न्याय कहते है। गौतम का न्यायसूत्र न्यायदर्शन का आधार है। इसकी विषय वस्तु पांच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक है। सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति है। न्यायदर्शन में इस निःश्रेयस सिद्धि के लिए 16 पदार्थों की संज्ञा दी गयी है।

सोलह पदार्थ—

न्याय दर्शन प्रमाण आदि 16 पदार्थ स्वीकार करता है। जिनमें प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन के सभी पदार्थ को सम्मिलित किया गया है। 16 पदार्थ निम्न वर्णित है-

1. प्रमाण—मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते है। ये मुख्य चार है-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द।

2. प्रमेय— प्रमाण के द्वारा जिन पदार्थो का यथार्थ ज्ञान हो वे ही प्रमेय कहे जाते हैं। अर्थात् जो पदार्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो, वे प्रमेय है। ये बारह है- आत्मा, शरीर, इन्द्रियां, अर्थ, बुद्धि/ज्ञान/उपलब्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेतभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

3. संशय— किसी एक वस्तु में यदि दो भिन्न पदार्थो के समान धर्म पाया जाए और उन दोनों को परस्पर पृथक् कर देने वाला एक भी धर्म न पाया जाए तो उसमें संशय उत्पन्न होता है।

4. प्रयोजन— जिससे प्रेरित होकर कार्य करने में लोग प्रवृत्त हो, उसे प्रयोजन कहते हैं।

5. दृष्टान्त— दृष्टान्त को उदाहरण भी कहते हैं। जिस बात में पक्ष और विपक्ष दोनों दलों का एक मत हो, वही दृष्टान्त के रुप में उद्धृत होता है।

6. सिद्धान्त— प्रमाणों के द्वारा किसी बात को मान लेना कि यह ऐसा है, इसे सिद्धान्त कहते हैं। ये चार प्रकार के है- सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त और अभुपगम सिद्धान्त

7. अवयव— अनुमान की प्रक्रिया में जितने वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है, वे सब अवयव कहलाते हैं।

8. तर्क- तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रमाण का सहायक तर्क कहलाता है।

9. निर्णय— किसी विषय के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष को लेकर विचार करने के पश्चात् जिस विषय पर दोनों पक्षों का विचार स्थिर हो जाए उसे निर्णय कहते हैं।

10. वाद— तत्वजिज्ञासा के लिए पक्ष और प्रतिपक्ष के रुप में विचार-विनिमय हो उसे वाद कहते है।

11. जल्प— छल, जाति और निग्रहस्थान का जिस सन्दर्भ में प्रयोग किया जाता है उसे जल्प कहते हैं।

12. वितण्डता— जिस जल्प में किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाए उसे वितण्डा कहते हैं।

13. हेत्वाभास— ये पांच प्रकार के होते हैं- सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत।

14. छल— किसी वक्ता के कथन के अभिप्राय को उलट कर उस वाक्य के अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित कर देना छल है। ये तीन प्रकार का है- वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल

15. जति— साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा किसी वाक्य में दोष बताना जाति है।

16. निग्रहस्थान— किसी वाक्य-सन्दर्भ में वादी तथा प्रतिवादी के विपरीत ज्ञान एवं अज्ञान को निग्रहस्थान कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन— वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद् है। यह मार्ग में गिरे हुए अन्न के कणों को चुन-चुन कर खाते थे इसलिए इन्हें कणाद कहा जाता है। **स कणाद् इति कणभक्ष इति वा नाम्ना प्रसिद्धिमवाप।** कणाद का दूसरा नाम उलूक था। वैशेषिक का अर्थ है- **विशेषं पदार्थमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्** अर्थात् विशेष नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है। वैशेषिक सूत्र में दस अध्याय है। प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निको में विभक्त है। इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पदार्थों का विवेचन करना है। यह सात पदार्थो को मानता है-द्रव्य, गुण, कर्म, समान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं-क्षिति,जल,अग्नि,वायु,आकाश,काल,दिक्,आत्मा एवं मन। महर्षि कणाद् कहते हैं कि पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। **धर्मविशेष प्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याम्या तत्त्वज्ञानानि:श्रेयसम्।**

पदार्थ—

1. द्रव्य- प्रथम पदार्थ द्रव्य है। क्रिया और गुण के समवायी कारण का नाम ही द्रव्य है। **क्रियागुणवत् समवायि कारणमिति द्रव्यलक्षणम्।** द्रव्य नौ प्रकार है— पृथ्वी जल तेज वायु

मन आकाश काल दिक् तथा आत्मा। इसमें से पृथ्वी जल तेज वायु तथा मन ये सक्रिय और आकाश, काल , दिक् तथा आत्मा ये निष्क्रिय द्रव्य माने जाते हैं।

- **पृथ्वी**— **"रुपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी"** पृथ्वी में रुप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चार गुण पाए जाते हैं। यह अनेक रुप है। पृथ्वी के मुख्य दो भेद है- परमाणुरुप और कार्यरुप। परमाणु रुप पृथ्वी नित्य और कार्यरुप पृथ्वी अनित्य है।
- **जल**— जल में रुप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्निग्धत्व ये गुण विद्यमान रहते हैं। ये पांच गुण जल के विशेष गुण माने जाते हैं। जल के भी नित्य (परमाणु) और अनित्य (कार्यरुप) दो भेद है।
- **तेज**— अग्नि में रुप और स्पर्श दो विशेष गुण विद्यमान रहते हैं। तेज के भी प्रमुख दो भेद होते हैं- परमाणुरुप नित्य और कार्यरुप अनित्य।
- **वायु**— वायु नामक द्रव्य में केवल स्पर्श गुण विद्यमान रहता है। पृथ्वी आदि द्रव्य स्पर्श एवं दृश्य दोनों हैं परन्तु वायु अदृश्य द्रव्य है। केवल इसे स्पर्श किया जा सकता है। वायु को अदृष्टलिंग भी कहा जाता है- **न च दृष्टानां स्पर्श इति अवृष्टलिंगो वायु।** परमाणु रुप नित्य और कार्यरुप अनित्य के भेद से वायु के दो भेद है।
- **आकाश**— आकाश का विशिष्ट गुण शब्द है- "**शब्दगुणकमाकाशम्"** आकाश शब्दवान् होने के कारण द्रव्य है तथा निरवयव निरपेक्ष होने के कारण नित्य है। सर्वव्यापक तथा अनन्त होने के कारण उसको विभु कहा गया है। शब्द आकाश से उत्पन्न होने के कारण उसी में समा जाता है।
- **काल**— काल में पौर्वापर्य गुण विद्यमान होता है। पौर्वापर्य अर्थात् आगे-पीछे होना, एक साथ न होना, देर से होना तथा जल्दी होना।
- **दिशा**— दिशा द्वारा एक वस्तु से दूसरी वस्तु की दूरी का ज्ञान प्राप्त होता है। निरवयव होने के कारण यह नित्य एवं मूलतः एक है।
- **आत्मा**— आत्मा का असाधारण गुण चैतन्य है। शरीर से भिन्न ही आत्मा है। जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद से आत्मा के दो भेद है। जीवात्मा अनित्य एवं अनन्त है परन्तु परमात्मा नित्य एवं एक है।
- **मन**— **साक्षात्कारे सुखादीनां करण मन उच्यते।** ज्ञान इच्छा आदि जो पदार्थ है उनके साक्षात्कार के लिए मन की आवश्यकता है।

2. गुण— **द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग विभाग योर्नकारणमनोक्ष इति गुण लक्षणम्।** अर्थात् गुण सदा द्रव्य के आश्रय में रहने वाला, अगुणवान्, संयोग एवं विभाग में कारण न होने वाला है। कार्य का असमवायिकारण गुण है। गुण चौबीस है-**रुपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि-पृथक्त्वंसंयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः।** अर्थात् रुप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द ये चौबीस गुण है।

3. कर्म— क्रिया को कर्म कहते है। द्रव्य के गतिशील धर्म का नाम कर्म है। कर्म द्रव्य का सक्रिय रुप है। **एकद्रव्यमगुणं सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।** कर्म पांच है- **उत्पेक्षणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनं मिति कर्माणि।**

4. समान्य— एक होता हुआ भी अनेक वस्तुओं में समान रुप से समवेत रहता है, वह समान्य है। सामान्य अर्थ जाति है, वह नित्य है। सामान्य के दो प्रकार इस दर्शन में माना गया है- सत्ता सामान्य और विशिष्ट सामान्य।

5. विशेष— वैशेषिक दर्शन विशेष नामक पदार्थ को मानता है। विशेष एक नित्य द्रव्य है। जिसके कारण एक व्यक्ति संसार के सभी व्यक्तियों से अपने को अलग करता है। **अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्विशेषः।** विशेष का अर्थ ही है व्यावर्त्तक। नित्य द्रव्य में रहने वाले व्यावर्त्त को विशेष कहते हैं- **नित्यद्रव्यवृत्तियो व्यावर्तका विशेषाः तर्कसंग्रह** अतः विशेष नित्य द्रव्यों में रहने के कारण नित्य है।

7. समवाय— नित्यसम्बन्धः समवायः। समवाय नामक नित्य सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है। जिन दोनों में से एक अविनश्यत् अवस्था में दूसरे के आश्रित रहता है उसे अयुतसिद्ध कहते हैं। जैसे— अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान, जाति-व्यक्ति और नित्य द्रव्य-विशेष का संबंध अयुतसिद्ध संबंध है।

8. आभाव— जिस पदार्थ का ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान के विना न हो सके, उसे आभाव कहते हैं। कणाद ने आभाव के दो भाग किए है- संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन प्रकार का होता है— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। अन्योयाभाव एक ही होता है। इस प्रकार आभाव चार प्रकार के होते है।

इस प्रकार कणाद ऋषि ने वैशेषिक दर्शन को स्पष्ट किया है।

1.5.1.3 मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन

मीमांसा दर्शन— मीमांसा का अर्थ ही गहन विचार। यह भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में से एक है। मूल रुप से मीमांसा को दो भागों में बांटा गया है— पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा के आचार्य जैमिनि एवं उत्तर मीमांसा के आचार्य बादरायण है। उत्तर मीमांसा को **ब्रह्ममीमांसा** भी कहा जाता है। पूर्वमीमांसा में वेद के कर्मकाण्डपरक मन्त्रों की व्याख्या की गयी है तथा उत्तर मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म अर्थात् परमात्मा की स्थिति के विषय में बताया गया है। पूर्वमीमांसा को केवल मीमांसा दर्शन कहा जाता है और उत्तर मीमांसा को वेदान्त दर्शन कहा जाता है।

मीमांसा का प्रथम सूत्र है— **अथातो धर्मजिज्ञासा** अर्थात् धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। वेदान्त का प्रथम सूत्र है- **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** अर्थात् अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। महर्षि जैमिनि मीमांसा-सूत्र के आचार्य माने जाते हैं। मीमांसा सूत्र दार्शनिक सूत्रों में सर्वाधिक विशाल काव्य है। इसमें 16 अध्याय है, जिसमें 12 अध्याय द्वादशलक्षणी नाम से प्रसिद्ध है और अन्तिम 4 अध्यायों को देवताकाण्ड कहते हैं। मीमांसा के धर्मजिज्ञासा, भेद, शेषत्व, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, क्रम, अधिकार, सामान्य, अतिदेश, विशेष-अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र और प्रसंग-ये 12 वर्ण्य विषय है। इसलिए इन्हें **द्वादशीलक्षणी** भी कहा जाता है। पूर्वमीमांसा का मूल विषय- कर्ममीमांसा तथा धर्ममीमांसा है। यह दर्शन छः प्रमाणों को मानता है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अभाव अथवा अनुपलब्धि।

मीमांसा दर्शन के प्रमुख आचार्य—

मीमांसा दर्शन के प्रमुख तीन सम्प्रदाय माने जाते हैं- भाट्टमत, गुरुमत, मिश्रमत।

भाट्टमत के आचार्य— कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, माधवाचार्य आदि।

गुरुमत के आचार्य— प्रभाकर मिश्र, शालिकनाथ, भवनाथ या भवदेवमिश्र आदि।

मिश्रमत— मुरारिमिश्र।

वेदान्त दर्शन— वेद का अन्तिम भाग ही वेदान्त है। भारत में जितने दर्शन हुए, उनमें सबसे महत्वपूर्ण दर्शन वेदान्त को कहा जाता है। पूर्व में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषद् के लिए ही होता था क्योंकि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग है। वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण का **ब्रह्मसूत्र** कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र को वेदान्त सूत्र कहा जाता है। इस नाम के अतिरिक्त इसे शारीरिक सूत्र, शारीरिक मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है। वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए, जिनमें चार संप्रदाय मुख्य है-

अद्वैतवाद - शंकर

विशिष्टाद्वैवाद - रामानुज

द्वैतवाद - मध्वाचार्य

द्वैताद्वैत - निम्बाकाचार्य

वेदान्त के जितने सम्प्रदाय है, उनमें सबसे प्रधान शंकर का अद्वैत-दर्शन कहा जाता है।

1.5.2 नास्तिक दर्शन

भारतीय विचारपरम्परा में दर्शन का जीवन के साथ अनिवार्य संबंध है। स्वरूप और पद्धति की दृष्टि से भारतीय विचारधारा में दो परंपराएं दिखाई देती हैं, आस्तिक और नास्तिक। भारतीय परंपरा में आस्तिक ओर नास्तिक पदों को परिभाषित करने का आधार सर्व सम्मति से वेद प्रमाण की स्वीकृति और अस्वीकृति है। नास्तिक पद को यहां वेदों की निंदा करने वाले के रूप में परिभाषित किया जाता है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक साहित्य में आस्तिक एवं नास्तिक पदों का एक अन्य अर्थ भी प्राप्त होता है।

परलोक में विश्वास करने वाले दर्शन को आस्तिक और परलोक में विश्वास न करने वाले दर्शन को नास्तिक दर्शन कहते हैं। केवल इहलोक या दृश्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करने के कारण नास्तिक दर्शन को लोकायत दर्शन भी कहा जाता है।

आस्तिक, नास्तिक पदों का अर्थ स्वीकार करने पर केवल चार्वाक दर्शन ही नास्तिक सिद्ध होता है क्योंकि इसमें परलोक की सत्ता को अस्वीकार करते हुए केवल इहलोक की सत्ता में विश्वास किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों-सांख्य, योग न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत जैन एवं बौद्ध को आस्तिक परंपरा में रखते हैं क्योंकि इसमें परलोक में विश्वास किया जाता है। आधुनिक भारतीय साहित्य में आस्तिक और नास्तिक पदों का एक और अर्थ प्राप्त होता है जिसमें ईश्वर की सत्ता में विश्वास के आधार पर आस्तिक और नास्तिक पदों की व्याख्या की जाती है।

यहां उल्लेखनीय है कि यद्यपि आस्तिक और नास्तिक पदों के अनेक अर्थ किए गए हैं किंतु इनमें से वेदों के अस्तित्व में विश्वास के आधार पर जो परिभाषा आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की की जाती है वही सर्वमान्य है और सर्वाधिक प्रचलित है। चार्वाक, जैन एवं बौद्ध

दर्शनों को वेद विरोधी होने के कारण नास्तिक दर्शन कहा गया है। जबकि वैदिक परंपरा के पोषण के कारण सांख्य योग, न्याय वैशेषिक एवं वेदांत दर्शन कहा गया है।

1.5.2.1 चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन प्राचीन दर्शन है। इस दर्शन का नाम चार्वाक होने पर विभिन्न मत प्राप्त होते है। कुछ लोगों का मानना है कि चार्वाक शब्द की उत्पत्ति **चर्व** धातु से हुई है। चर्व का अर्थ है खाना। इस दर्शन का मूल ही यह है कि खाओं, पियों और मोज करों। इस आधार पर इस का नाम चार्वाक रखा गया है। इसके अतिरिक्त अन्य मत यह है कि चार्वाक शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। चारु और वाक्। चारु का अर्थ मीठा तथा वाक् का अर्थ वचन। इसलिए चार्वाक अर्थ हुआ मीठे वचन बोलने वाला। इन दो मतों के अलावा अन्य विद्वान कहते हैं कि चार्वाक एक व्यक्ति विशेष का नाम था। इस कारण इस दर्शन का चार्वाक है।

इस दर्शन के प्रणेता **बृहस्पति** माने जाते है। इसे लोकायत दर्शन भी कहा जाता है। साधारण लोगों में फैला होने के कारण इसे लोकायत कहा है। डा0 राधाकृष्णन का मत है कि चार्वाक को लोकायत इसलिए कहा जाता है कि वह इस लोक में ही विश्वास करता है। लोकायत के सन्दर्भ में शंकराचार्य कहते हैं कि देह से भिन्न आत्मा की सत्ता नही मानने वाले ही लोकायत है- **लोकायतिकानामपि चेतन एव देहे इति।** हरिभद्रसूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय में चार्वाक को लोकायत कहा है-**लोकायत वदन्त्येनम्।** चार्वाक नास्तिक, अनीश्वरवादी, प्रत्यक्षवादी तथा सुखवादी दर्शन है। नास्तिक दर्शनों में सर्वप्रथम या सर्वप्राचीन दर्शन चार्वाक दर्शन माना जाता है। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन के सभी तथ्यों को समेटने की चेष्टा की है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। उनके अनुसार आत्मा है ही नही। उनका मानना है कि जब तक जीवन है, मनुष्य को सुखपूर्वक जीना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य जीवन धारण नही करता है।

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नस्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। सर्वदर्शनसंग्रह

चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त—

चार्वाक दर्शन को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित करते हैं- तत्व, आचार और ज्ञान।

तत्वमीमांसा— चार्वाक दर्शन वादी केवल इन्द्रिय-सन्निकर्ष ज्ञानजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। यह कहता है आंखो से जो परे है वे परोक्ष है और परोक्ष असत् है। ये केवल भौतिक वस्तुओं की सत्ता ही स्वीकार करते है। इनके अनुसार चार प्रकार के भूतत्व है- पृथ्वी, जल, तेज और वायु। **पृथ्वीव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। बार्हस्पत्यसूत्रम्।**

आत्मा— चार्वाक दर्शन वादी चैतन्यविशिष्ट देह को आत्मा मानते है। **चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।** इन्होनें आत्मा की कोई पृथक् सत्ता स्वीकार नही की है।

ईश्वर— चार्वाक दर्शन एक नास्तिक दर्शन है। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करता है। इनके अनुसार ईश्वर है ही नही। यह संसार स्वतः उत्पन्न हुआ है। यह कार्य-कारणवाद और ईश्वरवाद का निषेध करते है।

कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म— चार्वाक दर्शनवादी कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म का उपहास करते हुए कहते है कि यदि आत्मा मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म ग्रहण करती है तो उसे अपने पूर्व जन्म के कर्म का आभास क्यों नही होता है। सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है—

यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेव विनिर्गतः।

कस्माद्भूयो न आयाति बन्धुस्नेहसमागतः।।

चार्वाक दर्शन वादी कर्म और पुनर्जन्म सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।

1.5.2.2 जैनदर्शन

भौतिकवादी दर्शनों में चार्वाक दर्शन के पश्चात् जैन दर्शन का स्थान ही आता है। जिन लोगों द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन जैन दर्शन है। जिन अर्थात् विजेता के अनुयायी को जैन कहते हैं। **जि जये** धातु से **नक्** प्रत्यय लगकर जिन् शब्द का निर्माण हुआ है। **रागद्वेषादिमनोविकारांजयतीति जिनः।** अर्थात् जिसने राग-द्वेषादि मनोविकारों का दमन कर उन पर विजय प्राप्त की है वे जिन है। जिन एव उपास्य देवताऽस्येति जैनः तीनों लोकों में पूजित होने के कारण इन्हें आर्हत् कहा जाता है। इनके द्वारा प्रचारित धर्म आर्हत् कहा जाता है-

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।

यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वरः।। सर्वदर्शनसंग्रह

जिन को तीर्थकर भी कहा जाता है- **तरति संसारमहार्णवं येन तत्तीर्थम्, तं करोतीति तीर्थकंर।** जैन परम्परा में कुल 24 तीर्थकर है- 1. ऋषभनाथ, 2. अजितनाथ, 3.सम्भवनाथ, 4.अभिनन्दन, 5.सुमतिनाथ 6.पद्मप्रभ, 7.सुपार्श्वनाथ, 8.चन्द्रप्रभ, 9.सुविधिनाथ, 10.शीतलनाथ, 11.श्रेयांसनाथ, 12.वासुपूज्य, 13.विमलनाथ, 14.अनन्तनाथ, 15.धर्मनाथ, 16.शान्तिनाथ, 17.कुन्थुनाथ, 18.अरनाथ, 19.मल्लिनाथ, 20.मुनिसुव्रत, 21.नाभिनाथ, 22.नेमिनाथ, 23.पार्श्वनाथ, 24.वर्धमान महावीर।

स्याद्वाद-

प्रत्येक ज्ञान को सम्भावित रुप में समझना स्याद्वाद कहलाता है। जैन स्याद्वादवाद के माध्यम से अनेकान्तवाद का समर्थन करते है। यह प्रत्येक नय में स्यात् शब्द का प्रयोग करते है। स्यात् शब्द अस् धातु से विधिलिंग के एकवचन का रुप है। स्याद्वाद का उपयोग किसी पदार्थ के अस्तित्व या अनस्तित्व का निर्णय करने के सात विभिन्न प्रकारों में होता है। ये समस्त ज्ञान को केवल सम्भावना के रुप में मानते है। यही जैनों का स्याद्वादवाद है।

सप्तभंगीनय-

सप्तभंगीनय से स्याद्वाद की अभिव्यक्ति होती है। **सप्तानां भगांनां वाक्यानां समाहारः सप्तभंगी।** सप्तभंगीनय एक दृष्टिकोण है।

1. स्याद् अस्ति घटः अर्थात् घट है।

2. स्याद् नास्ति घटः अर्थात् घट नही है।

3. स्यादस्ति नास्ति घटः अर्थात् घट है और नही है।

4. स्यादवक्तव्यो घटः अर्थात् घट अव्यक्त है।

5. स्यादस्ति चावक्तव्यं घटः अर्थात् घट है और अव्यक्त भी नही है

6. स्याद् नास्ति चावक्तव्यं घटः अर्थात् घट नही है और अवक्तव्य है।

7. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः घटः अर्थात् घट है, नही भी है और अनिर्वचनीय है।

जैन दर्शन में द्रव्य—

जैन मत के अनुसार द्रव्य दो प्रकार के होते हैं- आस्तिकाय एवं अनास्तिकाय। आस्तिकाय के दो भाग- जीव और अजीव। जीव के भी दो भेद है- मुक्त एवं बद्ध। अजीव के अन्तर्गत धर्म, अधर्म, पुद्गल एवं आकाश है।

अनास्तिकाय का केवल एक भाग काल है।

रत्नत्रय—

1. सम्यक् दर्शन— शास्त्ररी सिद्धान्तों में तथा जीवाजीव तत्वों में श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन कहलाता है- नं सम्यग्दर्शनमिति।

2. सम्यक् ज्ञान— भ्रम-संशयरहित मूल तत्वों का विशेष ज्ञान होना सम्यक् ज्ञान है।

3. सम्यक् चरित्र— जैन आचार्यों ने राग-द्वेष, क्रोध-प्रभृति दुर्गुणों को छोड़ने के लिए जो आचरण किया जाए, उसे सदाचार या सम्यक् चरित्र कहा है।

पंचमहाव्रत—

जैन दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्माचर्य और अपरिग्रह को महाव्रत कहा गया है।

1. अहिंसा— समस्त प्राणियों के प्रति दयालुता का भाव रखना ही अहिंसा है। जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म मानता है। अहिंसा परमो धर्मः।

2. सत्य— महावीर ने सत्य को भगवान् के रुप में माना है- **तं सच्चं खु भगवं।** जैनदर्शन वादियों ने चार प्रकार के असत्य का निर्धारण किया है- 1.किसी सद्वस्तु के स्वरुप, समय, स्थानादि के सन्दर्भ में मिथ्या कथन। 2.किसी असद्वस्तु के सन्दर्भ में मिथ्या कथन। 3.किसी वस्तु के यथार्थ स्वरुप को छिपा कर उसे दूसरे रुप में प्रख्यापित करना। 4.अहित, अमंगल और अप्रिय बोलना। इनका अभाव सत्य कहा गया है।

3. अस्तेय— स्तेय का अर्थ है-चोरी करना। चोरी का सर्वथा परित्याग अस्तेय है। जैन मतावलियों के अनुसार पांच प्रकार की चौरवृत्ति के परित्याग को अस्तेय कहा गया है।

4. ब्रह्मचर्य— ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाघ्नत अर्थात् ब्रह्मचर्यरुपी तपस्या से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है।

5.अपरिग्रह— विषयासक्ति का त्याग ही अपरिग्रह है। जैन दर्शन के अनुसार आवश्यकता से अधिक संग्रह करना गलत है।

सप्त तत्व—

जैन-दर्शन में जीवन के साथ कर्म का संबंध और विच्छेद दिखलाने के सात पदार्थ बताए गए है। ये सात तत्व है- जीव, अजीव, आश्रय, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष।

1.5.2.3 बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के संस्थापक गौतम बुद्ध माने जाते हैं। बुद्ध ने कोई पुस्तक नही लिखी है। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने बुद्ध के उपदेशों का संग्रह त्रिपिटक में किया। सुत्तपिटक, अभिधम्म पिटक, विनयपिटक ये तीन पिटकों के नाम है।

चार आर्यसत्य— बौद्धदर्शन के अनुसार चार आर्य सत्य है-

1. दुःख सर्व दुःखम् — संसार दुःख की प्रतिभूति है।

2. दुःख का कारण दुःखसमुदाय— दुःख का कारण भी है।

3. दुःखनिरोध—

4. दुःखनिरोध का उपाय— दुःख निरोध के मार्ग भी है। इन्हें बौद्ध अष्टांगिक मार्ग कहते है। ये आठ मार्ग है-

प्रज्ञा— सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प

शील- सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव

समाधि- सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि

इन मार्गों पर दृढ़तापूर्वक चलकर व्यक्ति अपने दुःखों का नाश कर देता है। इसलिए समस्त मार्गों में इसे श्रेष्ठ माना गया है- **मग्गानट्ठगिंको सेट्ठो। मार्गाणामष्टागिंको श्रेष्ठः धम्मपद 20.1**

1. सम्यक् दृष्टि— वस्तु के यथार्थ का स्वरुप का ज्ञान होना ही सम्यक् दृष्टि है।

2. सम्यक् संकल्प—शुभ कर्मो के करने का एवं अशुभ कर्मो के परित्याग का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।

3. सम्यक् वाक्— अनुचित वचन का परित्याग ही सम्यक् वाक है।

4. सम्यक् कर्मान्त— प्राणियों की हिंसा, चोरी, व्यभिचार, कपट इत्यादि बुरे कर्मो का परित्याग कर सत्कर्म करना है ही सम्यक् कर्मान्त है।

5. सम्यक् आजीविका— अनुचित साधनों का परित्याग एवं उचित साधनों का उपयोग ही सम्यक् आजीविका है।

6. सम्यक् व्यायाम— सत्कर्म के लिए सही प्रयत्न या सुन्दर उद्योग का नाम सम्यक् व्यायाम है।

7. सम्यक् स्मृति— चार आर्य सत्यों का स्मरण रखना ही सम्यक् स्मृति है।

8. सम्यक् समाधि— चित्त की शून्य और पूर्ण जाग्रत अवस्था को बुद्ध ने समाधि कहा है।

त्रिरत्न—

बौद्ध धर्म मे प्रज्ञा, शील और समाधि को त्रिरत्न कहा गया है। ये तीनों अष्टांगिक मार्ग के प्रतीक है।

प्रतीत्यसमुत्पाद—

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध धर्म का आधारस्तम्भ है। यह द्वादश निदान, जन्म-मरण चक्र, अलातचक्र, भवचक्र का सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद के 12 अंग है— अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरुप, षडायतन, इन्द्रियां, वेदना, तृष्णा, उपादना, भव, जाति, जरा-मरण।

स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयार्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूर्णता।।

अभ्यास प्रश्न.2

1. सांख्य दर्शन के आर्चाय कौन है?

क. आसुरि ख. पंचशिख

ग. सदानन्द घ. कपिल

2. सांख्य दर्शन में कुल कितने तत्व है?

क. 25 ख. 26

ग. 19 घ. 2

3. न्याय के मत में प्रमेय है?

क. 12 ख. 17

ग. 9 घ. 6

4. तर्कसंग्रह के अनुसार स्मृति कितनी प्रकार की है?

क. 1 ख. 5

ग. 2 घ. 3

5. बौद्ध दर्शन के अनुसार कितने पिटक है?

क. 4 ख. 6

ग. 3 घ. 2

6. त्रिरत्न किसमें बताए गए है?

क. बौद्ध दर्शन ख. चार्वाक दर्शन

ग. वैशेषिक दर्शन घ. जैन दर्शन

7. चार्वाक दर्शन कितने प्रमाणों को मानता है

क. 4 ख. 1

ग. 3 घ. 2

8. वैशेषिकों के अनुसार पदार्थो की संख्या है?

क. 7 ख. 9

ग. 5 घ. 12

9. चित्त की कितनी अवस्थाएं है?

क. 6 ख. 8

ग. 5 घ. 3

10. योग दर्शन के प्रवर्तक आचार्य कौन है?

क. गौतम ख. कणाद

ग. पतंजलि घ. अन्नभट्ट

1.6 भारतीय दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध

भारतीय दर्शनों का विस्तृत अध्ययन करने पर यह प्रतीत हो जाता है कि यद्यपि सभी दर्शनों द्वारा की गई दार्शनिक मीमांसा अलग-अलग प्रतीत होती हैं तथापि इनमें एक सार्वभौमिक संबन्ध की प्रतीति होती ही है। भारतीय दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध एवं समन्वय को द्योतित करने वाले अनेक बिन्दु हैं जिनमें से प्रथम बिन्दु है— 'व्यावहारिकता'। भारतीय दर्शन की जितनी भी शाखाएं हैं उन सबका उद्देश्य व्यावहारिक है। वे सभी मानव के वर्तमान जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का विश्लेषण करते हैं तथा उनसे मुक्त होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। यह अत्यन्त रोचक है कि प्रत्ययवादी दार्शनिक जो कि जगत् को वास्तविक सत्ता नहीं मानते हैं; उन्होंने भी व्यवहार के स्तर पर जगत् को सत् मान लिया है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत में दर्शन जीवन का प्रतिबिम्ब है। एक सच्चा दार्शनिक नित्य-प्रतिदिन के जीवन में अनुभूत होने वाली विविध अनुभूतियों को ही अपने दार्शनिक विश्लेषण का विषय बनाता है। यदि कोई दर्शन जीवन को उपेक्षित करता है तो भारतीय जनमानस उसे दर्शन की कोटि में भी नहीं मानता है।

द्वितीय बिन्दु है - 'लक्ष्य की एकता'। समस्त भारतीय दर्शनों का परमलक्ष्य अन्ततःएक ही है और वह है 'जागतिक दुःख की निवृत्ति'। विशुद्ध भौतिकतावादी चार्वाक से लेकर

पराप्रत्ययवादी विज्ञानवाद तक सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रधान लक्ष्य है मनुष्य को अनुभूत होने वाले दुःखत्रय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति। यद्यपि इस दुःखनिवृत्ति का उपाय प्रत्येक दर्श न में पृथक्-पृथक् निरुपित किया गया है किन्तु सभी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि उनका प्रधान लक्ष्य मानव जीवन के दुखों की निवृत्ति ही है।

तृतीय बिन्दु है- 'अविद्या से बन्धन एवं तत्त्वज्ञान से मुक्तिलाभ'। प्रायः सभी भारतीय दर्शन यह मानते हैं कि मनुष्य के समस्त दुखों का मूलकारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या को भारतीय चिन्तन परम्परा में क्लेशरूप कहा गया है जिसके कारण ही मनुष्य तत्व के वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता है तथा कर्म, कर्मसंस्कार एवं कर्मफल के बन्धन में उलझकर विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। बौद्ध दर्श न में प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त द्वारा एक चक्र के माध्यम से मनुष्य के इस संसरण को सुन्दर ढंग से व्याख्यायित किया गया है। द्वादशनिदानचक्र या भवचक्र के अनुसार अविद्या-संस्कार-विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श - वेदना-तृष्णा-उपादान-भव-जाति-जरामरण का चक्र तब तक प्रवर्त मान रहता है जब तक व्यक्ति तत्त्वबोध के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेता है। जैन मतानुसार अविद्या के कारण जीव 8 प्रकार के कर्मपुद्गलों (ज्ञानावरणीय, दर्श नावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय) से संयोग कर लेता है एवं बन्धन से ग्रस्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त होने के लिए जीव को जैन तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत सात पदार्थों (जीव, अजीव, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा एवं मोक्ष) का त्रिरत्नों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र) के आचरण से सिद्धि प्राप्त करने का विधान है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अज्ञान के कारण आत्मा कर्म में प्रवृत्त होता है जिससे धर्माधर्मरूप अदृष्टसंस्कार आत्मा में संचित होते रहते हैं जिनके फलोपभोग हेतु आत्मा का संसरण होता रहता है । इस प्रकार अज्ञान ही बन्धन का मूल है। इस बन्धन से निवृत्ति के लिए न्यायदर्शन में प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान का तथा वैशेषिक दर्शन में द्रव्यादि सात पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान उपदिष्ट किया गया है। सांख्य-योग दर्शन के अनुसार पुरुष विशुद्ध चैतन्यरूप, असंग, उदासीन एवं नित्यमुक्त है किन्तु बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब (चितिच्छायापत्ति) के कारण वह प्रकृतिकृत धर्मों को अज्ञानवशात अपना मान लेता है तथा स्वयं को बुद्ध समझने लगता है। इस बन्धन से निवृत्ति हेतु सांख्य-योग में प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। पूर्व मीमांसा दर्शन में भी अज्ञान के कारण ही आत्मा विषय के सम्पर्क में आकर सुख-दुःख की अनुभूति करता है एवं बन्धन में पड़ जाता है। वेदविहित यागादि कर्मों के आचरणपूर्वक आत्मतत्त्व का ज्ञान करने से (कर्मज्ञानसमुच्चय) मोक्ष की प्राप्ति होती है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव एवं ब्रह्म अभिन्न हैं किन्तु जब जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है तो उसका यह अज्ञान ही बन्धन का मूलकारण है। जब कोई अधिकारी जिज्ञासु सांसारिकदुःखों से पीड़ित होकर गुरु के सान्निध्य में जाता है तो आचार्य उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश करता है। इस महावाक्य के अखण्डार्थ का बोध होने पर मुमुक्षु को जीव-ब्रह्मैक्य का ज्ञान हो जाता है। इसके उपरान्त मुमुक्षु 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते हुए 'ब्रह्मसाक्षात्कार' कर लेता है। यही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' मोक्ष की स्थिति है।

दर्शनों में परस्पर समन्वय का चतुर्थ बिन्दु है- आचारमीमांसा का प्रतिपादन। समस्त दर्शनों में दार्शनिक तत्वों के विश्लेषण के लिए तीन प्रविधियों का प्रयोग पाया जाता है- तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा। भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा के गहन अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक दर्श न में तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के साथ आचारमीमांसा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुतः दर्शन का प्रयोजन ही मानव का नैतिक उत्थान है, जिसके लिए कर्मसिद्धान्त एवं अन्य साधनापद्धतियों का सूक्ष्म विश्लेषण हमें प्रत्येक भारतीय दर्शन में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों में एक सैद्धान्तिक संबन्ध भी दृष्टिगोचर होता है।

न्याय एवं वैशेषिक—

जिस प्रकार गौतम द्वारा प्रचलित न्यायदर्शन तथा कणाद द्वारा स्थापित वैशेषिकदर्शन अपनी तत्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा के कारण वैचित्र्यपूर्ण प्रतीत होता है परन्तु ईश्वरकर्तृ क परमाणु संयोग सिद्धान्त तथा दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूपी मोक्ष मार्ग जैसे प्रतिष्ठित सिद्धान्तो में साम्यता प्रस्तुत होना एवं समान रीति का अनुकरण करना न्याय एवं वैशेषिक को एक ही धारा में समाहित करता है।

साख्य एवं योग—

इन दोनों दर्शनों में एक मूलभूत समानता दृष्टिगोचर होती है कि सांख्यसिद्धान्त की तत्वमीमांसा के अन्तर्गत 25 तत्वों का विवेचन किया गया है तथा योग दर्शन की तत्वमीमांसा में उन्ही 25 तत्वों को स्वीकार करके एक ईश्वर को ही पृथक् रूप में स्वीकृत कर 26 वाँ तत्व स्वीकार किया है अन्य सभी 25 तत्व दोनों में समान हैं। इसके अनन्तर एक सैद्धान्तिक समानता भी है -जहाँ सांर्ख्य इ श्वर की सत्ता स्वीकार नही करता है परन्तु सांख्य में प्रकृति के चाञ्चल्य स्वभाव को वर्णित करना एवं सत्व, रज, तम इन तीन गुणों का मानव के स्वभाव में भेद कारण सिद्ध करना योग को भी स्वीकार है। यही सरणि सांख्य एवं योग की एकरूपात्मकता को सिद्ध करती है।

मीमांसा एवं वेदान्त–

वेदों की कर्म मीमांसा को प्रतिपादित करने वाली पूर्वमीमांसा वेदों की ब्रह्म मीमांसा का एक विशिष्ट अंग है, क्योंकि धर्म मीमांसा से शुद्ध चित्त ही ब्रह्ममीमांसा में एकाकारित होने की योग्यता रखता है। अतः पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा दोनों ही मीमांसा की धारा एक ही सिद्धान्त की अवच्छिन्न दो धाराएं हैं। इस प्रकार से ज्ञात होता है कि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में तत्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा का एक सूक्ष्म भेद तो प्राप्त होता है परन्तु यह भेद वास्तविक न होकर प्रातिभासिक ही है, क्योंकि सभी दर्शनों का परम लक्ष्य मानव का कल्याण मात्र है। मानव सभ्यता के आद्य वांग्मय ऋग्वेद की सूक्ति 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' भारतीय दर्श नों के परस्पर सम्बन्ध एवं समन्वय पर पूर्ण तः सार्थ क होती है। इसी समन्वय को पुष्पदन्त के निम्नलिखित श्लोक से भी पुष्ट किया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियाँ अन्त में समुद्र में ही स्थान प्राप्त करती हैं उसी प्रकार प्राणियों के भेदानुसार विभिन्न दार्शनिक सरल एवं कठिन के भेद से अपने विचारों का उद्भावन करते हैं किन्तु सभी का एकमात्र उद्देश्य मानवकल्याण ही है।

1.7 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप जान चुके हैं कि दर्शन शब्द किस धातु से बना है ? उसका क्या अर्थ होता है ? दर्शन के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषा का अध्ययन आप ने किया जिससे आप दर्शन के स्वरूप को समझ चुके है।

दर्शनशास्त्र की सामान्य व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में दर्शन शब्द वस्तु तथा अवस्तु के मध्य विद्यमान महान् भेद को प्रदर्शित कर मानव को वस्तु के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराता है तथा वस्तु के सत्य ज्ञान से मानव के चरमभूत लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसारित करता है। अतः भारतीय शास्त्रों में दर्शन को सम्यक् ज्ञान की दृष्टि के रूप में परिभाषित कर प्रमाणशास्त्र के रूप में अभिहित किया गया है। वस्तुतः भारतीय दर्शनशास्त्र वेदों में निहित श्रुतियों का ही उद्भावक है, जो कि अपने प्रबल प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर श्रुतियों के गूढार्थ को सोदाहरण प्रस्तुत कर मानव की भौतिकवादिता से निवृत्ति कर आध्यात्मिकता में प्रवृत्ति कराता है। सम्पूर्ण भारतीय.दर्शन को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया है- आस्तिक दर्शन एवं नास्तिक दर्शन। भारतीय विचारधारा में वेद को प्रमाणिक रुप से स्वीकार करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन तथा जो वेद की प्रमाणिकता को स्वीकार नही करते हैं वह नास्तिक दर्शन है। इस प्रकार आस्तिक का अर्थ है "वेद का अनुयायी" और नास्तिक का अर्थ है "वेद के विपरीत "। इस दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन में छः दर्शनों को आस्तिक कहा जाता है। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं इसीलिए यह आस्तिक दर्शन कहलाएं। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन आते हैं। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करते है। इनके अनुसार ईश्वर है ही नही। चार्वाक के मत में तो यह नश्वर शरीर ही आत्मा इसके अतिरिक्त कुछ भी नही। अतः इस इकाई का अध्ययन कर आप भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय एवं उसके प्रतिपाद्य को बता सकेंगे एवं इनका वैशिष्ट्य समझा सकेंगे।

अभ्यास प्रश्न. 3

1. भारतीय दर्शन की मुख्यतः कितनी धाराएँ है?

क. 2 ख. 4

ग. 3 घ. 6

2. न्यायदर्शन वादियों ने आत्मा के कितने रुप बताये हैं?

क. 4 ख. 2

ग. 3 घ. 6

3. सांख्य दर्शन सृष्टि की उत्पति के लिए कितने तत्व मानता है?

क. 4 ख. 6

ग. 3 घ. 2

4. कौन-सा दर्शन शरीर को ही आत्मा मानता हैं।

क. सांख्यदर्शन ख. न्यायदर्शन

ग. चार्वाकदर्शन घ. जैनदर्शन

5. जैनदर्शन के अनुसार जीव कितने प्रकार के होते है?

क. 4 ख. 2

ग. 3 घ. 6

6. अनन्त चतुष्टय का उल्लेख किस दर्शन में प्राप्त होता है?

क. सांख्यदर्शन ख. न्यायदर्शन

ग. चार्वाकदर्शन घ. जैनदर्शन

7. बुद्ध के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व में कितने स्कंध होते है?

क. 4 ख. 5

ग. 3 घ. 6

8. माया की कितनी शक्ति होती है?

क. 4 ख. 5

ग. 2 घ. 6

9. अध्यास का दूसरा नाम क्या है?

क. सगुण ख. निर्गुण

ग. अविद्या घ. आत्मा

10. सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष के अस्तित्व के लिए कितने प्रमाण माने है?

क. 4 ख. 5

ग. 2 घ. 6

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	-	**अर्थ**
दृश्	-	यह एक धातु है। जिसका अर्थ है, देखना।
दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्	-	जिसके द्वारा देखा जाए या जो देखा जाए वही दर्शन है।
आस्तिक	-	वेदों को मानने वाले
नास्तिक	-	वेदों को ना मानने वाले
प्रत्यक्ष	-	सामने (अक्ष के सम्मुख)
फिलॉसफी	-	फिलॉसफी का हिन्दी अर्थ दर्शन है।
पंचभूत	-	पृथ्वी, अग्नि,वायु,जल,आकाश नामक महाभूत
चौतन्य	-	चेतना से संपन्न
तीर्थंकर	-	धर्म प्रचारक जैन सिद्ध
वेद का अनुयायी	-	जो वेद को मानने वाले है।
प्रमाता	-	जानने वाला
भोक्ता	-	भोगने वाला
कर्ता	-	करने वाला

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न.1

1.ख, 2.क 3.ख 4.क 5.ख 6.ग 7. घ 8.क 9. ग 10. ग

अभ्या स प्रश्न. 2

1. घ 2.क 3.क 4.ग 5.ग 6.घ 7.ख 8.क 9.ग 10. ग

अभ्यास प्रश्न.3

1.क 2.ख 3.घ 4.ग 5.ख 6.घ 7.ख 8.ग 9.ग 10.ख

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चट्टोपाध्याय, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969
2. भारतीय दर्शन, एस. राधाकृष्णन (अनु.) नन्दकिशोर गोभिल, राजपाल एंड संस,दिल्ली, 2010
3. भारतीय दर्शनः आलोचन एवं अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, 2013
4. भारतीय दर्शन का इतिहास, एस.एन.दासगुप्ता, (अनु.) कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003 (तृतीय संस्करण)
5. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास (दर्शन खण्ड), (स.) बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनउ, 1993
6. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएण्टालिया, वाराणसी, 1976
7. भारतीय दर्श नः आलोचन एवं अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पुस्तक भण्डार, पटना,1969।
8. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास (दर्शन खण्ड), (स.) बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखऊ, 1993।
9. भारतीय दर्शन बृहत्कोष, बच्चूलाल अवस्थी, शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,2004

1.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय दर्शन की रुपरेखा- प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा- मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
2. भारतीय दर्शन- आचार्य बलदेव उपाध्याय- शारदा मंदिर वाराणसी
3. भारतीय दर्शन- जगदीशचन्द्र मिश्र- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी

1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. दर्शन शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए ?
2. भारतीय दर्शनों का परमलक्ष्य क्या है परिभाषित कीजिए ?
3. आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन का अर्थ बताते हुए उनका संक्षिप्त परिचय दीजिए ?
4. दर्शन का महत्त्व बताइये ?
5. न्याय दर्शन में ईश्वर की सिद्धि का विवेचन कीजिए ?
6. नास्तिक दर्शनों पर एक निबन्ध लिखिए ?
7. सांख्य दर्शन की तत्त्वमीमांसा का वर्णन कीजिए ?
8. भारतीय दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध का विवेचन कीजिए ?
9. आस्तिक दर्शनों का विस्तृत परिचय दीजिए ?
10. न्याय-वैशेषिक दर्शन का परिचय दीजिए।
11. न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का निरूपण कीजिए।
12. सांख्य-योग दर्शन का परिचय दीजिए।
13. मीमांसा-वेदान्त दर्शन का परिचय दीजिए।
14. चार्वाक दर्शन की तत्व मीमांसा की समीक्षात्मक व्याख्या करें।
15. जैन दर्शन का परिचय दीजिए।
16. बौद्ध दर्शन की चार शाखाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

इकाई 2. भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य

इकाई की रुपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 भारतीय दर्शन में ब्रह्म
2.4 भारतीय दर्शन में आत्मा
2.5 भारतीय दर्शन में माया
2.6 सारांश
2.7 अभ्यास प्रश्न
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 सहायक ग्रन्थ सूची
2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

स्नातक (BASL (N)- 302) के प्रथम खण्ड की इस द्वितीय इकाई में आपकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- ब्रह्मा, माया, आत्मा को प्रस्तुत किया जा रहा है। इस से पूर्व की प्रथम एवं द्वितीय इकाईयों में आप दर्शन का सम्यक् अर्थ, परिभाषा, अवधारणा तथा समस्त आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन के विषय में अध्ययन कर चुकें है। इस द्वितीय इकाई के मुख्य विषय को ध्यान में रखकर विषय को बताया गया है। इस क्रम में यथासम्भव प्रयास किया गया है कि अपेक्षित सारी सूचनाओं को प्रस्तुत किया जाए।

2.2 उद्देश्य

- ❖ इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—
- ❖ भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- ब्रह्म के विषय में जान पायेंगे।
- ❖ भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- आत्मा के विषय में आपको जानकारी प्राप्त होगी।
- ❖ सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित आत्मा के विषय में आपको ज्ञान प्राप्त होगा।
- ❖ चार्वाक दर्शन में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को आप जान पाएंगे।
- ❖ भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- माया के विषय में आपको जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ❖ शंकराचार्य के मतानुसार माया के स्वरूप के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2.3 भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- ब्रह्म

शंकर के मत में ब्रह्म विचार- शंकराचार्य ब्रह्म को ही एक मात्र सत्य मानते हैं। वह एकतत्ववादी है। ब्रह्म प्रकाश के सामान ज्योतिर्मय हैं, वह स्वयं में ही ज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान से संसार का ज्ञान जो मूलतः अज्ञान है, समाप्त हो जाता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है। उपनिषद में ब्रह्म के सद्गुण और निर्गुण दोनों रूपों में व्याख्या की गयी है। ब्रह्म अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एवं सम्पूर्ण जगत का आधार है। ब्रह्म को अपरिवर्तनशील भी कहा गया है इसका न विकास होता है न रूपांतर होता है। वह हमेशा एक सा रहता है। उपनिषद में ब्रह्म को **नेति नेति** कह कर प्रस्तुत किया गया है। शंकराचार्य इस **नेति नेति** के आधार पर ही ब्रह्म की व्याख्या की गयी है। वह ब्रह्म को **नेति नेति** के आधार पर अद्वैत कहते है। इस प्रकार ब्रह्म, निर्गुण, निर्विशेष और निर्विकार है। ब्रह्म सत्+चित्+आनन्द= सच्चिदानन्द है।

2.4 भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- आत्मा

भारतीय दर्शन की मुख्यतः दो धाराएँ है- आत्मवाद एवं अनात्मवाद या नैरात्मवाद। समस्त आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों ने आत्मा को अलग-अलग रूप से बताने एवं समझने का प्रयास किया है। भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु ही आत्मा है। चार्वाक दर्शन को छोड़ कर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है।

1- न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा- न्यायवादी ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं। ज्ञानाधिकरणमात्मा तर्कसंग्रह न्याय दर्शन के आत्मा के सूचक चिन्ह् बताएं है- **प्राणाप्राननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः। सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चत्मनो लिंगानि॥ (वैशेषिकसूत्र)**

अर्थात् प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, चैतन्य। ये दर्शन वादी आत्मा के दो रुप बताते हैं- **स द्विविधः परमात्मा जीवात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नं विभुर्नित्यश्च। (तर्कसंग्रह)** परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और एक है। ईश्वर का दूसरा नाम ही परमात्मा है और जीवात्मा कर्त्ता, भोक्ता और व्यापक अनेक है। जितने शरीर होते हैं उतनी ही जीवात्मा होती है। वैशेषिक आत्मा को अमर मानते हैं। आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करने लिए इन्होनें कुछ मत दिए हैं-

1. प्रत्येक गुण का कुछ न कुछ आधार होता है। चैतन्य एक गुण है, इस गुण का आश्रय शरीर, मन और इन्द्रिय नही हो सकती। अतः इस गुण का आश्रय आत्मा है। चैतन्य आत्मा का स्वरूप गुण नही है, अपितु यह उसका आगंतुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव तब होता है जब आत्मा का संपर्क शरीर, इन्द्रियों और मन से होता है। आत्मा की यह व्याख्या सांख्य योग की आत्मा की व्याख्या से भिन्न प्रतीत होती है। सांख्य योग के मतानुसार चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है।

2. जिस प्रकार कुल्हाड़ी का व्यवहार करने के लिए एक व्यक्ति की आवशयकता होती है उसी प्रकार आँख, कान, नाक आदि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करने वाला भी कोई होना चाहिए, वही आत्मा है।

3. प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इससे सिद्ध होता है कि सुख-दुःख किसी सत्ता के विशेष गुण है। सुख-दुःख पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, दिक् और काल के गुण नही है। अतः सुख-दुःख आत्मा के ही विशेष गुण है।

4. नवजात शिशु जन्म के साथ-ही-साथ हँसता और रोता है। नवजात शिशु की ये अनुभूतियाँ सिद्ध करती है।

इस प्रकार आत्मा को सिद्ध करने के लिए अनेक मत प्रस्तुत किये गये है।

2- सांख्य एवं योग दर्शन के अनुसार आत्मा- सांख्य एवं योग में पुरुष को आत्मा का पर्याय माना गया है। सांख्य दर्शन सृष्टि की उत्पति के लिए दो तत्व मानता है- प्रकृति एवं पुरुष। जिस सत्ता एवं तत्व को अन्य दार्शनिकों ने आत्मा कहा है, उसी सत्ता को सांख्य पुरुष कहते हैं। पुरुष एवं आत्मा एक ही तत्व के विभिन्न नाम है। सांख्य पुरुष को शुद्ध चैतन्य मानते हैं। चैतन्य नामक गुण आत्मा में ही रहता है। पुरुष न किसी वस्तु का कारण है और न ही किसी वस्तु का कार्य है, वह कार्य-कारण से मुक्त है। पुरुष अपरिवर्तनशील, सुख-दुःख एवं पाप-पुण्य से रहित है। वह निर्गुण है।

पुरुष के अस्तित्व के प्रमाण-

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च॥

संघातपरार्थत्वात्- विश्व के समस्त पदार्थ संघातमय अर्थात् सावयव है। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति, महत् (बुद्धि), अहंकार आदि सभी सावयव या संघातरूप है। ये सभी दूसरों के लिए, जिसके लिए है- वही पुरुष या आत्मा है।

त्रिगुणादि विपर्ययात्- सत्व, रज, तम- अव्यक्त प्रकृति और व्यक्त इसका कार्यसमूह त्रिगुणात्मक है। इनका सारा संघात सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण युक्त है। ये संघात त्रिगुणात्मक होने के कारण उपभोग्य है। इसका उपभोक्ता त्रिगुणातीत किसी पुरुष का होना आवश्यक है।

अधिष्ठानात्- विश्व के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक है। ये पदार्थ सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करते है किन्तु ये सारे पदार्थ अचेतन है। ये चेतन या किसी जीव से प्रेरित होकर संचालित होते हैं, स्वतः नही। अतः इन्हें संचालित करने के लिए पुरुष की आवश्यकता होती है।

भोक्तृभावात्- सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाली सारी वस्तुएं भोग्य है। अचेतन होने के कारण ये सभी उपभोग्य है। इनका उपभोक्ता पुरुष या आत्मा है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन ने पुरुष की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए पाँच तर्क बताए गये हैं।

पुरुष की अनेकता-

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धम् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।

जनन-मरण-करणानां प्रतिनियमात- प्रत्येक मानव के जन्म,मृत्यु और इन्द्रियानुभूति भिन्न-भिन्न होते हैं। क्योंकि प्रत्येक शरीर में पुरुष (आत्मा) भिन्न-भिन्न हैं।

अयुगपत्प्रवृत्तेश्च- विश्व में सभी जीवों में एक साथ एक ही प्रवृत्ति नही देखी जाती। सभी व्यक्तियों की शारीरिक, मानसिक प्रवृत्तियाँ अलग-अलग होती हैं।

त्रैगुण्यविपर्ययात्- विश्व के सभी मनुष्य सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न है, किन्तु सभी का स्वभाव एक सा नही है।

अतः इन युक्तियों द्वारा सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक है।

3- मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा- वेदान्तवादी जीव, आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नही मानते है। इनके अनुसार चिरकाल से अविद्या की गहन निद्रा में सोया हुआ जीव जब तत्त्वमसि के वाक्यज्ञान से जगता है तब उसे देह, इन्द्रिय और बुद्धि की उपाधि से परे अद्वैत आत्मा का बोध होता है। आत्मा अनन्त, अखण्डित, नित्य, निरुपाधि और निरवयव है। आत्मा एक है, वही ब्रह्म है, वही विभु है। जो जीवों का एकत्व जाग्रदवस्था में सामूहिक या विश्वात्मक है, उसे आत्मा कहते है। वही विराट या वैश्वानर कहलाता है। कारण शरीर से युक्त आत्मा प्राज्ञ कहलाता है। अतः आत्मा अद्वैत है। असांसारिक होने के कारण आत्मा असम्पृक्त है। यह एक आधात्मिक तत्व है।

मीमांसा दर्शन आत्मा को एक द्रव्य मानता है। जो चैतन्य गुण का आधार है। चेतना आत्मा का स्वभाव नही, अपितु गुण है। चैतन्य आत्मा का गुण माना गया है। कुमारिल भट्ट ज्ञान को आत्मा का परिणाम मानते हैं। उनका कहना है कि ज्यों ही आत्मा पर विचार किया जाता है त्यों ही यह बोध होता है कि मैं हूँ। प्रत्येक ज्ञान में आत्मा ज्ञाता के रूप में इसे अहं वित्ति कहा जाता है। पदार्थ ज्ञेय विषय के रूप में विषयवित्ति और ज्ञान स्वप्रकाश ज्ञान के रूप में स्वसंवित्ति प्रकाशित होता है। प्रभाकर न्याय-वैशेषिक की भांति ज्ञान को आत्मा का एक गुण मानते हैं।

प्रभाकर ने आत्मा को शरीर, इन्द्रियों, तथा बुद्धि से भिन्न माना हैं तथा आत्मा को नित्य, विभु, और अनेक कहा है-

बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्नात्मा विभुर्ध्रुवः।

नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थज्ञानेषु भासते।।

प्रभाकर मिश्र आत्मा को अनेक मानते हैं। उनके अनुसार जितनी देह है, उतनी ही आत्मा भी है।

नास्तिक दर्शनों में आत्मा का स्वरूप-

1- चार्वाक के अनुसार आत्मा- चार्वाक चैतन्य विशिष्ट शरीर को आत्मा मानते हैं। यह कहते हैं कि आत्मा की कोई अलग या पृथक् सत्ता नही है। चैतन्य से विशिष्ट शरीर ही आत्मा है इसके अतिरिक्त और कुछ नही है। **चैतन्यविशिष्टः काय पुरुषः** चार्वाक शरीर और आत्मा में अभेद स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार आत्मा कुछ नही है। यह नश्वर शरीर ही आत्मा है। इसके अलावा कुछ भी नही है। चार्वाक कहते हैं कि यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज और वायु का संघात है। **पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषय संज्ञा। (बार्हस्पत्यसूत्र)** चार्वाक दर्शनवादी एकमात्र प्रमाण प्रत्यक्ष को मानने वाले हैं। शरीर को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है किन्तु आत्मा को प्रत्यक्ष नही देख सकते हैं। इसलिए इन्होनें अपने दर्शन शास्त्र में आत्मा को कोई स्थान नही दिया है। इनके अनुसार इस विश्व में आत्मा नामक तत्व कुछ भी नही है। जो कुछ है वह केवल शरीर है। इनकी दृष्टि में जो कुछ भी दिखाई देता है, वही प्रत्यक्ष है अन्यथा सब कुछ मिथ्या है। आत्म तत्व के विषय में वेदान्तसार के कर्त्ता सदानन्द ने भी चार्वाक के चार मतों का उल्लेख किया गया है-

अनुभव के आधार पर मैं दुबला हूं, यह मोटा है। इत्यादि अनुभव के आधार पर ही मोटा शरीर या पतले शरीर को ही आत्मा मानते हैं।

इन्द्रियात्मवादी- कुछ चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। यह कहते हैं मैं अन्धा हूं, मैं बहरा हूं।

प्राणात्मवादी- कुछ चार्वाक मैं भूखा हूं या मैं प्यासा हूं इस अनुभूति के आधार पर प्राण को आत्मा मानते हैं।

मनसात्मवादी- कुछ चार्वाक मैं संकल्प करता हूं या मैं संशय में हूं ऐसा संकल्प-विकल्पात्मक अनुभूति के आधार पर मन को ही आत्मा मानते है।

इस प्रकार चार्वाक के आत्मा संबंधी मत वेदान्तसार में वर्णित है। अतः चार्वाक शरीर को आत्मा मानते हैं।

जैन दर्शन में आत्मा- भारतीय दर्शन में जिस सत्ता को आत्मा कहा जाता है उसी को जैन आचार्यों ने जीव कहा है। उनके अनुसार जीव ही आत्मा है। जीव एवं आत्मा एक ही सत्ता के दो भिन्न-भिन्न नाम है। जैन के अनुसार चेतना से युक्त द्रव्य को जीव कहा जाता है। जीव नित्य है। यह शरीर से बिल्कुल ही भिन्न हैं, जीव की नित्यता की विशेषता शरीर में नही पाई जाती है, क्योंकि शरीर नाशवान है। जीव को ज्ञाता, कर्त्ता एवं भोक्ता कहा जाता है। यह विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है इसलिए इसे ज्ञाता कहा गया है। कर्त्ता होने के कारण यह संसार के विभिन्न कर्मों में भाग लेता है तथा अपने कर्मों का फल स्वयं भोगने के कारण सुख दुःख की अनुभूति भी प्राप्त करता है, इस कारण यह भोक्ता भी है। जैन मतानुसार जीव अनन्त है, जीव में चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती है। जिन्हें अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति एवं अनन्त सुख ये चार अनन्त चतुष्टय है। जीव का वर्गीकरण निम्नलिखित है-

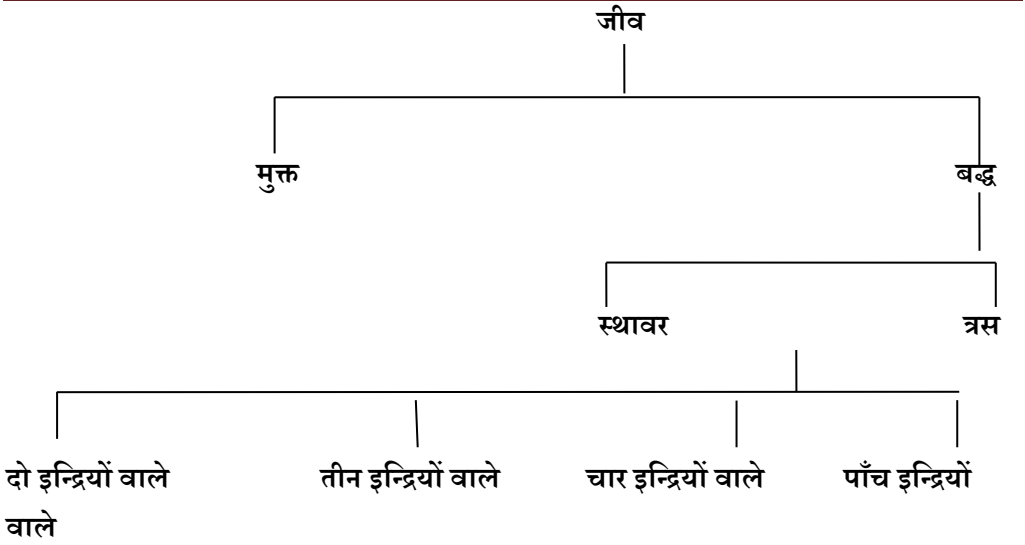

जैन आचार्यों ने जीव को दो प्रकार का माना है। बद्ध और मुक्त जीव। जैनों ने जितने भी जीवों को बताया है, वे सभी चेतन है। इस प्रकार जैन मतानुसार आत्मा का स्वरूप बताया गया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा- आत्मा सम्बन्धी विचार सभी भारतीय दर्शनों ने माना है। भारतीय दर्शन में आत्मा एक मुख्य तत्व है। लगभग सभी दर्शनों ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। चार्वाक एवं बौद्ध एक ऐसे दर्शन है जो आत्मा को नही मानते है। बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी तथा अनात्मवादी है। बुद्ध के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व में पञ्च स्कंधों (रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना और विज्ञान) के अतिरिक्त और कोई ऐसा तत्व नही है जिसे आत्मा कहा जा सकता है। बौद्धों की दृष्टि में सभी वस्तुएं क्षणिक है। कोई भी वस्तु किन्ही दो क्षणों में एक सी नही रहती है। आत्मा भी अन्य वस्तुओं कर सामान परिवर्तनशील है। बुद्ध आत्मा का निषेध करते हुए कहते है- "विश्व में न कोई आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार-स्वरूप मन और मन की वेदनाएँ, वे सब आत्मा या आत्मा के समान किसी चीज से बिल्कुल शून्य है।" आत्मा के विषय में अन्य मत प्रस्तुत करते हुए कहते है कि आत्मा से प्रेम करना वैसा ही हास्यास्पद है जैसे किसी कल्पित सुन्दर रमणी से प्रेम करना हास्यास्पद है। अतः बुद्ध अनात्मवाद को स्वीकार करते हैं।

2.5 भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- माया

शंकर के मत में माया- शंकर की दृष्टि में माया, अविद्या और अज्ञान समानार्थक शब्द है। इस लिए उन्होंने अविद्या और माया में अंतर नही माना है। माया अध्यास के रूप में हैं। अध्यास का अर्थ है जहाँ जो वस्तु नही है, वहां उस वस्तु को कल्पित करना ही अध्यास है। जिस प्रकार रस्सी में साँप। माया ब्रह्म का विवर्त मात्र है। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह नाना रूपात्मक जगत का खेल प्रदर्शन करता है। माया अनिवर्चनीय है क्योकि वह न सत् है, न असत् है, न दोनों है। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह विश्व का निर्माण करती है। शंकराचार्य माया को ईश्वर की शक्ति मानते है। माया ईश्वर की इच्छामात्र है। इसको ग्रहण करना एवं छोड़ना इसकी इच्छा पर निर्भर करता है। माया ब्रह्म से अभिन्न और अच्छेद्य है। वेदांत में माया को ब्रह्म की शक्ति, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, विवर्त, भान्ति आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है। अद्वैत वेदांत के अनुसार प्रकृति को माया तथा परमात्मा को मयी कहा गया है।

"मायाम् तु प्रकृतिम विद्यात् मायिनंच महेश्वरम" शंकराचार्य के अनुसार माया या अविद्या की निम्नलिखित विशेषताएँ है-

आवरण- वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ढकना ही आवरण कहलाता है। जैसे एक सघन बादल का टुकड़ा दर्शकों की दृष्टि को ढक लेने के कारण अनेक योजन विस्तृत सूर्यमण्डल को ढक लेता है। उसी प्रकार आवरण शक्ति से युक्त माया परिमित होने पर भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेता है।

विक्षेप- विक्षेप का अर्थ है मिथ्या आरोप। किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर किसी अन्य वस्तु के अयथार्थ स्वरूप के आरोप को विक्षेप कहा गया है। जैसे रज्जु में अज्ञान के कारण सर्प का आभास होना ही विक्षेप है।

माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है। शक्ति रूप में माया ब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है, अविच्छेद्य है, जैसे दाहकता अग्नि से और संकल्प मन से।

माया के कार्य- माया परमात्मा की सर्जक शक्ति है। माया अपनी विशिष्ट शक्ति से सम्पूर्ण प्रपञ्चात्मक जगत का निर्माण करती है। यह त्रिगुणात्मक एवं अविद्यारूपणि है।

माया और सगुण-निर्गुण का समन्वय- माया सगुण-निर्गुण ब्रह्म की समन्वयकारिणी है। ब्रह्म को एक ओर **नेति-नेति** कह कर निर्गुण और निराकार माना जाता है और दूसरी ओर **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** कहकर सगुण और साकार माना जाता है। अतः माया इन विरोधियों का समाधान करती है। माया रहित होने पर सगुण ही निर्गुण है, मायासहित होने पर निर्गुण ही सगुण है।

माया का भाव एवं अभाव रूप- माया भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों है। भावरूप में भी माया सत् नही है। माया का अभावपक्ष आवरण कहलाता है, जो वास्तविक तत्व को ढक देता है। भावपक्ष विक्षेप कहलाता है। वस्तुतः माया न अभाव है और न भाव। यह तो केवल माया है।

माया की अनिर्वचनीयता- माया अनिर्वचनीय है। यह न तो सत् है और न ही असत्। सांसारिक दृष्टि से माया है, सृष्टि है और स्त्रष्टा भी है, लेकिन पारमार्थिक दृष्टि से न माया है, न सृष्टि है और न कोई स्त्रष्टा है। अतः माया की एकरूपता संभव नही है। यह व्यावहारिक दृष्टि से है और पारमार्थिक दृष्टि से नही है। इस प्रकार माया अनिर्वचनीय है।

माया और अविद्या – कुछ विद्वान माया को अविद्या या अज्ञान कहते हैं, किन्तु माया और अविद्या में भेद है। माया ब्रह्म की शक्ति है अतः भावात्मक है। अविद्या केवल विद्या का आभाव है, अतः अभावात्मक है। माया ईश्वर की उपाधि है, अविद्या जीव की उपाधि है। माया की उपाधि से परमात्मा स्त्रष्टा है एवं अविद्या की उपाधि से जीव कर्ता और भोक्ता है।

माया अध्यास है- माया अध्यास है। अध्यास का दूसरा नाम ही अविद्या है- **तमेतमेते लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यते।** किसी वस्तु में अनुपस्थिति किसी अन्य वस्तु का स्मृतिरूप में अवभास होना अध्यास है- **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।** अर्थात् शुक्ति में रजत् का भान होना अध्यास है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में अनात्मा प्रपंच का आभास होना अध्यास है- **एवमविरूद्ध प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः।** इसी अध्यास को शंकराचार्य ने अविद्या कहा है।

अतः माया ईश्वर की शक्ति है। यह माया ही है जो ब्रह्म के स्वरूप पर पर्दा डालकर उसे विश्व के रूप में प्रस्तुत करती है। यह शक्ति ईश्वर से पृथक नही की जा सकती है। जिस प्रकार लौ प्रकाश से पृथक नही रह सकती है, उसी प्रकार माया भी ईश्वर से पृथक नही रह सकती है।

2.6 सारांश

इस इकाई को पढने के बाद आप जान चुके हैं कि भारतीय दर्शन के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय क्या है। ब्रह्म के विषय में आपको ज्ञान प्राप्त हुआ। ब्रह्म प्रकाश के सामान ज्योतिर्मय हैं, वह स्वयं में ही ज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान से संसार का ज्ञान जो मूलतः अज्ञान है, समाप्त हो जाता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है। भारतीय दर्शन में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को आप जान सके। न्यायवादी ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं। सांख्य एवं योग में पुरुष को आत्मा का पर्याय माना गया है। वेदान्तवादी जीव, आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नही मानते है। चार्वाक चैतन्य विशिष्ट शरीर को आत्मा मानते हैं। भारतीय दर्शन में जिस सत्ता को आत्मा कहा जाता है उसी को जैन आचार्यों ने जीव कहा है। बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी तथा अनात्मवादी है। ब्रह्म एवं आत्मा के अतिरिक्त भारतीय दर्शन माया का स्वरूप भी बतलाता है। शंकर की दृष्टि में माया, अविद्या और अज्ञान समानार्थक शब्द है। इस लिए उन्होंने अविद्या और माया में अंतर नही माना है।

2.7 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय दर्शन की मुख्यतः कितनी धाराएँ है?

क. 2

ख. 4

ग. 3

घ. 6

उत्तर- क

2. न्यायदर्शन वादियों ने आत्मा के कितने रुप बताये हैं?

क. 4

ख. 2

ग. 3

घ. 6

उत्तर- ख

3. सांख्य दर्शन सृष्टि की उत्पति के लिए कितने तत्व मानता है?

क. 4

ख. 6

ग. 3

घ. 2

उत्तर- घ

4. कौन-सा दर्शन शरीर को ही आत्मा मानता हैं।

क. सांख्यदर्शन

ख. न्यायदर्शन

ग. चार्वाकदर्शन

घ. जैनदर्शन

उत्तर- ग

5. जैनदर्शन के अनुसार जीव कितने प्रकार के होते है?

क. 4

ख. 2

ग. 3

घ. 6

उत्तर- ख

6. अनन्त चतुष्टय का उल्लेख किस दर्शन में प्राप्त होता है?

क. सांख्यदर्शन

ख. न्यायदर्शन

ग. चार्वाकदर्शन

घ. जैनदर्शन

उत्तर- घ

7. बुद्ध के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व में कितने स्कंध होते है?

क. 4

ख. 5

ग. 3

घ. 6

उत्तर- ख

8. माया की कितनी शक्ति होती है?

क. 4

ख. 5

ग. 2

घ. 6

उत्तर- ग

9. अध्यास का दूसरा नाम क्या है?

क. सगुण

ख. निर्गुण

ग. अविद्या

घ. आत्मा

उत्तर- ग

10. सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष के अस्तित्व के लिए कितने प्रमाण माने है?

क. 4

ख. 5

ग. 2

घ. 6

उत्तर- ख

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय दर्शन की रुपरेखा- प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा- मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
2. भारतीय दर्शन- आचार्य बलदेव उपाध्याय- शारदा मंदिर वाराणसी
3. भारतीय दर्शन- जगदीशचन्द्र मिश्र- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी

2.9 सहायक ग्रन्थ सूची

भारतीय दर्शन-शास्त्र, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध कीजिए?
2. सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष की अनेकता को प्रमाणित कीजिए?
3. भारतीय दर्शन के अनुसार माया के स्वरूप को प्रतिपादित कीजिए?

इकाई. 3 अनुबन्ध चतुष्टय

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 अनुबन्ध चतुष्टय का अर्थ
3.4 अनुबन्ध चतुष्टय का सिद्धान्त एवं प्रकार
3.4.1 वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय
3.4.2 भक्तमाल के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय
3.4.3 गीता के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय
3.5 सारांश
3.6 पारिभाषिक शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्न
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अनुबन्ध चतुष्टय को जानना किसी भी शास्त्र का गहन अध्ययन शुरू करने के लिए आवश्यक है, क्योंकि यह अध्ययन की प्रासंगिकता एवं उद्देश्य को स्पष्ट करता है। किसी भी शास्त्र में प्रवेश से पहले उस के विषय में अच्छी तरह से जानना चाहिए। ग्रन्थ के विषय प्रयोजन आदि के निरूपण के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में अनुबन्ध् चतुष्टय का निरूपण किया जाता है। जिस प्रकार आस्तिक लोग ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं उसी प्रकार वहाँ अनुबन्धें का भी उल्लेख करना चाहिए। अनुबन्धों से यह ज्ञान होता है यह शास्त्र किस के लिए उपयुक्त है अर्थात् इस शास्त्र को पढ़ने के लिए कौन योग्य है ? शास्त्र का विषय क्या है ? शास्त्र के साथ विषय का कौन सा सम्बन्ध् है ? इस शास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ है? फलतः कहा जा सकता है कि अनुबन्ध वाचक होते हैं। शास्त्रों के भेद से अनुबन्धों के वाच्यों में भी परिवर्तन आते हैं। अत: इस पाठ में वेदान्त शास्त्रों के अनुबन्ध पर विचार किया जा रहा है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- ❖ वेदांत पढ़ने का अधिकारी कौन एवं शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन क्या है जान सकेंगे
- ❖ वेदान्तसार में वर्णित साधनचतुष्टय की अवधारणा को समझ सकेंगे ।
- ❖ वेदांत का हमारे जीवन में उपयोग है जान सकेगें
- ❖ वेदान्त दर्शन में ज्ञान की अवधारणा को जान सकेंगे
- ❖ भारतीय दार्शनिक परम्परा से भी आप परिचित हो सकेंगे।
- ❖ अनुबन्ध चतुष्टय क्या है यह जान पाने में समर्थ हो सकेंगे।
- ❖ वेदान्त क्या है इसको समझ सकेंगे।
- ❖ वेदान्त में कहे गए प्रयोजन के लाभ को प्राप्त करने के लिए अधिकारी बनने के लिए प्रयुक्त हो सकेंगे।
- ❖ वेदान्तसार में वर्णित अनुबंधचतुष्टय की अवधारणा को समझ सकेंगे ।

3.3 अनुबन्ध चतुष्टय का अर्थ

भारतीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में अधिकारी, सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन का प्रतिपादन किया जाता है। जो अपने ज्ञान से अन्य को बांधकर ग्रन्थ अथवा शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उन्हें अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं। अतः अनुबन्धों के ज्ञान के बाद ही किसी शास्त्र में पुरूष की प्रवृत्ति संभव है। यदि शास्त्र के आदि में अनुबन्धों को उल्लेख नहीं होता है तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की प्रवृत्ति नहीं होती है। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध है, इन्हें ही ''अनुबन्ध् चतुष्टय'' कहा जाता है। ''अनु स्वज्ञानात् अनन्तर बध्नन्ति शास्त्रो ग्रन्थे वा आसज्जन्ति प्रवर्तयन्ति ये ते अनुबन्ध'' यह अनुबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति है जिसका तात्पर्य है कि जो अपने ज्ञान से अन्य को बांध कर ग्रन्थ अथवा शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उन्हें अनुबन्ध कहते हैं। अत एव अनुबन्ध के ज्ञान के बाद ही किसी शास्त्र में पुरूष की प्रवृत्ति सम्भव है। यदि शास्त्र के आदि में अनुबन्ध का उल्लेख नहीं होता है तो ''शास्त्र पढ़ने में पाठक की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसीलिए कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक में कहा है—

''ज्ञातार्थ ज्ञातसम्बन्धं श्रोतु श्रोता प्रवर्तते। ग्रन्थादौ तेन वक्तव्य सम्बन्धः सप्रयोजनः।।''1/1/17

श्रोता, ज्ञाता, अर्थ, सम्बन्ध का ज्ञान करके ही शास्त्र में प्रवृत्त होता है। अतः शास्त्र के प्रारम्भ में सम्बन्धदि का उल्लेख अवश्य ही करना चाहिए। यह श्लौकार्थ है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन इन अनुबन्धों के क्रम में विषय में भी कोई नियम है क्या। तब कहा जाता है कि शास्त्र के ज्ञाता के बिना शास्त्र में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, अतः अधिकारी का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिए। यद्यपि अधिकारी की उपस्थिति हो गयी है परन्तु विषय ज्ञान से हीन अधिकारी की शास्त्र में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है इसलिए दूसरे क्रम में विषय का उल्लेख करना चाहिए। विषय के साथ शास्त्र अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध् का ज्ञान आवश्यक है इसलिए तृतीयस्थान में सम्बन्ध का उल्लेख किया जाता है। प्रयोजन की स्थिति हमेशा अन्तिम होती है। इसलिए चौथे नम्बर में प्रयोजन का उल्लेख है। इस पाठ में अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन के विषय में विवेचन तथा प्रतिपादन किया जा रहा है।

3.4 अनुबन्ध चतुष्टय का सिद्धान्त एवं प्रकार

अनुबन्ध चतुष्टय–

अनुबध्यते अनेन इति अन्बुन्धः अर्थात् जिसके द्वारा ग्रन्थ शुरू से लेकर अंत तक बंधा रहता है ,उसे अनुबंध कहते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में अधिकारी, सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन का प्रतिपादन किया जाता है। अनुबन्ध चतुष्टय का क्या औचित्य है ? अनुबन्ध चतुष्टय का प्रतिपादन आवश्यक भी है या नहीं ? उक्त के विषय में अब हम विस्तार से जानेंगे। अध्ययन योग्य कार्य की अपरिहार्य आवश्यकताएँ चार हैं और सामूहिक रूप से अनुबन्ध चतुष्टय कहलाती हैं। वे हैं: – 1. अधिकारी, 2. विषय, 3. प्रयोजन, 4. सम्बन्ध

1. अधिकारी - अधिकारी यहां वह है जो मोक्ष के चार साधनों से संपन्न है। यानी, साधना चतुष्टय, अर्थात् विवेक, वैराग्य, शद-संपत और मुमुक्षुत्व, जिसने निष्काम कर्म योग द्वारा मान और उपासना द्वारा विक्षेप को दूर कर दिया है, जिसके पास चित्त शुद्धि और एक बिंदु है मन और जो युक्ति (कारण), समर्थ (क्षमता) और बुद्धि (तेज बुद्धि) से संपन्न है। अधिकारी दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् कृतोपासक और अकृतोपासक। जिसने पूर्ण सगुण उपासना की है और जो पूर्ण एकाग्र मन से संपन्न है, वह कृतोपासक है। वह शास्त्रों में वर्णित सभी साधनाओं से सुसज्जित होगा। जिसने सगुण ब्रह्म की अपूर्ण उपासना की है वह अकृतोपासक है। उसके मन की एकाग्रता केवल आंशिक होती है। वह केवल कुछ ही साधनाओं से सुसज्जित है। उनके पास विपरीत-भावना है, हालांकि वेदांतिक साहित्य के अध्ययन से उन्हें ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त है।

2. विषय - निपटाया जाने वाला विषय। वेदांत में यह ब्रह्म है।

3.प्रयोजना - इसका अध्ययन करने से प्राप्त होने वाला लाभ। यहीं मोक्ष है. यह दो प्रकार का होता है, परम-प्रयोजन और अवन्तर-प्रयोजन। परम-प्रयोजन मोक्ष है जिसका स्वरूप सभी प्रकार के दुखों (सर्व दुख निवृत्ति) का पूर्ण उन्मूलन और सर्वोच्च आनंद (परमानंद प्राप्ति) की प्राप्ति है। दुःख का पूर्ण निवारण ही अत्यन्त-निवृत्ति है। अनर्थ का अर्थ है दुष्ट। अविद्या और उसका प्रभाव, स्थूल और सूक्ष्म लोक और तीन शरीर, अर्थात् कारण, सूक्ष्म और स्थूल और अन्य धर्म या लक्षण, अर्थात्, जन्म और मृत्यु, दुख के कारण हैं। अतः वे अनर्थ हैं। अवन्तर-प्रयोजन परम-प्रयोजन की प्राप्ति का प्रत्यक्ष साधन (साक्षात साधना) है। यह द्रिधा-अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान (ब्रह्म का

स्थिर प्रत्यक्ष ज्ञान या जीव और ब्रह्म की पहचान का एहसास) है। परम-प्रयोजन या केले से प्राप्त होने वाला सर्वोच्च लाभ इसका फल है। फल प्राप्त होने से पहले बीच में जो प्राप्त होता है, वह केले का पत्ता है। यह अवतार-प्रयोजन है।

4. संबंध - समग्र रूप से कार्य और निपटाए गए विषय के बीच संबंध। यहाँ यह प्रदर्शनी है. चार महत्वपूर्ण संबंध हैं: प्रतिभाटक-प्रतिबंध्य भाव संबंध, जनक-जन्य भाव संबंध, कर्तृ-कर्तव्य भाव संबंध और प्रभाग-प्राप्य भाव संबंध।

प्रतिभाटक-प्रतिबंध्य भाव संबंध- कार्य और विषय के बीच का संबंध प्रतिभाटक-प्रतिभाध्य भाव संबंध है। कथन प्रतिभाकम् है। जो बताया गया है वह प्रतिभाध्यम् है। ग्रंथ प्रतिभटकम् है। जिस विषय का उपचार किया जाता है वह प्रतिभाध्यम् है।

जनक-जन्य भाव संबंध- ग्रंथ और ज्ञान के बीच का संबंध जनक-जनीय भाव संबंध है। जो उत्पन्न करता है वह जन्नियम है, ग्रंथ जनकम है क्योंकि यह विचार (पूछताछ) के माध्यम से ज्ञान उत्पन्न करता है, ज्ञान जन्नियम है, क्योंकि यह विचार के माध्यम से उत्पन्न होता है।

कर्तृ-कर्तव्य भाव संबंध- अधिकारी या योग्य व्यक्ति और विषय के बीच का संबंध कर्तृ-कर्तव्य भाव संबंध है। जो अभिनय करता है वह कर्तृ (अभिनेता) है। जो किया जाता है वह कर्तव्य है। वह अधिकारी जो विचार करता है वह कर्ता है। विचारै कर्त्तव्य।

प्रभाग-प्राप्य भाव संबंध- अधिकारी और फल के बीच का संबंध प्रभाग-प्राप्य भाव संबंध है। जो फल प्राप्त करता है वह प्रभाग है। जो प्राप्त होता है वह प्राप्य है।

3.4.1 वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय—

अनुबन्ध चतुष्टय क्या हैं...सुसंबद्ध तथा विचार करने योग्य तत्वों को अनुबन्ध कहते हैं। जब भी कोई ग्रन्थ लिखा या पढ़ा जाता है तो यह विचार उठता है किइस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है? इस ग्रन्थ द्वारा प्रतिपाद्य विषय क्या है? विषय और उस शास्त्र में संबन्ध क्या है? तथा उस शास्त्र का प्रयोजन क्या है।

कोश ग्रंथ वाचस्पत्यम् में अनुबंध चतुष्टय -

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।

शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।।

अर्थात् कोई भी व्यक्ति या पाठक उस ग्रन्थ को सुनने या पढ़ने में तब तक नहीं लगता जब तक उस ग्रन्थ के संबंध में स्थापित होने वाली विषयवस्तु और उद्देश्य का ज्ञान न हो जाये। इसी प्रकार, अनुबंधों का ज्ञान श्रोता और किसी अन्य को भी धर्मग्रंथों को सुनने और अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है। परिणामस्वरूप, वे धर्मग्रंथों के अध्ययन में शामिल हो जाते हैं।

कुमारिल भट्ट के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय -

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।

यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते॥

अर्थात्, सभी धर्मग्रंथों में या किसी भी कार्य में कोई भी तब तक शामिल नहीं होता जब तक कि उद्देश्य न बताया गया हो। अत: शास्त्रों में संबंध एवं उद्देश्य का उल्लेख करना आवश्यक है।अनुबन्धों के द्वारा ही पढ़ने वाला व्यक्ति शास्त्र / ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त होता है, तथा शास्त्र अपने ज्ञान से पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है।यदि शास्त्र केआरम्भ में ही अनुबन्धों का वर्णन नहीं होता है, तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की रुचि नहीं हो पाती है।

3.4.2 भक्तमाल के अनुसार अनुबंध चतुष्टय—

वेदांतसार में तो अनुबंध चतुष्टय पर विस्तार से हमने जाना। अब हम भक्तमाल में अनुबंध चतुष्टय को के स्चरूप को जानते है। इससे पहले हम भक्तमाल क्या है -जानते है। भक्त उन्हें कहते हैं जिनके हृदय में भगवान के चरण कमल के प्रति निष्काम प्रेम होता है। भगवान की बनाई हुई इस वाटिका में खिले हुए जो भक्त पुष्प हैं, उन्हें नाभा जी नाम के विद्वान संत ने संग्रहीत किया और उसे एक ग्रंथ का आकार प्रदान किया जिसे भक्तमाल कहते हैं। भक्तमाल माने ऐसी माला जिसमें भक्त चरित्रों को गुम्फित किया गया हो।

बार बार पद वन्दौ, श्री नाभा आभा ऐन। जिन काढ्यौ गाभा वेद को, भक्तमाल रस दैन।।

प्रत्येक ग्रंथ का अनुबंध चतुष्टय होता है इसका अधिकारी कौन है, इसका संबन्ध क्या है, इसका विषय क्या है, इसका प्रयोजन क्या है तो भक्तमाल में अनुबंध चतुष्टय के बारे में नाभादासजी कहते हैं -

अधिकारी- भ्रमर स्वभाव के रसिक जन ही अधिकारी हैं। किसी सरोवर में जब कमल खिलता है तो भौंरा एक योजन दूर से गुनगुनाता हुआ आता है और कमल की कर्णिका पर बैठ कर मकरंद पान करता हुआ सब कुछ भूल जाता है। उसी कमल की नाल के पास बैठा मेंढक टर्र टर्र करता हुआ कीड़े बीन बीन कर खाता है। मेंढक वृत्ति के लोग भक्तमाल के अधिकारी नहीं हैं, भ्रमर वृत्ति के लोग ही अधिकारी हैं।

भ्रमर के छः पैर होते हैं श्रद्धा, आस्तिकता, कृति आदरता (अर्थात् ग्रंथ के प्रति आदर भाव कि यह गपाष्टक नहीं, सिद्ध संत की वाणी है), उपकृति (ग्रंथ, ग्रंथकर्ता और वक्ता के प्रति यह भाव कि आपने बड़ा उपकार किया जो यह ग्रंथ सुनाया), भक्तों के चरणों में नमन और निर्मत्सरता (भक्त चरित्रों की प्रशंसा सुन मात्सर्य भाव न होना)। भौर के दो पंख होते हैं श्रद्धा और विश्वास। भक्तमाल का अधिकारी वही है जिसमें भौरे जैसी रसग्राह्यता हो।

चाहिए।

विषय- भक्तमाल का विषय है श्री हरि और हरिजन सेवा में रुचि।

संबन्ध- सदाचार ही संबन्ध है। भक्तों के जीवन का सदाचार श्रोता-वक्ता में अवतरित होना

प्रयोजन- भक्तमाल का प्रयोजन है भगवत्, भागवत प्रीति।

3.4.3 गीता के अनुसार अनुबंध चतुष्टय—

विषयश्चाधिकारी च ग्रंथस्य च प्रयोजनम् ।

संबंधश्च चतुर्थोऽस्तीत्यनुबंधचतुष्टयम् ।।

प्रत्येक ग्रंथ में चार बातें होती हैं- ग्रंथ का विषय, उसका प्रयोजन, उसका अधिकारी और प्रतिपाद्य – प्रतिपादक का संबंध। इन चारों को 'अनुबंध - चतुष्टय' नाम से कहा जाता है। गीता का अनुबंध – चतुष्टय इस प्रकार है-

1.अधिकारी- जो अपना कल्याण चाहते हैं, वे सब के सब गीता के अधिकारी हैं। मनुष्य चाहे किसी देश में रहने वाला हो, किसी वेश को धारण करने वाला हो, किसी संप्रदाय को मानने वाला हो, किसी वर्ण आश्रम का हो, किसी अवस्थावाला हो और किसी परिस्थिति में स्थित हो, वह गीता का अधिकारी है।

2.विषय- जिनसे जीव का कल्याण हो, वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सब विषय (साधन) गीता में आये हैं।

3. प्रयोजन- जिसको प्राप्त होने पर करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता, उसकी प्राप्ति कराना अर्थात् जीव का उद्धार करना गीता का प्रयोजन है।

4.संबंध- गीता के विषय और गीता में परस्पर 'प्रतिपाद्य' है और गीताग्रंथ स्वयं 'प्रतिपादक' है। जिसको समझाया जाता है, वह विषय 'प्रतिपाद्य' कहलाता है और जो समझाने वाला होता है, वह 'प्रतिपादक' कहलाता है। जीव का कल्याण कैसे हो- यह गीता का प्रतिपाद्य विषय है और कल्याण की युक्तियाँ बताने वाली होने से गीता स्वयं प्रतिपादक

वेदान्त सार में भी मङ्गलाचरण के बाद इन अनुबन्धों का उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैं— वेदान्त सार में चार अनुबन्ध का उल्लेख किया गया है। 1.अधिकारी, 2.विषय, 3.प्रयोजन 3.संबन्ध, ये चार अनुबन्ध चतुष्टय कहे जाते हैं। इनकी व्याख्या निम्नलिखित है—

1.अधिकारी— वेदांतसार में अधिकारी किसे माना गया है ? अधिकारी अर्थात् वेदान्त सार को पढ़ने के लिये योग्य कौन है ....ग्रन्थ को कौन पढ़ सकता है ?

अधिकारी तु विधिवतधीत वेदान्गत्वेनापाततोअधिगताखिल वेदार्थो अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्ध वर्जनपुरःसरंनित्यनैमित्तिक प्रयश्चित्तोपासनानुष्ठाननिर्गतनिखिल कल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधन चतुष्टयसंपन्नःप्रमाता।

अर्थात् अधिकारी वह होता है, जिसने इस जन्म में या पूर्व जन्म में वेद -वेदाङ्गों का विधि पूर्वक अध्ययन किया हो,तथा संपूर्ण वेदों का अर्थज्ञान प्राप्त किया हो, काम्य कर्म तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग कर दिया हो,जिसक मन नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मों को करने से सभी पापों से मुक्त हो कर नितान्त स्वच्छ हो गया हो,ऐसे चार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी (वेदांत पढ़ने का) है।इसके अतिरिक अधिकारी को किन कर्मों का त्याग करना है, और क्या करना है.. इसका वर्णन इस प्रकार है..ऊपर बताए गए कर्मों में काम्य कर्म क्या हैं...

क.काम्य कर्म का अर्थ— **काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि**

अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति आदि इच्छाओं से किये जाने वाले ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि काम्य कर्म हैं।

काम्य कर्म वे होते हैं, जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।

ज्योतिष्टोम यज्ञ भी स्वर्ग की कामना से किया जाने वाला यज्ञ है। अतः यह काम्य कर्म है।ये कर्म पुण्य देने वाले होते हुए भी जन्म मरण के हेतु हैं,अतः इनका त्याग करना चाहिए।

ख. निषिद्ध कर्म का अर्थ— **निषिद्धानि -नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राहमणहननादीनि**

अर्थात.. नरक जैसी अनिष्ट स्थान को प्राप्त करने वाले ब्राह्मण हत्या आदि कर्म, निषिद्ध कर्म हैं।मनुष्य अज्ञान तथा भ्रम वश कई अनिष्ट कर्मों को अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये करता है, जो निषिद्ध कर्म हैं,अर्थात जिन्हें करने को मन किया गया है। जैसे.. ब्रह्मणो न हन्तव्यः इस श्रुति द्वारा ब्राह्मण की हत्या को -किया गया है तथा इसी तरह से गो हत्या तथा सुरापान, असत्य भाषण भी धर्मशास्त्रों मे निषिद्ध हैं।

ग. नित्य कर्म का अर्थ— **नित्यानि – अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि ।**

अर्थात् जिन कर्मों के न करने से हानि होती है, वे नित्य कर्म कहे जाते हैं। जैसे .. संध्यावंदन आदि। कुछ कर्म हैं जिनके करने से कुछ विशेष पुण्य नहीं होता है पर न करने से पाप बढता है या हानि होती है। जैसे.. प्रतिदिन दन्त की सफाई करना तथा स्नान करने से कोई पुण्य नहीं होता है, परन्तु इन्हें न करने से शरीर में गन्दगी एकत्र हो जाती है तथा स्वास्थ्य प्रतिकूल होता है। उसी प्रकार प्रातःकाल पूजा करना तथा संध्या वन्दन आदि करना भी नित्यकर्म हैं।अनजाने में मनुष्य से जो पाप कर्म हो जाते हैं, उन्हें एकत्र न होने देना तथा,उनके निराकरण के लिये प्रातः, सायं वन्दन आदि कर्म करना चहिये। वेदान्त के अनुसार संध्यादि वन्दन न करने से कोई हानि नहीं है, पर करने से पाप का अवरोध होता है।

नित्य कर्मों को करने का परम उद्देश्य बुद्धि की शुद्धि है। सांसारिक बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना ही परम प्रयोजन है।

घ..नैमित्तिक कर्म का अर्थ— **नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जतेष्ट्यादीनि**

अर्थात् पुत्र उत्पत्ति आदि के अवसर पर शास्त्रों में निर्दिष्ट जातेष्टि यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। नैमित्तिक अर्थात किसी निमित्त (लक्ष्य) को प्राप्त करने के बाद किया जाने वाला कर्म नैमित्तिक मर्म कहे जाते हैं। ये कर्म शास्त्रों द्वारा बताये गये हैं। पुत्र के जन्म होने पर, शास्त्रों में अभिहित विधि के अनुसार,पिता द्वारा जो यज्ञ आदि के द्वारा जो जातकर्म संस्कार किया जाता है, उसे ही जातेष्टि कहा गया है।

ङ…प्रायश्चित कर्म का अर्थ— **प्रायश्चित्तानि-पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि**

अर्थात् पाप के निवारण के लिये किये जाने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म कहे जाते हैं।मनुष्य द्वारा शास्त्रों में बताये गये कर्मों को न करने से तथा निषिद्ध अर्थात मना किये गये कर्मों को करने से,जो पाप उत्पन्न होता है, उसके निवारण के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन्हे प्रायश्चित कर्म कहा जाता है।जैसे चान्द्रायण व्रत.. मनुस्मृति में चान्द्रायण के चार प्रकार बताये गये हैं। इस व्रत में चन्द्रमा के घटने और बढने के साथ आहार बढ़ाया या घटाया जाता है।

च.उपासना कर्म का अर्थ— **उपसनानि सगुणब्रह्म विषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि**

अर्थात् सगुण ब्रह्म में चित्त की वृत्तियों को स्थिर करने के लिये, जो कर्म किये जाते हैं, उसे उपासना कर्म कहते हैं। जैसे.. शाण्डिल्य विद्या आदि।

अनुबन्ध चतुष्टय साधन चतुष्टय..क्या है..साधन चतुष्टय के बारे में वेदांत में बताया गया है कि— **साधनानि -नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग शमादिषट्कसंपत्तिमुमुक्षित्वानि..** अर्थात् नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फल के भोग से विराग अर्थात अनासक्ति शमादि छः संपत्तियां तथा मोक्ष प्राप्ति की कामना, ये चार साधन हैं। इनमें प्रथम साधन दूसरे साधन को प्राप्त करने का साधन है, दूसरा तीसरे को, तथा तीसरा चतुर्थ को प्राप्त करने का साधन है वेदान्त पढ़ने का आधिकारी होने के लिये उपरोक्त चार साधनों से युक्त होना आवश्यक है।

1. नित्य अनित्य वस्तु विवेक— नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यंवस्तुतोऽन्यदखिलम् नित्यमिति विवेचनम्।। अर्थात् नित्यानित्य वस्तु विवेक मुमुक्ष के लिए प्रथम आवश्यकता है नित्य (Eternal) और अनित्य (Non-Eternal) पदार्थों के बीच विवेकपूर्ण भेद कर सकना। इसके अन्तर्गत जगत और ब्रह्म के बीच भेद, शरीर और आत्मा का भेद, आत्मा और परमात्मा की एकता, साधन और साध्य के बीच भेद आदि समावेश होता है।

केवल ब्रह्म ही नित्य है, उसके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण संसार अनित्य है, इस प्रकार का विवेचन नित्य-अनित्य वस्तु विवेक है। जो काल स्थान आदि से बंधा नहीं है वह नित्य है। जैसे ब्रह्म क्योंकि यह तीनों कालों से परे है यह श्रुति वाक्यों से प्रमाणित भी है...निजं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। अजो नित्यः शाश्वतः.....संसार की सभी वस्तुएं काल से बंधी हैं, अतः अनित्य हैं.. श्रुति वाक्य.. नेह नानास्ति किञ्चन।यो वै भूमा तदमृतं यदल्पं तन्मर्त्यं।

2. इहामुत्रार्थ फलभोगविराग— अर्थात् विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् तृष्णा का त्याग आवश्यक है। अनेक लौकिक और पारलौकिक भोग हैं, जिनकी आकांक्षा मात्र व्यक्ति को असंयमित कर देती है और लक्ष्य की ओर बढ़ना कठिन कर देती है। अतः द्वितीय साधन लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की कामना से पूर्ण विरक्ति हो जाना है। इस लोक से प्राप्त होने वाले सुन्दर पदार्थ कर्म से उत्पन्न होने के कारण अनित्य है। परलोक प्राप्त होने वाले अमृत आदि पदार्थ भी कर्म से प्राप्त होने के कारण अनित्य होंगे, इस प्रकार निश्चय करके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक वस्तुओं से विरक्त होना इहामुत्रार्थ फलभोगविराग है।

3. शमादि षट् संपत्ति— शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः (शम दम उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा) ये षट् संपत्तियां हैं। अर्थात् शम-दमादि साधन सम्पत् : इस साधन के अन्तर्गत छः प्रकार के संयम आते हैं। आकांक्षा का त्याग करने के पश्चात् इन्द्रिय, मन आदि उन शारीरिक अंगों पर अधिकार करने का प्रश्न उठता है जो मनुष्य को भोगों की और प्रवृत्त करते हैं। शम का अर्थ है-मन का संयम। दम का अर्थ है-इन्द्रियों पर नियन्त्रण तीसरा संयम है उपरति- जिसका तात्पर्य निहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग कर देना है। चौथा संयम है। तितिक्षा जिसका तात्पर्य शरीर को शीतोष्ण आदि कष्टों को सहन करने योग्य बनाना। पाँचवाँ संयम है-समाधान-जिसका अर्थ है शब्द आदि विषयों से निगृहीत मन को श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा अनेक उपकारक विषयों के चिन्तन में निरन्तर लगाए रखना। छठा संगम है-गुरुपदृष्टि जिसका अर्थ वेदान्त वाक्यों में विश्वास श्रद्धा है।

4. मुमुक्षुत्व: उपर्युक्त तीनों साधनों को प्राप्त करने के बाद साधक को लक्ष्य प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प करना चाहिए, क्योंकि बिना संकल्प के अव्यवसाय नहीं होता और अव्यवसाय के अभाव में लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो सकती। यह लक्ष्य है मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष पाने की इच्छा ।

वेदान्त शब्द का शाब्दिक अर्थ 'वेदों का अन्तिम भाग' है। वेद शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से निष्पन्न ज्ञान का पर्यायवाची है। 'मोक्ष' क्या है और इसकी प्राप्ति के कौन-कौन से साधन हैं? इसकी व्याख्या ही वेदान्त है। सभी भारतीय दर्शनों में ज्ञान की प्राप्ति का मूल मोक्ष को ही स्वीकारा गया है। अत: मोक्ष प्राप्ति का साधन ही ब्रह्मज्ञान है।

वेदान्त का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। वेदान्त के अनुसार मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है। इसने हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एकता और अनेकता का स्पष्ट ज्ञान कराकर हमें अपनी अनन्त शक्ति से परिचित कराया। शंकराचार्य ने विस्तार से इस मान्यता का खण्डन किया कि मोक्ष एक साध्य वस्तु है, जिसे कर्म द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि साध्य वस्तु वही हो सकती है जो पहले से न हो, जिसे उत्पन्न किया जा सके। मोक्ष तो स्वयं आत्मा का स्वरूप है, वह पहले से ही सिद्ध है, अतः कर्म द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं है। मोक्ष तो आत्म स्वरूप होने के कारण नित्य वस्तु है। अज्ञानरूपी अन्धकार से आवृत्ति होने के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। ज्ञान के प्रकाश से वह प्रकट हो जाता है और यहीं उसकी प्राप्ति होती है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान अनिवार्य है, कर्म नहीं कर्म तो स्वयं अज्ञानजन्य है और

पुनः पाप-पुण्य को उत्पन्न करने के कारण जन्म-मरण के बन्धन को उत्पन्न करता है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है।

शंकराचार्य ने ज्ञान के दो भेद बताए हैं- अपरा तथा परा। अपरा को हम लौकिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान मानते हैं और परा को आध्यात्मिक ज्ञान अपरा ज्ञान के अन्तर्गत इस जगत और मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित ज्ञान आता है। शंकराचार्य की दृष्टि में इस ज्ञान की केवल व्यवहारिक उपयोगिता है। इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर सकता। शंकराचार्य के अनुसार पर ज्ञान सच्चा ज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य अपने जीवन का अन्तिम उद्देश्य अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शंकर वेद, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् एवं गीता की तत्त्व मीमांसा को परा ज्ञान कहते हैं। अपरा और परा दोनों प्रकार के ज्ञान के लिए शंकर ने श्रवण, मनन, निदिध्यासन का समर्थन किया है। परा ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन के साथ साधन चतुष्टय को आवश्यक माना गया है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी वही है, जिसने पहले साधन चतुष्टय प्राप्त कर लिया है।

अनधिकारी मनुष्य—

किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने के पहले, इस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है ? इसका निर्णय करना आवश्यक माना गया है। शास्त्राध्यन का अधिकारी वो है , जो जगत की आसक्ति से उपरत (अर्थात् जो सांसारिकता में रत न हो; विरक्त; जिसका मन संसार और विषय-भोग से हट गया हो; रागरहित; उदासीन)हो गया है। जिसने जगत की वस्तुस्थिति का चिंतन किया है, और इसकी नश्वरता को समझकर इससे उपरत हो गया है , वो उपनिषद का अध्ययन करने का अधिकारी है। हाथ में भविष्य दिखाने वाले , मन्नत माँगने वाले इस ग्रन्थ को पढ़ने के अधिकारी नहीं है। पुत्रार्थी या धनार्थी अधिकारी नहीं हैं। जिम में स्वस्थ लोग जाते है। यह संसार भी व्यायाम शाला है, यहाँ स्वस्थ शरीर के व्यक्ति ही वेदांत,मीमांसा,उपनिषद आदि को समझ सकते हैं। यहाँ अधिक भीड़ नहीं होती, क्योंकि अधिकारी ही अधिक नहीं होते ।

अनधिकारी मनुष्य के बारे में नाभादासजी भक्तमाल में कहते है कि अनधिकारी व्यक्ति जब भक्त चरित्र सुनेगा तो उसे गुणों में भी दोष ही दिखाई देंगे, वह दोषों का ही अनुसंधान करेगा। यदि ऐसी प्रवृत्ति रहेगी तो परलोक की हानि होगी और जीवन में कभी सुख शांति मिलेगी नहीं। यह भाव दृढ़ रहना चाहिए कि भक्तों के विषय में जो कुछ कहा जा रहा है वह यथार्थ है, अतिरंजित करके नहीं कहा जा रहा। भगवान के भक्त के चरित्र में सब कुछ संभव है, कुछ भी असंभव नहीं है— **उत्कर्ष सुनत संतन को अचरज कोऊ जनि करो**

भारतीय शास्त्र के किसी भी ग्रंथ चाहे वो वैदिक हो या पौराणिक अध्ययन करने से पहले व उसको समझने के लिये अनुबन्ध चतुष्टय की महती (बहुत) आवश्यकता है । यहाँ तक तो बच्चों आपने बात समझ ली अब बात आती है कि शास्त्रों को न पढ़ने का अधिकार किसके पास नही है मतलब अनधिकारी कौन है तो – संसार में चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि उत्तम है । शास्त्रीय दृष्टि से संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं- **पामर, विषयी, मुमुक्षु और जीवन्मुक्त।**

1. पामर— इनमें लोकायतिक, चार्वाक् आदि आते हैं, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं । उनका कथन है कि शरीर के जन्म के साथ ही आत्मा का जन्म होता है। जैसे-जैसे शरीर बढ़ता है, आत्मा का विकास होता है। शरीर के शिथिल होने पर आत्मा शिथिल, इसके नाश होने पर

नाश- यह इनलोगों का कहना है। जबतक जियो सुख से जियो। स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, ईश्वर, वेद सब मिथ्या है। वेदों की रचना अज्ञानी निशाचरों ने की है– यह इनका मत है। इनका वेद, शास्त्र, परलोक तथा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं है। गीता के सोहलवें अध्याय में भगवान् इनके लिये ही कहते हैं :-

"आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।" (श्रीमद्भगवद्गीता १६/२०)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! वे लोग प्रत्येक जन्म में तमो-प्रधान आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं। मुझे प्राप्त न होकर इससे भी अधिक कूकर-सूकर योनियों में जन्मते हैं।

2. विषयी — यह आत्मा-परमात्मा को मानते हैं। परलोक, ईश्वर तथा वेद में विश्वास रखते हैं। परन्तु पांच विषयों में अत्यन्त आसक्त होने के कारण परलोक तथा शास्त्रों की बातें इनको अच्छी नहीं लगती। किसी के विशेष दबाव डालने पर नाममात्र के तामसी देवताओं की आराधना करते हैं। कभी-कभी तो दुष्प्रचार व अज्ञान के कारण ये लोग उनकी भी पूजा करने लगते हैं जो देवता हैं ही नहीं, सामान्य मनुष्य हैं। साईं बाबा को पूजने वाले, रामपाल के भक्त, जयगुरुदेव के भक्त, राधा स्वामी वाले, ब्रह्मकुमारी के भक्त आदि आस्तिक होने पर भी निश्चित् ही नरक को प्राप्त करते हैं तथा जबतक जीवित हैं तबतक कष्टप्रद व दिशाहीन आराधना करके दुःख भोगते हैं।

3. मुमुक्षु — इनको ईश्वर, वेद, धर्मशास्त्र, गुरु तथा पुनर्जन्म में विश्वास है। आरम्भ में सकाम कर्म उपासना करके लौकिक कामना पूर्ण होने पर इनका विश्वास दृढ़ हो जाता है। किन्तु बाद में सत्शास्त्रों के पठन-पाठन , सत्संग करने से विवेक सहित वैराग्य हो जाने पर अंतःकरण के तीन दोषों को दूर करने के लिये निष्काम भाव से उपासना करते हैं। तीन दोषों में मल अर्थात् जन्मान्तरों का पाप , विक्षेप अर्थात् चंचलता एवं आवरण अर्थात् पर्दा – ज्ञान को ढंकने वाला – इनसे छूटकर मुक्ति की इच्छा करता हैं।

4. जीवनमुक्त — जो कृतार्थ हो चुके हैं। जिन्होंने कर्मोपासना से अंतःकरण शुद्ध कर लिया है। अन्त में विवेक सहित उत्कट वैराग्य हो जाने पर स्त्री, पुत्र, परिवार, धन आदि छोड़कर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जा करके, विधिवत् संन्यास लेकर, जीवात्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव कराने वाले महावाक्यों का तथा प्रस्थानत्रयी का गुरु के द्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके अथवा हठयोग की धारणा-ध्यान-समाधि रूपी संयम अर्थात् अन्तरङ्ग साधनों द्वारा आत्मदर्शन करके जिन्होंने जीवनमुक्ति का आनन्द प्राप्त किया है — उनको जीवन्मुक्त कहते हैं।

इन चार प्रकार के मनुष्यों में से दो को वेदान्त के ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है। क्योंकि पापियों को ऐसे ग्रन्थों में श्रद्धा-विश्वास ही नहीं। विषयी पुरुषों को भोगों में ही आनन्द प्राप्त होता है। उनमें श्रद्धा-विश्वास का अभाव है। अतः दोनों का वेदान्त-शास्त्र में अधिकार नहीं। चौथे जीवन्मुक्त महात्मा जो देहाध्यास से परे हो चुके हैं। जिन्हे शीत-उष्ण, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि का भान नहीं है। जो ज्ञान की छठीं पदार्थाभाविनी या सातवीं तुर्यगा में पहुँचकर कृतार्थ हो चुकें हैं, उनको कोई कार्य करना शेष नहीं। ऐसे ब्रह्मकोटि या अवधूत कोटि के महात्मा अधिकारातीत हो जाने के कारण उनको भी ग्रन्थ के पठन-पाठन से कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि वेदान्त ग्रन्थों के तात्पर्य का जो महाफल हैं, वे उसे चख चुकें हैं। अतः तीसरी कोटि के जिज्ञासु या मुमुक्षुओं का ही इसमें अधिकार है। जिनका इष्टदेव के समान ही गुरुओं में श्रद्धा तथा विश्वास है तथा जो विवेक-वैराग्य सम्पन्न हैं, उनको वेदान्त-शास्त्र पढ़ने का अधिकार है।

2.विषय— यह अनुबन्ध चतुष्टय का दूसरा भाग है। "**जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्**" अर्थात् इस वेदान्तसार का विषय – जीव और ब्रह्म का एक होना तथा सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व आदि विरुद्ध धर्मों से विमुक्त, शुद्ध चैतन्य का ज्ञान है। यही वेदान्त वाक्यों का लक्ष्य है।

वेदान्त के अनुसार सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व ये माया द्वारा आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं। ये उपाधियों के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। इस भिन्नता को मिटा देने पर केवल चैतन्य अंश शेष रहता है। यही जीव और ब्रह्म का ऐक्य है तथा परमार्थिक है।अज्ञान की उपाधि नष्ट हो जाने पर जीवत्व नष्ट हो जाता है, और वह ब्रह्म ही हो जाता है..ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति।

3. प्रयोजन— प्रयोजनं तु तदैक्य प्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः, स्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकम् आत्मवित् " इत्यादि श्रुतेः " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " इत्यादि श्रुतेश्च। अर्थात् इस वेदान्तसार का प्रयोजन, जीव और ब्रह्म के ऐक्य के ज्ञान के मध्य आने वाले अज्ञान की निवृत्ति हो कर आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति है। वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण/ निवृत्ति तथा आत्मा के स्वरूपानान्द की प्राप्ति है।आत्मगत अज्ञान तथा तथा उस अज्ञान से उत्पन्न संपूर्ण विकार के समाप्त होने पर ही अखण्डानन्द ब्रह्म की प्राप्ति होती है। और इसे प्राप्त करना ही वेदान्त का प्रयोजन है।

4.संबन्ध— सम्बन्धस्तु-तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादिकोपनिशत् प्रमाणस्य च बोध्य – बोधकभावः अर्थात् उन दोनों अर्थात जीव और ब्रह्म का ऐक्य.. एक होना तथा उनके प्रतिपादक उपनिषत् वाक्यों का बोध्य बोधक भाव, संबन्ध है।

जीव और ब्रह्म का अभेद अर्थात जीव और ब्रह्म एक ही है, उनमें कोई भेद नहीं है, यही बात वेदान्त का विषय है, तथा इस भाव का प्रतिपादन करने वाले उपनिषत् वाक्यों का बोध्य बोधक भाव है यही संबन्ध है। वेदान्तसार का विषय है जीव और ब्रह्म का अभेद होना, तथा उपनिषद इस बात के प्रतिपादक और प्रमाण हैं।अतः उपनिषद और वेदान्त के विषय में बोध्य – बोधक भाव संबन्ध है। बोध्य अर्थात जानने योग्य, जिसका ज्ञान हो सके। बोधक..अर्थात ज्ञान कराने वाला शास्त्र है

3.5 सारांश

अनुबन्ध से तात्पर्य है अपने ज्ञान से अन्य को बांधकर शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उसे अनुबंध कहा जाता है, अधिकारी विषय संबंध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध है, इन्हें ही अनुबन्ध चतुष्टय कहा जाता है। वेदान्तसार में प्रमाता तु अधिकारी इस प्रकार अन्वय किया गया है। प्रमाता ही अधिकारी है। प्रमाता का अर्थ ज्ञान प्राप्त करने वाला पुरूष है।

वेदान्तसार का विषय है जीवब्रह्मैक्य। जीव तथा ब्रह्म की एकता से। अज्ञान का नाश करने वाले जीव तथा ब्रह्म के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये ही ऐसा विषय स्वीकार किया है। जीव तथा ब्रह्म की एकता का आशय यह नहीं है कि जीव तथा ब्रह्म दोनों का नील तथा घट की तरह अभेद है। क्योंकि नील तथा घट का अभेद होने पर भी वस्तुतः नील तथा घट का भेद तो सदा सर्वदा बरकरार रहता है। इसलिए यहाँ पर जीव तथा ब्रह्म की एकता का तात्पर्य जीव के अर्थ अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा ईश्वर के अर्थ सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य में से विरुद्धांश अल्पज्ञत्वादि तथा सर्वज्ञत्वादि का परित्याग करते हुए शुद्ध चैतन्य के प्रतिपादन से है।

वेदान्तशास्त्र तथा वेदान्तसार का प्रयोजन है अविद्या की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप की अवाप्ति। यद्यपि अविद्या की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप की अवाप्ति में कोई भी भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं। तथापि निवृत्ति के रूप में अविद्या निवृत्ति अभावात्मक होने के कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकती है, परन्तु स्वस्वरूपावाप्ति रूप होने के कारण यह परमपुरुषार्थ है क्योंकि यह स्वस्वरूप आनन्दस्वरूप है। अर्थात् जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है उसकी प्राप्ति ही उस कार्य का प्रयोजन कहलाता है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	:	अर्थ
अधिकारी	:	ज्ञान प्राप्त करने वाला पुरूष
विषय	:	जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो।
सम्बन्ध	:	दो वस्तुओं के बीच का बोध्यबोधक भाव।
प्रयोजन	:	किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कार्य में प्रवृत्त होना।

3.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता- गीताप्रेस, गोरखपुर
2. सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजिनी तथा हिन्दी व्याख्या के साथ, बदरीनाथ शुक्ल मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
3. वेदांत सार- सदानंद योगेन्द्र
4. सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार आपदेवकृत बालबोधिनी तथा बालव्युत्पत्तिवर्धिनी हिन्दी व्याख्या, सच्चिदानन्द मिश्र, दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

3.8 बोध प्रश्न

1. अनुबन्ध चतुष्टय के अर्थ एवं स्वरूप का वर्णन करें।
2. ज्ञान प्राप्ति में अधिकारी के गुणों के बारे में बताए।
3. अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन कैसे शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं, बताइए।

इकाई. 4 प्रमाणों का परिचय एवं सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 प्रमाणों का परिचय
4.3.1 प्रत्यक्ष प्रमाण
4.3.2 अनुमान
4.3.3 शब्द
4.3.4 उपमान
4.3.5 अर्थापत्ति
4.3.6 अनुपलब्धि
4.3.7 अन्य प्रमाण
4.4 प्रमाण सिद्धान्त का अर्थ एवं विकास
4.4 सारांश
4.5 पारिभाषिक शब्दावली
4.6 सन्दर्भग्रन्थ
4.7 बोधप्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रमाण सिद्धान्त भारतीय चिन्तन परम्परा में एक महत्त्वतपूर्ण विषय है। किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। यहां असधारण कारण का तात्पर्य एक ऐसे साधन के रूप में है, जिसकी सहायता से हम यर्थाथ ज्ञान को वैध रूप में प्राप्त करते हैं। प्रमाण सिद्धान्त का उद्गम निर्विवादरूप से वेद को स्वीरकार किया जा सकता है। जो कालान्तर में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ साथ विकसित हुआ है।

इस अध्याय में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वेद में उस प्रकार स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मीमांसा नहीं है जैसा कि दर्शनों में है। वैदिक धर्म एवं दर्शन की प्रतिक्रिया में चार्वाक ने बड़े तार्किक ढंग से शब्द एवं अनुमान प्रमाण का खण्डन किया जिस पर प्रकाश डाला गया है। चार्वाक के इस खण्ड का सभी दर्शनों में विरोध है लेकिन जैन दर्शन ने प्रबल तर्क देकर चार्वाकके अनुमान खण्ड का प्रतिकार किया। जैसे बौद्ध, वैशेषिक, काय, सांख्य मीमांसा और वेदान्त के अपने-अपने प्रमाण सिद्धान्त हैं जो काल क्रम में विकसित हुए। इस अध्याय में सभी दर्शनों के प्रमाण सिद्धान्तों का विवेचन है। दो दर्शनों किसी प्रमाण के विमर्श को लेकर जहां मतभेद है उस पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। विशेषकर उपमान के विषय में न्याय एवं मीमांसा का विरोध है। अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को लेकर भी न्याय से इनका मतभेद है। न्याय जहां इनका अन्तमवि अनुमान में करता है वहां मीमांसा और वेदान्त इन्हें स्वन्त्र प्रमाण मानते हैं और इसके पक्ष में उचित तर्क देते हैं। अनुमान के विषय में न्यायदर्शन में विस्तार से विचार हुआ है। थोड़े-बहुत अन्तर में से सभी दर्शनों ने वैसे ही विचार प्रस्तुत किये हैं।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- ❖ प्रमाण सिद्धान्त का वेदों में स्रोत जान सकेंगे।
- ❖ प्रमाण सिद्धान्त के वेदेतर स्रोतों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- ❖ प्रचलित विभिन्न प्रमाणों जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द इत्यादि प्रमाणों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- ❖ विभिन्न प्रमाणों की विशेषताओं से परिचय हो सकेंगे।
- ❖ प्रमाण सिद्धान्त के विकास का अध्ययन कर सकेंगे।
- ❖ विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रमाण सिद्धान्त, उनके तत्त्व सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

4.3 प्रमाणों का परिचय

प्रमाण मीमांसा सभी दर्शनों का एक प्रधान अंग है। प्रमाण शब्द व उपसर्ग पूर्वक या धातु में ल्युद् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है – प्रमा का असाधारण करण। प्रमाण शब्द सामान्यतया प्रमा के कारण के अर्थमें प्रयुत्य होता है किन्तु कहीं-2 प्रमा के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। अनधिगतार्थ गत्रृप्रमाणम् अथार्त नये विषय का ज्ञान कराने वाला ही प्रमाण है। यहाँ प्रमाण का प्रयोग प्रमा के लिए किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रमा और प्रमाण दोनों को प्राय: एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण शब्द को समझने के पहले प्रमा को समझना आवश्यक है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय दर्शन में प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। न्याय मत में किसी वस्तुके यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है। जो जिस प्रकार है उसका उसी प्रकार से अनुभव करना प्रमा है। सामने रस्सी हो और उसका रस्सी के रूप में अनुभूति हो तो यह अनुभूति प्रमा है किन्तु अन्धकार के कारण यदि उसकी प्रतीति सर्प के रूप में हो तो यह अप्रमा है। अद्वैत वेदान्त में अनधिगत और अवांछित विषय के ज्ञान को प्रमा माना गया है। अर्थात् ज्ञान नवीन हो और उसका बाद में खण्डन न हो। यदि अन्धकार के कारण रस्सी को सर्प के रूप में ज्ञान हुआ तो यह अवांछित नहीं है क्योंकि प्रकाश आने पर इसका खण्डन हो जायेगा, सर्प ज्ञान बाधित हो जायेगा।

प्रमा जिससे उत्पन्न हो उसे करण कहते हैं। प्रमा की उत्पत्ति में अनेक कारण हो सकते हैं। रूप के ज्ञान में निर्दोष चक्षु, पर्याप्त प्रकाश निकटता एवं मन का इन्द्रिय से सन्निकर्ष, इन्द्रिय का रूपवान वस्तु से सन्निकर्ष आवश्यक है। इन सभी कारणों से नित्त असाधारण कारण है। वस्तु हो, प्रकाश हो, ज्ञातासे निकटतामी हो किन्तु यदि निर्दोष नेत्र न होती रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमा के करण को साधकतम या अत्यन्त साधक माना गया है।

अत्यन्त साधक किसी कार्य का प्रकृष्ट उपकारक है। 'राम ने रावण को वाण से मारा'। यहां रावण को प्राण जाने में बहुत से कारण हैं – रावण द्वारा सीता हरण, राम का क्रोध, धनुष, वाण, प्रत्यज्ञा आदि किन्तु रावण की सद्य: मृत्यु वाण लगने से हुई। अत: वाण को ही असाधारण करण माना जायेगा।

प्रमा और करण को समझने के बाद प्रमाण के स्वरूप को समझा जा सकता है। न्याय मन्जरी में लिखा है – अर्थ विषयक असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी ज्ञान जिससे उत्पन्न हो वह प्रमाण है। यथार्थ ज्ञान (प्रमा) सविषयक होता है, ज्ञान हमें विषय का ही होता है। यह लक्षण ज्ञान को स्मृति से पृथक् करता है क्योंकि स्मृति निर्विषयक होती है। अव्यमिचारि शब्द भ्रम का निराकरण करता है क्योंकि भ्रमात्यक ज्ञान व्यभिचरित होता है, बदल जाता है, खण्डित हो जाता है। असंदिग्ध शब्द निश्चयात्मक ज्ञान को प्रकट करता है। इससे संशय का निराकरण होता है। इस प्रकार स्मृतिभिन्न, संशय, विपर्यय आदि दोष से रहित किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान जिससे प्राप्त है। वही प्रमाण है।

प्रमाणों की संख्या

प्रमाणों की संख्या को लेकर भारतीय दर्शनों में मतभेद है। भारतीय दर्शनों में प्राय: आठ प्रमाण स्वीकार किये गये हैं – (1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) शब्द, (4) उपमान, (5) अर्थापत्रि, (6) अभाव, (7) संभव और (8) ऐतिध्य। इसके अतिरिक्त चेष्टा एवं परिशेष प्रमाण भी कुछ लोगों ने स्वीकार किया है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। वैशेषिक और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं जैसी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक शब्द और उपमान सहित चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति पांचवां प्रमाण मानते हैं। कुमारिल भट्ट इसमें अनुपलब्धि जोड़ देते हैं। पौराणिक इनके अतिरिक्त ऐतिहस एवं संभव प्रमाण भी मानते है। तान्त्रिक इसमें चेष्टा प्रमाण भी मिला देते हैं। गणित में परिशेष नामक दसवाँ प्रमाण भी स्वीकार किया जाता है।

प्रत्येक प्रमाणों का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है –

4.3.1 प्रत्यक्ष प्रमाण : सामान्य परिचय

हमारे समक्ष से जो यह दृश्य जगत है इसी की व्याख्या करने के लिए सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान का विकास हुआ है इस जगत को जानने का सर्वाधिक सुगम साधन प्रत्यक्ष ही है अतः विश्व के किसी भी ज्ञान संबंधी विमर्श में प्रत्यक्ष प्रमाण की ऑरहेलना संभव नहीं हुई है यदि हम विश्व के अब तक के सभी प्रकार के ज्ञान संबंधी विमर्शों का अध्ययन करें तो हमें तीन प्रकार के प्रमाण सिद्धांत प्राप्त होते हैं पहला प्रत्यक्ष वादी प्रमाण शास्त्र जिसकी यह मानता है कि वही ज्ञान प्रमाणित है जो सिर्फ और सिर्फ प्रत्यक्ष पर आधारित है दूसरा है अतः प्रज्ञवादी प्रमाण शास्त्र इस मत को मानने वाले विचार को का यह मंतव्य है की यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में प्रत्यक्ष हमें विशेष सहायता नहीं करता इसके लिए हमें बुद्धि या प्रज्ञा का सहारा लेना पड़ता है और तीसरे प्रकार की विचारण समन्वादी प्रमाण शास्त्री कहा जाता है इन लोगों का यह कहना है की ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष है किंतु उसकी पूर्णता प्रज्ञा में होती है ज्ञान की किसी प्रकार से भी विवेचना की जाए कोई भी प्रत्यक्ष को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने से अपने आप को वंचित नहीं कर सकता यह बात अलग है की प्रत्यक्ष वादीयो ने प्रत्यक्ष का स्थान प्रमाणो में सर्वोपरि रखा।

गौतम ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए लिखा है – इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पयं ज्ञानम् अव्ययदेश्यम् अव्यमिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् अर्थात् इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष (अत्यन्त्र समीप्य) से उत्पन्न अव्ययदेश्य, अव्यमिचारी तथा व्यवसायात्मक (निश्चित) ज्ञान प्रत्यक्ष है। अव्यपदेश्य वह दशा है जिसमें वस्तु है मात्र इसका बोध हो, उसके गुण धर्मोंका बोध न हो। इसे निर्विकल्चक्र प्रत्यक्ष कहा जाता है। व्यभिचारी पद निर्भ्रात्र ज्ञान कर संकेत करता है तथा व्यवसायात्मक पद गुण विशिष्ट सविकल्पक निश्चित ज्ञानका द्योतक है। मन का इन्द्रिय और इन्द्रिय का वस्तु से संपर्क होने पर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे सामने घर होतो मन का नेत्र से और नेत्र का घर से सन्निकर्ष होने पर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

निश्चय ही प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान का सबसे अवैध साधन है क्योंकि मानव ज्ञान का सर्वाधिक सरल सुलभ और लोकप्रिय माध्यम प्रत्यक्ष ही है तथा हमारा वह ज्ञान भी जिसे हम प्रत्यक्ष से इतर ज्ञान की संज्ञा देते हैं अंत तो गत्वा प्रत्यक्ष की व्याख्या के बिना लोक समझ नहीं हो पता लोग समझी चाहे जितनी भी सताई और जितनी भी अवतार की क्यों ना हो लोकाव्या व्यवहार की दृष्टि से अपेक्षा नहीं किया जा सकता अतः कम से कम हम लोग का व्यवहार की दृष्टि से ही सही ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर सकते।

यह सत्य है कि प्रमाण में प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात ज्ञान प्राप्त करने की जिन साधनों को वह साधन माना गया है उनमें प्रत्यक्ष सर्वाधिक मान्य है किंतु यह भी सत्य है की प्रत्यक्ष में बिभ्रम और भ्रम बनी रहती है यदि हम यह बात स्वीकार करें या इस बात को मन कर चले कि प्रत्यक्ष सदैव हमें धोखा नहीं देता तब भी जीवन में आने वाली कठिनाइयों का अंत नहीं होता क्योंकि कुछ प्रत्यक्ष हमारे जीवन में ऐसे हैं जो मैं सही ज्ञान नहीं देते जैसे मृग मरीचिका ऐसे में हमें यह जानना बहुत आवश्यक हो जाता है की कौन सा प्रत्यक्ष विश्वसनीय है और कौन सा प्रत्यक्ष हमें धोखा देता है दूसरे शब्दों में कहें तो कौन सा प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है और कौन सा प्रत्यक्ष ज्ञान का वैध साधन नहीं है यह जब इस प्रश्न का उत्तर पूर्ण स्पष्ट से दे सकना संभव नहीं है फिर भी साधारणता दो स्थितियों में हम किसी भी प्रत्यक्ष को वैध कहते हैं पहले यदि प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता में हमें विश्वास हो और दूसरा परवर्ती प्रत्यक्ष के उदाहरण से इस विश्वास की संपुष्टि हो वस्तुत प्रत्यक्ष

की वैधता तथा किसी प्रत्यक्ष विशेष की सत्यता के प्रश्न दोनों अलग-अलग प्रश्न है प्रत्यक्ष विशेष की सत्यता का निर्धारण कथनों अथवा ज्ञान की सत्यता के निर्धारण के प्रश्न से जुड़ता है जबकि प्रमाण रूप में प्रत्यक्ष की वैधता का प्रश्न सर्वथा अलग प्रश्न है जिसका अभिप्राय यह जानना है कि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण का वैध साधन है इस प्रश्न का सरल उत्तर यह है की निश्चय ही प्रत्यक्ष प्रवाह का अवैध साधन है क्योंकि मानव जीवन का सर्वाधिक सरल सुलभ और लोकप्रिय माध्यम प्रत्यक्ष ही है तथा हमारा वह ज्ञान भी जिसे प्रत्यक्ष हीटर ज्ञान की संख्या दी जाती है अंत तो गत्वा प्रत्यक्ष की व्याख्या के बिना लोक सम्मत नहीं हो पाती लोक सम्मति चाहे वह जितनी भी सतहीऔर जितनी भी अतार्किक की क्यों ना हो लोक व्यवहार की दृष्टि से हम उसकी अपेक्षा नहीं कर सकते अतः कम से कम लोक व्यवहार की दृष्टि में ही सही प्रमाण रूप में प्रत्यक्ष की अवहेलना असंभव है।

4.3.2 अनुमान

प्रत्यक्ष (इंद्रिय सन्निकर्ष) द्वारा जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो रहा हो , उसका ज्ञान किसी ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, जो उस अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का संकेत दे, अनुमान कहलाता है। यह ध्यान देना आवश्यक है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान (इनफरेन्स) का अर्थ भारतीय तर्कशास्त्र में प्रयुक्त अर्थ से कुछ भिन्न और विस्तृत हैं। वहाँ पर किसी एक वाक्य अथवा एक से अधिक वाक्यों की सत्यता को मानकर उसके आधार पर क्या-क्या वाक्य सत्य हो सकते हैं, इसको निश्चित करने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है और विशेष परिस्थितियों के अनुभव के आधार पर सामान्य व्याप्तियों का निर्माण भी अनुमान ही है। संस्कृत शब्द अनुमान दो शब्दों, अनु अर्थात उत्तरवर्ती और मान अर्थात मापन से मिलकर बना है। इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द से तात्पर्य है किसी घटना का उत्तरवर्ती आकलन। स्पष्ट है कि इस प्रकार का ज्ञान अपरोक्ष/प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता: "क्योंकि यह भूतकाल में ज्ञान के अन्य साधनों जैसे कि प्रत्यक्ष, शब्द आदि से प्राप्त ज्ञान का उपयोग करता है" और व्यक्ति को "अग्रिम ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम बनाता है"। सभी भारतीय दार्शनिक अनुमान को ज्ञान का वैध साधन नहीं मानते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिकवादी चार्वाक केवल भौतिक पदार्थ को ही अन्तिम सत्य मानते हैं। फलतः वह अनुमान को ज्ञान के वैध साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं।

भारतीय दर्शन में अनुमान स्वयं के लिये (स्वार्थानुमान) तथा दूसरों के लिये (परार्थानुमान) हो सकता है। स्वार्थानुमान में चूंकि हम अपने स्वयं के लिये अव्यभिचारी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते है इसलिए कथन भलीभांति संरचित नहीं होते है। जबकि चूंकि परार्थानुमान में दूसरे को सत्य से अवगत कराना होता है इसलिए इस प्रकार के अनुमान को भलीभांति संरचित होना आवश्यक होता है। इस इकाई में हम न्याय दर्शन के अनुमान पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। वास्तव में, सभी भारतीय दर्शनों में न्याय दर्शन ही अपने अनुमान प्रमाण के विवेचन के लिये सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

किसी लिंग (हेतु या चिन्ह) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है। सुदूर धूम उठता देख वहाँ आग का ज्ञान करना अनुमान है। यहां धूंआ लिड़ग है और आग लिड़गी। हम जानते हैं कि जहां धूंआ रहता है वहां आग अवश्य रहती है। इसे व्याप्ति सम्बन्ध कहते हैं। इसी आधारपर हम धूंये को देखकर स्थान विशेष जो दृश्य नहीं है, वहां भी आग का ज्ञान कर लेते हैं। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में इसे स्वीकार किया जाता है।

अनुमान साधन है, अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श का इसलिए अधिक महत्त्व है कि यदि परामर्श ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भी शुद्ध होगी। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्त्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिससे किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ-साथ रहते हैं। हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति-यदि इन तीन को समझ लिया जाये तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। साध्य तो वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। साध्य का अनुमान हेतु और साध्य के सम्बन्ध, अर्थात्व्याप्ति, से होता है। यह सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक-भाव रूप है। व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय साहचर्य दर्शन से होता है। इस नियमित साहचर्य को ही व्याप्ति कहते हैं। इसप्रकार व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श में व्याप्ति हेतु में विशेषण बनती है और हेतु पक्ष में विशेषण बनता है।

4.3.3 शब्द

आप्त वचन को शब्द कहते हैं –आप्तोपदेश: शब्द:। आप्त पुरूष विश्वनीय होता है और उसके कहे वचन प्रमाण हैं। हमने झूलता पुल नहीं देखा है किन्तु झूलता पुल देखने वाले किसी विश्वस्त पुरूष के कहने पर कि ऋषिकेश में राम झूला झुलता पुल है तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। शब्द के अन्तर्गत वेद वाक्य भी हैं। पुनर्जन्म,कर्मफल, ईश्वर की सत्ता, स्वर्ग, तर्क आदि का ज्ञान हमे वेद से होता है। सांख्य, न्याय, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं किन्तु मीमांसा और वेदान्त मनुष्यों के वचनों को नहीं अपितु वेद वचनों को ही शब्द प्रमाण मानते है।

व्यापक अर्थ में शब्द एक ध्वनि है किन्तु संकुचित अर्थ में यह एक ध्वनि है, जो किसी अर्थ के चिन्ह के लिये प्रयुक्त होता है। इस आशय से यह Word भी कहा जाता है। इस इकाई में 'शब्द' का अर्थ है ज्ञान का स्रोत, ज्ञान का कारण। एक 'प्रमा' यथार्थ ज्ञान के रूप में शब्द प्रमा का तात्पर्य है वह ज्ञान जो 'शब्द प्रमाण' से प्राप्त होता है। यहां शब्द प्रमाण का तात्पर्य है– Words as a Source of Knowledge.

चार्वाक को बौद्ध तथा प्रारम्भिक वैशेषिकों को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक शब्द प्रमाण की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं।

अद्वैत वेदान्तीयों तथा अन्य दार्शनिक तो शब्द के परम प्रमाण के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं जिससे सामान्य रूप से शास्त्रों तथा विशेष रूप से वेद की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा हो सके। पश्चिमी दर्शन में 'शब्द प्रमाण' पर इस प्रकार विचार नहीं किया गया है क्योंकि वहाँ दर्शन प्राचीन सत्ता के विरोध में हुआ। सम्भवतः इसी कारण भारतीय दर्शन के शब्द प्रमाण की इतनी 'उपेक्षा' और उपहास हुई। किन्तु शब्द प्रमाण की स्थापना में प्राचीन भारतीय विचारकों ने अनेक ऐसे प्रश्नों पर विचार किया, जिसको किसी भी विद्यार्थी को अवश्य पढ़ना चाहिए। इस इकाई में उनपर चर्चा करेंगे।

डी.एम. दत्ता 5 विभिन्न स्तर स्वीकार करते हैं जिससे हमें शाब्दिक ज्ञान प्राप्त होता है। शब्द ज्ञान की प्रक्रिया– 1.' हमें शब्दों की अनुभूति होती है, 2. अनूभूति की अभिव्यक्ति तथा व्याख्या करते हैं। जब किसी ध्वनि के विचार के चिन्ह के रूप में प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् जब वे शब्द है तब इन दो के अतिरिक्त तीन और बातें होती है– 1. प्रत्येक शब्द का अर्थ ग्रहण होता है। 2. प्रत्येक शब्द के पृथक अर्थ होते हैं। इन अर्थों से एक रचनात्मक अवबोध बनता है। 3. इस वाक्य के अर्थ में विश्वास करना पड़ता है। इन पाँच चरण के बाद शब्द से अर्थ प्राप्त होता है।

'शब्द प्रमाण' को प्रमाण के रूप में दो प्रकार से स्वीकार किया गया है।

1. 'शब्द स्वतन्त्र प्रमाण है।' अर्थात् शब्द प्रमाण उन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का विशेष साधन है। जिसे अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। इस मत के समर्थक न्याय, मीमांसा, सांख्य तथा योग और वेदान्त दर्शन है।

शब्द प्रमाण रूप में स्वतन्त्र नहीं है इसका अर्न्तभाव दूसरे अन्य प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण हो जाता है। इस मत के पोषक चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन है।

4.3.4 उपमान

पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहां किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उसे उपमान कहते हैं। गाय के सदृश गवम (नील गाय) होती है। इस वाक्य के सुनने के बाद जब पुरूष गाय की समानता वाले पशु को देखकर गवम समझता है तब इन ज्ञान का अनुभव उपमान द्वारा हुआ माना जाता है। उपमान प्रमाण न्याय, वेदान्त एवं मीमांसा दर्शन में स्वीकृत है।

उपमान शब्द की निरूक्ति की जाती है– 'उपमीयते अनेनेति उपमानम्' अर्थात् जिसके द्वारा उपमिति उत्पन्न हो, उसे उपमान कहते है। यहां उपमीति का अर्थ है– उपमा या सादृश्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। उपमान में केवल उपमा कर देना ही जरूरी नही होता बल्कि उपमान प्रमाण में एक प्रसिद्ध वस्तु के द्वारा सादृश्य देकर विभिन्न दूसरी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान कराये जाने को उपमान कहते हैं। इस प्रकार से उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान में उपमान प्रमाण के रूप में एक असाधारण कारण के रूप में मान्य है। क्योंकि उपमान प्रमाण एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है। इससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह यथार्थ होता है क्योंकि इस प्रमाण में ज्ञात वस्तु के साथ सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उपमान प्रमाण को प्रमाण के रूप में विस्तृत विवेचन न्यायदर्शन में किया गया है।

महान नैयायिक एवं न्याय दर्शन के प्रतिपादक अक्षपाद गौतम ने 'न्याय–सूत्र' में लिखा है कि– ''प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'' (न्या0सू0 06) अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है। सम्भवतः गौतम उपमान विरोधियों के इस तर्क से परिचित थे कि 'साधर्म्य' की मात्रा निश्चित नहीं हो सकती, अतः उपमान प्रमाण नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नहीं अपितु उसकी प्रसिद्धि है। (अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानसिद्धि)।

गौतम ऋषि के कथन का विश्लेषण करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि ज्ञात वस्तु के सामय के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाला साधन उपमान है। उदाहरणार्थ ''जिस प्रकार की गौ होती है, उसी प्रकार का गवय होता है। इस कथन में गवय का ज्ञान कराने वाला जो साधन है, वह उपमान प्रमाण कहलायेगा। इस प्रकार उपमान के द्वारा नाम और नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है। केशव मिश्र ने तर्कभाषा में कहा है कि– ''अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन साधर्म्यादिः इति अतिदेशः।'' अर्थात् अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञात पिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान कहलाता है। अतिदेश वाक्य का अर्थ है– समानता आदि बताने वाला वाक्य। उदाहरण– गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है– इस प्रकार जो संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु/पिण्ड) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है। वह उपमिति अर्थात् उपमान का फल है।

उपमान की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं–

1. गोसदृश पशु विशेष का ज्ञान।
2. अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण। और
3. गोसादृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है।

इसमें से प्रथम दो उपमान और अन्तिम को उपमिति कहा जाता है। आप जानते है कि उपमान प्रमाण से जिस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमिति कहते हैं। उपमान

प्रमाण एवं स्वतन्त्र प्रमाण है। इसे सर्वाधिक जोरदार ढंग से न्यायदर्शन के आचार्यों ने कहा है न्यायदर्शन के आचार्यों को नैयायिक कहा जाता है। अब हम उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापना हेतु तर्कों की समीक्षा करेंगे।

4.3.5 अर्थापत्ति

सर्वप्रथम यह जानना अनिवार्य है कि– अर्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ क्या है? इस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है? अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती हैं। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार–**अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्** अर्थात् अर्थ की आपत्ति जिससे हो, वह अर्थापत्ति है। इसके अनुसार अर्थापत्ति एक प्रमाण है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार–**अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः** अर्थात् अर्थ की आपत्ति अर्थापत्ति है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थापत्ति को प्रमा माना जाय या प्रमाण माना जाय परन्तु इससे एक विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् अर्थापत्ति से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। विशिष्ट ज्ञान ही विशिष्ट प्रमा है। विशिष्ट ज्ञान को उदाहरण से समझा जा सकता है। ''पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते'' अर्थात् देवदत्त मोटा है परन्तु दिन में भोजन नहीं करता। अतः वह रात मे भोजन करता है। यदि देवदत्त दिन में निराहार रहता है, तो वह रात में आहार (भोजन) अवश्य ग्रहण करता है अन्यथा वह मोटा नहीं हो सकता। इस प्रकार मोटे देवदत्त की व्याख्या रात में भोजन के कारण ही सम्भव है। अर्थापत्ति प्रमाण को समझाने के लिये एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है–

अर्थापत्ति के दो भाग किये गये हैं– 1. उपपाद्य और 2. उपपादक। उपरोक्त उदाहरण में देवदत्त का मोटा होना उपपाद्य है तथा देवदत्त का रात में भोजना करना उपपादक है। अतः यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति उपपादक से उपपाद्य का ज्ञान है। इस उदाहरण के अन्तर्गत हमें देवदत्त के मोटा होने की व्याख्या करनी है। जिसके बारे में यह कहा गया है कि वह दिन में भोजन नहीं करता, इस व्याख्या के अन्तर्गत 'देवदत्त के मोटा होने में' हमें यह मानना पड़ेगा कि देवदत्त रात में भोजन करता है। अतः कहा जा सकता है कि– अर्थापत्ति में उपपाद्य और उपपादक दोनों अर्थों की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि जो मनुष्य (देवदत्त) दिन में उपवास रखता है और रात में भी भोजन न करें तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता है।

दूसरे शब्दों में ज्ञात अर्थ की व्याख्या के लिए अज्ञात अर्थ की कल्पना करना अर्थात् जिसकी सहायता के बिना उस ज्ञात अर्थ की उपपत्ति नहीं हो पाती उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक व्यक्ति का जीवन प्रमाणान्तर (ज्योतिषादि) से निश्चित है किन्तु घर में जब उसकी उपलब्धि या उपस्थिति नहीं होती है, तब उसके बाहर होने की कल्पना की जाती है। इसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। यहाँ उपपाद्य जीवन करण है और उपपादक बहिर्भाव फल है। जिसके बिना जो अनुपपन्न हो उसे उपपाद्य कहते हैं जैसे– जीवन तथा जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति हो उसे उपपादक कहते हैं जैसे– बहिर्भाव। जीवन और बहिर्भाव में प्रमाण–सिद्ध जो परस्पर विरोध है। वह अर्थापत्ति में करण होता है। किसी प्रमाण से ज्ञात हो कि देवदत्त घर में है या देवदत्त घर से बाहर है और किसी अन्य प्रमाण से यह भी ज्ञात हो कि– देवदत्त घर में नहीं है, ऐसी स्थिति में दोनों ही वाक्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस विशेष या प्रतिधातु का समाधान बहिर्भाव की कल्पना से किया जाता है। अतः दो प्रामाणिक अर्थों के बीच अर्थान्तर की कल्पना द्वारा समाहित होने वाला पारस्परिक विरोध अर्थापत्ति का कारण कहलाता है। उस विरोध (प्रतिघात) के समाधान हेतु जो अर्थान्तर कल्पना होती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं।

दृष्ट या श्रुत अर्थ की उत्पत्ति जिस अर्थ के अभाव में न हो सके, उस की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। इसमें किसी अर्थ की उत्पत्ति के लिए अर्थानार की कल्पना की जाती है। इससे दो तथ्यों के विरोधाभास दूर होते हैं। मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता। यहां मोटा होने और दिन में न खाने की असंगति को दूर करने के लिए देवदत्त के रात में खानेकी अर्थ-कल्पना (अर्थापत्रि) की जाती। मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

4.3.6 अनुपलब्धि

अनुपलब्धि का शाब्दिक अर्थ है– जो उपलब्ध न हो अर्थात् जिसकी उपलब्धि (ज्ञान) का अभाव हो उसे ही अनुपलब्धि कहते हैं। प्रमाण के रूप में– अनुपलब्धि का प्रमुख कार्य अभाव को ग्रहण करना है। प्रमुख मीमांसक आचार्य 'पार्थसारथी मिश्र' ने 'शास्त्रदीपिका' में उल्लिखित किया है कि– ''भट्टमीमांसा' में सर्वप्रथम अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण को स्वीकार किया गया जिससे अनुपलब्धि प्रमा का ज्ञान होता है। कालान्तर में अद्वैत वेदान्त में भी इसे स्वतंत्र प्रमाण माना गया। ज्ञातव्य है कि– मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में अनुपलब्धि के अतिरिक्त– प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति को भी ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया गया है।वेदान्तियों एवं यादृ मीमांसकों ने अनुपलब्धि नायक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया। अनुपलब्धि का अर्थ है – प्रत्यक्ष में उपलब्ध न होना। कमरे में घर उपलब्ध नहीं है, ऐसी स्थिति में घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

भाट्ट मीमांसकों और अद्वैत वेदांतियों का यह कथन है कि किसी स्थान विशेष पर कोई वस्तु विद्यमान न हो तो उस स्थान पर उस वस्तु का अभाव माना जायेगा और उस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक एक पृथक प्रमाण से होगा। जैसे– किसी स्थान पर घट नहीं है तो इस घटाभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। अतः अनुपलब्धि एक स्वतन्त्र प्रमाण है। इसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है– यदि किसी घट को मैंने देखा है, परन्तु इसी स्थान पर उपलब्धि के सभी साधनों के होते हुए भी इस समय घट नहीं दिखायी देता है, अर्थात् घट की उपलब्धि यथ समय, यथा स्थान पर नहीं होती है, तो हमें अन्ततः यह स्वीकार करना होगा कि इस स्थान पर घटभान है और इसका ज्ञान हमें अनुपलब्धि से हो रहा है।

नैयायिक और मीमांसक दोनों ने अभाव को 'पदार्थ' तो माना है किन्तु अनुपलब्धि को प्रमाण रूप में केवल मीमांसक ही मानते हैं अर्थात् मीमांसकों के अनुसार– 'अभाव' पदार्थ और प्रमाण दोनों है। आचार्य कुमारिल ने 'श्लोकवार्तिक' में कहा हैं कि–

''प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न ज्ञायते।
वस्तुसत्ताबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता।।''

अर्थात् अभाव के सन्दर्भ में अन्य पाँ प्रमाण चरितार्थ नहीं हो सकते। अतः उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। अनुमान आदि से जन्य अतीन्द्रिय अभाव (यथा–अहं पुण्याभाववान् सुखाभावत्वात् : जो इस व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर है कि 'यत्र–यत्र सुखाभावः तत्र–तत्र पुण्याभावः) में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए लक्षण में– ''ज्ञानकरणाजन्यत्व' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। अनुमान व्याप्ति ज्ञान जन्य होता है, जबकि अनुपलब्धि में ऐसा नहीं होता।

भारतीय दर्शन में अभाव के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है। भट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों के अनुसार अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। प्रभाकर मीमांसक और सांख्य की दृष्टि से सत्ता (भाव) और असत्ता (अभाव) ये एक ही वस्तु के दो रूप है। अभाव कोई पदार्थ नहीं है लेकिन उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है।नैयायिक अभाव को एक पदार्थ मानते हैं और नैयायिकों का मानना है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। वैशेषिक भी अभाव को एक पदार्थ मानते हैं, किन्तु अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। यहाँ पर वैशेषिक, नैयायिकों से भिन्ना मत रखते हैं। बौद्ध दार्शनिकों का मानना है कि अभाव कल्पना मात्र है तथा अभाव का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है। यहाँ बौद्धों का मत वैशेषिक दार्शनिकों से साम्य रखता है।

वेदान्त मतानुसार अनुपलब्धि अभाव का साक्षात ज्ञान है उदारणार्थ 'यहाँ वृक्ष नहीं है'। यहाँ वृक्ष के अभाव का ज्ञान एक साक्षात ज्ञान है, जबकि वेदान्त मतानुसार

यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। बहुधा अनुपलब्धि को 'अभाव का साक्षात ज्ञान' कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि अनुपलब्धि प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि हम देख आए हैं कि बहुधा ज्ञानमीमांसक, यथा नव्य–नैयायिक और कभी–कभी स्वयं वेदान्ती भी प्रत्यक्ष को 'साक्षात ज्ञान' के पदों में ही परिभाषित करने के प्रति सचेश्ट प्रतीत होते है।

वेदान्ती अनुपलब्धि को 'साक्षात ज्ञान' के रूप के स्वीकार करते हुए भी इसे 'प्रत्यक्ष ज्ञान' से भिन्न मानते हैं। वेदान्त मतानुसार घट के अभाव का ज्ञान घट के अदर्शन के कारण होता है। अतः घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। वेदान्त परिभाषा में अनुपलब्धि की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ज्ञानरूप कारण से उत्पन्न न होने वाला अभाव के अनुभव का जो असाधारण कारण हो वही अनुपलब्धि है।

प्रमा के स्वतन्त्र साधन के रूप में अनुपलब्धि

अनुपलब्धि विषयक तीन प्रकार के मत भारतीय ज्ञानमीमांसा में पाये जाते है। प्रथम श्रेणी के वे ज्ञानमीमांसक है जिनके अनुसार अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण है। इस कोटि में भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती आते है। द्वितीय श्रेणी में वे दार्शनिक हैं जो अभाव के ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकृत करते हैं। वे अनुपलब्धि को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकृत नहीं करते। इस मत के समर्थकों के रूप में मुख्यतः नैयायिक तथा प्रभाकार मीमांसको का उल्लेख किया जा सकता है। तृतीय श्रेणी में वे ज्ञानमीमासंक है जो अभाव का ज्ञान अनुमानजन्य मानते हैं तथा अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने से इंकार करते हैं। वैशेषिक तथा बौद्ध इस कोटि के प्रमुख ज्ञानमीमांसकों मे से हैं। अपने–अपने मतों के समर्थन में इस समस्त दार्शनिकों के अपने–अपने तर्क है।

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हैः नैयायिकों ने अनुपलब्धि को 'अनावश्यक' ही कहा है। उनके अनुसार अनुपलब्धि को मात्र 'अभाव' का प्रमाण माना जाता है। किन्तु मानते है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है।

4.3.7 अन्य प्रमाण

संभव – किसी पदार्थ का ज्ञात पदार्थ के अन्तर्गत होने से ज्ञान संभव द्वारा होता है। जैसे जो गज के नाप को जाता है वह गिरह को अवश्य जानता है। जो किताब को जानता है वह यह भी जानता है कि पढ़ाई सौ एवं पाँच सौ ग्राम भी संभव है। पौराणिक लोग संभव प्रमाण स्वीकार करते हैं।

ऐतिध्य – जिस प्रमाण से यह जाना जाता है कि इति अर्थात् ऐसा निश्चयपूर्वक हुआ है। इसमें समस्त इतिहास आता है। यह ज्ञान किसी अज्ञात व्यक्ति के वचनों के उपर परम्परागत चला आता है। हमारे सभी परम्परागत विश्वास ऐतिध्य के अन्तर्गत हैं।

चेष्टा – चेष्टा को तान्त्रिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण माना है। चेष्टा क्रिया विशेष को कहते हैं। यह क्रिया चेष्टा करने वाले व्यत्रिकी तथा जिसके प्रति चेष्टा की जाती है दूसरी हित साधिका होती है। व्यवहार में नेत्रों के भंगाभंग तथा हाथों के संकोच विकास की चेष्टा देखी जा सकती है। कामिनी के नेल संचालन से दर्शक उसके अनुराग को जान लेता है।

परिशेष –गणित शास्त्र में इस प्रमाण का प्रयोग होता है। इसमें अनेक पदार्थों से छटाई करते-करते वास्तविक ज्ञेय पदार्थ तक पहुंच जाते हैं।

4.4 प्रमाण सिद्धान्त का अर्थ एवं विकास

प्रमाण शब्द सामान्यतया प्रमा के अर्थमें प्रयुत्य होता है किन्तु कहीं-2 प्रमा के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। अनधिगतार्थ गत्रृप्रमाणम् अर्थात् नये विषय का ज्ञान कराने वाला ही प्रमाण है। यहाँ प्रमाण का प्रयोग प्रमा के लिए किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रमा और प्रमाण दोनों को प्राय: एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण शब्द को समझने के पहले प्रमा को

समझना आवश्यक है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय दर्शन में प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। न्याय मत में किसी वस्तुके यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है। जो जिस प्रकार है उसका उसी प्रकार से अनुभव करना प्रमा है। सामने रस्सी हो और उसका रस्सी के रूप में अनुभूति हो तो यह अनुभूति प्रमा है किन्तु अन्धकार के कारण यदि उसकी प्रतीति सर्प के रूप में हो तो यह अप्रमा है। अद्वैत वेदान्त में अनधिगत और अवांछित विषय के ज्ञान को प्रमा माना गया है। अर्थात् ज्ञान नवीन हो और उसका बाद में खण्डन न हो। यदि अन्धकार के कारण रस्सी को सर्प के रूप में ज्ञान हुआ तो यह अवांछित नहीं है क्योंकि प्रकाश आने पर इसका खण्डन हो जायेगा, सर्प ज्ञान बाधित हो जायेगा। अत: यह ज्ञान प्रमा नहीं है।

प्रमा जिससे उत्पन्न हो उसे करण कहते हैं। प्रमा की उत्पत्ति में अनेक कारण हो सकते हैं। रूप के ज्ञान में निर्दोष चक्षु, पर्याप्त प्रकाश निकटता एवं मन का इन्द्रिय से सन्निकर्ष, इन्द्रिय का रूपवान वस्तु से सन्निकर्ष आवश्यक है। इन सभी कारणों से नेत्र असाधारण कारण है। वस्तु हो, प्रकाश हो, ज्ञातासे निकटतामी हो किन्तु यदि निर्दोष नेत्र न होती रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमा के करण को साधकतम या अत्यन्त साधक माना गया है।

अत्यन्त साधक किसी कार्य का प्रकृष्ट उपकारक है। 'राम ने रावण को वाण से मारा'। यहां रावण को प्राण जाने में बहुत से कारण हैं – रावण द्वारा सीता हरण, राम का क्रोध, धनुष, वाण, प्रत्यज्ञा आदि किन्तु रावण की सद्य: मृत्यु वाण लगने से हुई। अत: वाण को ही असाधारण करण माना जायेगा।

प्रमा और करण को समझने के बाद प्रमाण के स्वरूप को समझा जा सकता है। न्याय मञ्जरी में लिखा है – अर्थ विषयक असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी ज्ञान जिससे उत्पन्न हो वह प्रमाण है। यथार्थ ज्ञान (प्रमा) सविषयक होता है, ज्ञान हमें विषय का ही होता है। यह लक्षण ज्ञान को स्मृति से पृथक् करता है क्योंकि स्मृति निर्विषयक होती है। अव्यमिचारि शब्द भ्रम का निराकरण करता है क्योंकि भ्रमात्यक ज्ञान व्यभिचरित होता है, बदल जाता है, खण्डित हो जाता है। असंदिग्ध शब्द निश्चयात्मक ज्ञान को प्रकट करता है। इससे संशय का निराकरण होता है। इस प्रकार स्मृतिभिन्न, संशय, विपर्यय आदि दोष से रहित किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान जिससे प्राप्त है। वही प्रमाण है।

4.4.1 वेदों में प्रमाण सिद्धान्त

प्रमाण मीमांसा में दो सबसे प्रमुख शब्द है– प्रमा और प्रत्यक्ष। प्रमा का जो अर्थ दर्शनों में स्वीकार किया जाता है उसी अर्थ में वेदों में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रत्यक्ष शब्द भी वेदों में उपलब्ध है। वेदों में दर्शनों की तरह प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत चर्चा नहीं है किन्तु उनके बीज एवं स्रोत इनमें विद्यमान हैं।

अथर्ववेद में प्रत्यक्ष शब्द अनेकश: आया है – यो वेतान्विद्यात प्रत्यक्ष ब्रहमावेदितं स्यात्, एकभ्भत्वा वेद प्रत्यक्ष मिन्द्रे सर्वं समहितम्, इन्द्र त्वा वेद प्रत्यक्ष स्कम्स सर्व प्रतिष्ठितम्। वेदों में प्रमा और प्रत्यक्ष शब्दों की विद्यमानता यह दर्शाती है कि वेद प्रमाण सिद्धान्त के उत्स हैं, उद्भव स्रोत हैं।

ऋग्वेद दसवें मण्डल का इकहत्तरवां सूक्त ज्ञान विषयक है। इसके देवता ज्ञान हैं और ऋषि वृहस्पति। इस सूक्त में ज्ञान प्रति की बाधा का निवारण तथा प्रत्यक्ष का मनोवैज्ञानिक एवं

दार्शनिक पक्ष प्राप्त होता है। इस सूक्त में ज्ञान प्राप्त करते समय किन-किन सावधानियों की आवश्यकता होती है इसका वर्णन है। यहां मन्त्र में अभिव्यज्जना करते हुए कहा गया है कि दिव्य अगिड़रस वृहस्वति अज्ञान अर्थात् ज्ञान के व्यवधान कारक पहाड़ी को तोड़ डालते हैं। जब ज्ञान के व्यवधान कारक नष्ट हो जाते हैं तो सत् ज्ञान का उदय होता है। तभी वह ज्ञान वाणी द्वारा कहने योग्य होता है और वह सप्त स्वर अर्थात् छन्दों द्वारा व्यक्त होता है।

ज्ञानसूक्त के सातवें यन्त्र में कहा गया है कि आंख और कान से सम्पन्न मित्र (देवता) मन के भावों को विशिष्टता से व्यक्त करते हैं। यहां प्रत्यक्ष प्रमाण का अवगति प्राप्त होती है। ऋग्वेद का मन्त्र कहता है – मन के सन्तुलित व्यापारों के पश्चात् ही ज्ञाता अर्थात् प्रमाता सत्रू की भांति छानकर (सत्रू को सूप से शुद्ध करते हैं) अन्तर्मन से परिरक्षित कर ज्ञान को वाणी का विषय बनाता है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा के सन्तुलित व्यापार या प्रयास को उत्तम यज्ञ माना गया है।

ऋग्वेद नासदीय सूत्त में सृष्टि पूर्व की स्थिति का अनुमान किया गया है। उस प्रलय काल में न असत् था और न सत् न पृथ्वी थी न आकाश। उस समय कहां क्या आच्छादित था? किसके भाष्य से था? गंभीर जल भी कहां था?

उस समय न मृत्यु थी न अमरता। पर प्रश्न है (फिर क्या था ? फिर ऋषि ने अनुमान किया) वह एक अपनी स्वर्धा प्रकृति के साथ बिना प्राण वायु के प्राणन कर रहा था।

अथर्ववेद में अनुमृश्य एवं अनुमेय पदों का प्रयोग मिलता है। छान्दोयिपनिषद् में **वाकोवाक्य विद्या** (तर्क विद्या) का उल्लेख मिलता है जिसका प्रमाणों से गहरा सम्बन्ध है। ऐतो ब्राहमण में युक्ति पद उपलब्ध होता है। **अनुभीयन्ते अनुमीमते, अनुविना भाविनी** आदि शब्द उपनिषदों में व्याख्या सहित उपलब्ध हैं। यजुर्वेद एवं ब्राहम ग्रन्थों के साथ ही वृहदारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद में अनुवीक्षण शब्द प्राप्त होता है। यह अनुमान का संकेत करता है। उपनिषदों के संवाद यम-नचिकेता, प्रजापति इन्द्र विरोचन, याज्ञवल्क्य, शब्द प्रमाण को प्रमाणित करते हैं। नचिकेता, इन्द्र और विरोचन को क्रमश यम, इन्द्र एवं याज्ञवल्क्य के वचन प्रमाण हैं। छान्दोग्योपनिषद् में नारद सन्त् कुमार से आत्म तत्व की शिक्षा लेते हैं। नारद को सनत्कुमार के शब्दों पर पूर्ण विश्वास है।

4.4.2 वेदेतर दर्शन में प्रमाण के सिद्धान्त

उपनिषदों के बाद शताब्दियों तक अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद आदि अनेक अवैदिक मतों का जन्म हुआ। ये लोक में स्थापित भी हुए इन्हें सामान्यत: लोकायत मत कहा जाता है। इनके प्रतिनिधि विचार चार्वाक दर्शन में विद्यमान हैं। इनमें प्रमाण मीमांसा बड़े ही तार्किक ढंग से की गयी है।

चार्वाकों के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। विषय एवं इन्द्रिय के संपर्क से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादि विषयों का ज्ञान हमें क्रमश: आंख जिहवा, नाक, त्वचा एवं कान के द्वारा होता है। चार्वाक अनुमान एवं शब्द प्रमाण का जोरदार खण्डन करते हैं। अनुमान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अनुमान संभावना है निश्चित ज्ञान नहीं। चार्वाक कहता है व्याप्ति की स्थापना प्रत्यक्ष से संभव नहीं है। समस्त घूम युक्त स्थानों को प्रत्यक्ष रूप में अग्नि युक्त देखना संभव नहीं है। व्याप्ति तभी संभव है जब कोई यह दावा करे कि उसने समस्त धूम युक्त वस्तुओं को देखा है और वहां आग पाया है। किन्तु ऐसा असंभव है।

प्रत्यक्ष इतना व्यापक नहीं हो सकता। वर्तमान कालिक समस्त धूमयुक्त स्थान पर अग्नि को देखना असंभव है और सूतकालिक और भविष्यत् कालिक विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से संभव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान तक सीमित है।

बौद्ध-तर्कशास्त्र

उद्योतकर (न्यावातिकम्):-

शैवमतस्थ पाशुपताचार्य था। वह संस्कृत का पण्डित, जैन और बौद्ध शास्त्र पारंगत और गौतमीय न्याय का विशेषज्ञ था। वह लिखित शास्त्रार्थ के क्षेत्र में उतरा उसने ग्रन्थ-न्याय वार्तिक का श्रीगणेश जिस अभिमान पूर्ण प्रतिज्ञा से की वह द्रष्टव्य है-

"मुनियों में प्रवर अक्षपाद ने जगत् कल्याण के लिए जिस शास्त्र का उपदेश किया, उसे (दिङ्नाग आदि बौद्ध) कुतार्कि ने कलुषित किया। उन कुतार्किकों के आज्ञान की निवृत्ति के लिए मैंने यह प्रबन्ध रचा है।

धर्मकीर्ति:- उसने तर्कशास्त्र के क्षेत्र में तीसरा प्रमुख वार्तिक लिखा धर्मकीर्ति का ग्रन्थ-प्रमाण वार्तिक सूक्ष्म तर्कों से भरा पड़ा है।

नागार्जुन- बुद्ध के निर्माण के बाद नागार्जुन एक प्रसिद्ध दार्शनिक के रूप में उबरते हैं इनके प्रमुख ग्रंथ हैं माध्यमिक कार्य का प्रमाण विध्वंशन उपाय कौशल विग्रह व्यवर्तनी कार्य का नागार्जुन ने अपने ग्रंथ विग्रह व्यवर्तनी में न्यायशास्त्र के प्रणेता गौतम के सिद्धांतों को खंडित करते हैं अपनी पुस्तक प्रमाण विध्वंशन में नागार्जुन ने न्याय दर्शन में प्रतिपादित 16 पदार्थ का खंडन किया है उपाय कौशल ग्रंथ में 16 पदार्थ के अंतिम पदार्थ निग्रह स्थान पर विशेष विचार किया है।

बस बंधु इनका जन्म गंधार में लगभग 410 या 490 ई के आसपास हुआ था यह गुप्त काल के प्रमुख राजा कुमार गुप्त स्कंद गुप्त पूर्व गुप्त के आसपास विद्यमान थे इन्होंने वाद विधि वाद मार्ग वाद कौशल नामक ग्रंथ लिखे इन्हीं के शिष्य आचार्य दीङ्गनाथ थे जिनका बहुत तर्क शास्त्र में बड़ा योगदान है।

दीङ्गनाथ- लगभग 480 ई के आसपास डींगनाग नामक बौद्ध दार्शनिक का जन्म कांची आज के कांजीवरम के पास सिंह वक्र में हुआ था इन्होंने प्रमाण समूचे न्याय प्रवेश हेतु चक्र डमरू प्रमाण समूचे वृद्धि आलंबन परीक्षा जैसे शास्त्रीय की रचना की।

शांत रक्षित- लगभग 705 ई के आसपास इनका जन्म बंगाल में हुआ था यह कुछ समय तक नालंदा विश्वविद्यालय में अध्यापन किए थे तथा तिब्बत में भी रहे उनके प्रमुख ग्रंथ है- वादन्यायवृति विपनचितार्थ तत्वसंग्रह।

जैन प्रमाण सिद्धान्त

जैन धर्म के लोग अपने धर्म प्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं। महावीर स्वामी इस धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हैं। जैन धर्म का स्वधरूप बहुत कुछ इन्हीं के देन है। ऋषमदेव प्रथम तथा पार्श्वनाथ तेइसवें तीर्थंकर हैं। महावीर स्वाकमी महात्माक बुद्ध के समकालीन और उम्र में उनसे बड़े थे।

जैनन्यायशास्त्र का विकास भी जैन दर्शन की स्थापना के लिए हुआ है जैन आगमों में जैन धर्म का वर्णन है किंतु ईशा की पहली दूसरी शताब्दी में कुंदकुंद नामक जैन आचार्य ने अपने प्रबल तर्कों के द्वारा जैन सिद्धांतों को निरूपित किया है उनकी पुस्तक प्रवचन सार है कुंदकुंद के

बाद उनके शिष्य उमा स्वामी नेतत्वार्थ सूत्र नामक ग्रंथ संस्कृत में लिखिए। इस सूत्र में उन्होंने परमाणु की चर्चा की है और इस ग्रंथ के बाद जैन तर्कशास्त्रीयो का मार्ग और प्रशांत हो गया।

जिस समय भारत में बौद्ध तर्कशास्त्र के जनक डिगनाजी अपने तार्किक सिद्धांतों के द्वारा वैदिक तथा जैनमत का खंडन कर रहे थे इस काल में जैन न्याय के क्षेत्र में अनेक विद्वानों का उदय .हुआ उनमें स्वामी समर्थ भद्रप्रमुख है इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था इन्होंने तत्वार्थ सूत्र परतटवर्ता अधिगमसूत्र नामक टिका लिखी। इनके बाद सिद्ध सिंह दिवाकर नामक **आचार्य अकलंक-**

अकलंक दक्षिण भारतीय दिगंबर संप्रदाय के सुप्रसिद्ध नायक थे इन्होंने जैन परंपरा के सभी तत्वों का निरूपण तार्किक शैली से संस्कृत भाषा में इस प्रकार से किया जिस प्रकार से वैदिक और बौद्ध परंपराओं में पहले ही हो चुका था अकलंक ने बौद्ध और वैदिक ग का गहन अध्ययन कर जैन मंतव्य की पुनः स्थापना की अकलंक की प्रमुख ग्रंथ इस प्रकार से हैं सिद्धि विषय न्यायाधीश से प्रमाण संग्रह अष्टसती इत्यादि।

यशु विजययशु विजयश्वेतांबर संप्रदाय के आचार्य थे इनका जन्म 19वीं शताब्दी में हुआ था इन्होंने नव विनय का अध्ययन करके एक नवीन पद्धति के द्वारा जैन न्याय को प्रस्तुत किया इनके द्वारा रचित जैन तक भाषा नामक ग्रंथ बहुत ही लोकप्रिय है।

मल्लवादी सूरी (संवत् 375 विक्रम):-

जब वैदिक और बौद्ध तर्कवाण चल रहे थे तब जैन विद्वान सोए नहीं पड़े थे। पश्चिम भारत में वल्लभी भी राजधानी विद्या का ख्यात केन्द्र थी। यहां बौद्ध, जैन और वैदिक सभी धर्मों के विद्यागुरू रहते थे। मल्लवादी सूरि का वल्लभी से पर्याप्त सम्बन्ध रहा। ये महात्मा न्यायशास्त्र के प्रवीण पण्डित थे। इन्होंने द्वादशार-नयचक्र नामक ग्रन्थ लिखा।

न्याय शास्त्र की उपयोगिता

आप जानते हैं कि भारतीय दर्शन कृषियों के द्वारा तत्व साक्षात्कार से प्राप्त हुआ किंतु ऋषियों ने अपनी अनुभूतियों को तर्क के सहारे जनमानस तक पहुंचा है इसलिए भारत में न्याय शास्त्र अर्थात जिसे हम आज तर्कशास्त्र के रूप में समझते हैं विकसित हुआ जब वैदिक ज्ञान परंपरा पर अवैदी के दार्शनिकों द्वारा सांसद उत्पन्न किया गया या आयुर्वेदिक परंपरा की ज्ञान प्रणाली में वैदिक विद्वानों द्वारा संशय और प्रश्न खड़ा किया गया तो दोनों ही प्रणालियों में एक सुगठित न्याय प्रणाली और उसे प्रणाली को प्रस्तुत करने हेतु न्याय संबंधी ग्रन्थ का निर्माण हुआ इसीलिए न्याय शास्त्र को अन्य शास्त्रों को दीपक भी कहा गया है क्योंकि यह अन्य शास्त्रों में निहित रहस्य का पता लगाने के लिए सर्वाधिक समर्थ है किसी भी ज्ञान की स्थापना में पाठकों के लिए यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह उसे किस प्रकार सत्य माने या उसका बिना परीक्षण किया वह कैसे ग्रहण कर सकते हैं मानवी बुद्धि की यह एक मौलिक विशेषता है और यह उचित भी है कि वह सत्य को ही स्वीकार करती है तारक हमें ऐसी विवेचना जो सीधी-सीधे सत्य नहीं प्रतीत होते तो उनके सत्यांश को खोजने का कार्य तार करता है।

जो लोग श्रद्धा या विश्वास के आधार पर चलते हैं उनके लिए तारक भले ही अधिक उपयोगी ना हो पर जीवन व जगत के अधिकतर क्रियाकलापों का आधार हमें विवेक से प्राप्त होता है और इस विवेक का सबसे बड़ा विश्लेषण के न्याय शास्त्र है।

इस प्रकार भारत में न्याय का आधार संशय है जहां कहीं भी जो विषय निःसंदिग्ध हैं या अस्तित्व में ही नहीं है वहां तो न्याय शास्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती किंतु जहां कहीं किसी

वस्तु बात या समस्या का अस्तित्व हो और हम उसका निर्णय न कर पा रहे हैं वहां पर हमें न्याय शास्त्र की सहायता अपेक्षित हो जाती है भारतीय परंपरा के ऐतिहासिक क्रम में जब-जब मनुष्यों के समक्ष अवधारणात्मक या सवितागत समस्या उत्पन्न हुआ तब तक न्याय शास्त्र का सहारा लिया गया है यही कारण है कि भारत में चाहे वैदिक हो या आर्वैदिक हो या भौतिकवादी हो साभियों ने अपने सिद्धांत और विचारधारा की रक्षा के लिए न्याय शास्त्र का आश्रय लिया है और दूसरे शब्दों में कहें तो भारत को जानने का एक रास्ता भारतीय न्याय शास्त्र के विकास से होकर जाता है अतः न्याय शास्त्र न केवल शास्त्री दृष्टी से अपितु व्यवहारिक जीवन यापन के लिए भी अत्यधिक उपयोगी है और न्याय शास्त्र के विकास भारत प्राचीन काल से आज तक करता रहा है

4.5 सारांश

किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव कब हुआ इस विषय में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि वेदान्त की ज्ञान परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रमाण सिद्धान्त अनादि है। वेदान्त यह मानता है कि चैतन्य ही ज्ञान है और चैतन्य अनादि है तो ज्ञान का कारण प्रमाण भी अनादि होना चाहिए। साहित्यिक दृष्टि से निर्विवाद रूप से वेद प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों में यद्यपि प्रमाण मीमांसा विधिवत् नहीं प्राप्त होती है लेकिन प्रमा एवं प्रमाण विषय पर चर्चा में यत्त-यत्त है। अत: वेद को प्रमाण सिद्धान्त का उत्स माना जा सकता है। वेद वेदान्त के बाद एक वर्ग वैदिक क्रिया कलाप और प्रमाण का खण्डन करने लगा जिसके प्रति निधि दार्शनिक चार्वाक हैं। चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण माना और कुशल तार्किक की तरह अनुमान और शब्द प्रमाण (वेद) का खण्डन किया। महाभारत और गीता में चार्वाकों पर प्रतिक्रिया मिलती है। जैन दर्शन चार्वाक के अनुमान खण्डन का जोड़ दार खण्डन किया।

भारतीय प्रमाण मीमांसा अपने विकास यात्रा में विभिन्न पड़ावों से गुजरी। जहां चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया वहीं वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन के अनुमान को भी प्रमाण माना। जैनियों ने शब्द प्रमाण को भी स्वीकार कर तीर्थंकारों के वचनों की प्रमाणिकता स्थापित की। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण को अनेक दर्शन प्रजालियों में स्वीकार किया गया। वैयायिरों ने उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण माना तो प्रमाकर मीमांसक अर्थापत्ति को तथा कुमारिल भट्ट एवं वेदान्ती अनुपलब्धि को प्रमाण मानते हैं।

सभी दर्शनों में विभिन्न प्रमाणों के परिभाषाओं में थोड़ा बहुत अन्तर है। जहां अन्य दर्शन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं वहीं जैन दर्शन आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है और इन्द्रियार्थ जन्य ज्ञान को परोक्ष कहता है। अनुमान मानने वाले सभी दर्शन सम्प्रदायों में एक समसत्ता है कि सभी लिगड़ से लिगड़ी के ज्ञान को अनुमान मानते हैं। उपमान प्रमाण में न्याय की दृष्टि से मीमांसा और वेदान्त का दृष्टिकोण मिल है। अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को नयाय अनुमान में समाहित करता है किन्तु मीमांसा और वेदान्त कुशल तर्क से उसे स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध करते हैं। इस विषय में मीमांसा एवं वेदान्त मत में समानता है। प्रमाण सिद्धान्त की विकास यात्रा इसके आगे पौराणिकों के संभव एवं ऐम्ध्यि तक जाती है। तान्त्रिक इस माला को चेष्टा प्रमाण तक पहुँचाते हैं। उन्नीसवीं सदी तकविभिन्न दर्शन सम्प्रदाय प्रमाण विवेचन पूर्वक इसके विकास में अपना योगदान देते रहे हैं।

इस प्रकार प्रमाण मीमांसा वेद से प्रारम्भ होकर आस्तित्व और नात्कि सभी दर्शनों का एक मुख्य विषय रहा है। इसका उद्भव वेद से है और चरम विकास मीमांसा और वेदान्त में है। न्याय का यह प्रधान विषय रहा है। उन्नीसवीं सदी तक न्याय और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के मानक ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं और सबमें प्रमाण एक विषय है किन्तु एक छोटे से अध्याय में सबका समावेश का पाना असंभव है।

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमा - यथार्थ एवं नवीन अनुभव
प्रमा - प्रमाण का असाधारण कारण
व्याप्ति - दो पदार्थों का अविनाभव नियत साहचर्य
प्रत्यक्ष - इन्द्रिय एवं पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान
शब्द - आप्त वचन
अनुमान - हेतु से साध्य का ज्ञान जिसका आधार व्याप्ति है।
अर्थापत्ति - वह कल्पना जिसके बिना दृष्ट या श्रुत असंगति को दूर न किया जा सके।
अनुपलब्धि - अभाव के ज्ञान का साधन।

4.7 सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. तर्कभाषा, केशव मिश्र, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2017
2. द न्यायसूत्र ऑफ गौतम विथ द भाष्य ऑफ वात्सायन एण्ड द वार्तिक ऑफ उद्योतकर वैल्यूम: 1-4, महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2020,
3.अन्नंभट्ट द्वारा रचित तर्क संग्रह, डॉ नरेन्द्र कुमार शर्मा, हंस प्रकाशन, जयपुर, 2017
4.वेदान्त परिभाषा
5.ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य
6. मीमांसा दर्शन तर्कपाद
7. भारतीय दर्शन, भाग-1 तथा भाग-2, डॉ. राधाकृष्णनन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2016।
8. न्यायदर्शन, अम्बिकादत्त शर्मा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, 2015।
9. जैन न्याय में प्रमाण, डॉ, वशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्राकृत, जैनशास्त्र, और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, 2011।

4.8 बोध प्रश्न

1. भारत में ज्ञान प्राप्त करने के कितने साधन है ? इसका विस्तार से विवेचना कीजिए।
2. प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों में श्रेष्ट हैं, इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. अनुमान प्रमाण के स्वरूप एवं सीमा पर प्रकाश डालिए।
4. मानव जीवन में उपमान और शब्द प्रमाण के महत्व पर प्रकाश डालिए।
5. प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि और अर्थापत्ति की विवेचना कीजिए।
6. वेदों में प्रमाण सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
7. वेदेतर प्रमाण सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

इकाई. 5 अद्वैतवाद-द्वैतवाद-एकतत्त्ववाद-ख्यातिवाद के सिद्धान्त

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 वेदान्त का अर्थ एवं परिचय
    5.3.1 वेदान्त का अर्थ एवं परिचय
    5.3.2 वेदान्त दर्शन का स्वरूप
5.4 अद्वैतवाद
5.5 द्वैतवाद
5.6 एकतत्त्ववाद
5.7 ख्यातिवाद
5.8 सारांश
5.9 पारिभाषिक शब्दावली
5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.12 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों!

प्रस्तुत इकाई **'अद्वैतवाद, द्वैतवाद, एकत्ववाद, ख्यातिवाद के सिद्धान्त'** से सम्बन्धित है। भारतीय दर्शन विश्व की प्राचीनतम और अत्यंत समृद्ध दार्शनिक परम्पराओं में से एक है। प्राचीन भारतीय दर्शन भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य धरोहर है और इसके अध्ययन से हम गौरवान्वित होते हैं। भारतीय दर्शन का चरमोत्कर्ष वेदान्त में मिलता है। इस दर्शन को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। वेदान्त शब्द का अर्थ ही है 'वेद का अन्त' (वेद+अन्त)। वेदों के अन्तिम भाग में कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व दिया गया है। वेदान्त से उपनिषद् का भी बोध होता है। वेदान्त दर्शन का आधार उपनिषद् कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' को कहा जाता है। वेदान्त दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य बादरायण को वेदान्त दर्शन का पितामह कहा जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' पर आचार्य शंकर, रामानुजाचार्य, भास्कराचार्य, निम्बकाचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने टीकाएँ लिखी हैं। वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए जिसमें चार सम्प्रदाय मुख्य हैं- अद्वैतवाद- प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं, विशिष्टाद्वैतवाद- प्रवर्तक रामानुजाचार्य हैं, द्वैतवाद - प्रवर्तक मध्वाचार्य हैं, द्वैताद्वैत- प्रवर्तक निम्बकाचार्य हैं।

आचार्य शंकर के मतानुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं। वे वस्तुतः अद्वैत हैं। यही कारण है कि शंकर के दर्शन को अद्वैतवाद कहा जाता है। रामानुजाचार्य के अनुसार एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति विशेषण रूप में है। उन्होंने विभिन्न रूप में अद्वैत का समर्थन किया है। इसी कारण इनके मत को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। मध्वाचार्य जीव तथा ब्रह्म को दो मानते हैं। इसलिये इनके मत को द्वैतवाद कहा जाता है। निम्बार्काचार्य के मतानुसार जीव और ब्रह्म की दृष्टि से दो हैं तो किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। अतः इनके मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है। आपको भारतीय दर्शनशास्त्र के अद्वैतवाद, द्वैतवाद, एकत्ववाद और ख्यातिवाद के सिद्धान्त इत्यादि से अवगत करवाना प्रस्तुत इकाई का ध्येय है।

5.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- ❖ वेदान्त का अर्थ एवं परिचय से अवगत होंगे।
- ❖ वेदान्त दर्शन का स्वरूप को जानेंगे।
- ❖ अद्वैतवाद, द्वैतवाद, एकत्त्ववाद और ख्यातिवाद सिद्धान्त से अवगत होंगे।
- ❖ भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होगी।

5.3 वेदान्त का अर्थ एवं परिचय

5.3.1 वेदान्त का अर्थ एवं परिचय-

भारतीय दर्शन का चरमोत्कर्ष वेदान्त में मिलता है। इस दर्शन को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। वेदान्त शब्द का अर्थ ही है 'वेद का अन्त' (वेद+अन्त)। वेदों के अन्तिम भाग में कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व दिया गया है। वेदान्त से उपनिषद् का भी बोध होता है। वेदान्त दर्शन का आधार उपनिषद् कहा जाता है। बाद में चलकर जितने भी दर्शन विकसित हुए

सभी को वेदान्त की संज्ञा से विभूषित किया गया। वेदान्त दर्शन को इसी अर्थ में वेदान्त कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण के **'ब्रह्मसूत्र'** को कहा जाता है। वेदान्त दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य बादरायण को वेदान्त दर्शन का पितामह कहा जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' पर आचार्य शंकर, रामानुजाचार्य, भास्कराचार्य, निम्बकाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने टीकाएँ लिखी हैं। वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए जिसमें चार सम्प्रदाय मुख्य हैं-

१. **अद्वैतवाद -** प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं।
२. **विशिष्टाद्वैतवाद -** प्रवर्तक रामानुजाचार्य हैं।
३. **द्वैतवाद -** प्रवर्तक मध्वाचार्य हैं।
४. **द्वैताद्वैत -** प्रवर्तक निम्बकाचार्य हैं।

जीव और ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है? यह वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रश्न है। इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। यही करण है कि उत्तरों की विभिन्नता के चलते वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ है।

आचार्य शंकर के मतानुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं। वे वस्तुतः अद्वैत हैं। यही कारण है कि शंकर के दर्शन को अद्वैतवाद कहा जाता है। रामानुजाचार्य के अनुसार एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति विशेषण रूप में है। उन्होंने विभिन्न रूप में अद्वैत का समर्थन किया है। इसी कारण इनके मत को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। मध्वाचार्य जीव तथा ब्रह्म को दो मानते हैं। इसलिये इनके मत को द्वैतवाद कहा जाता है। निम्बार्काचार्य के मतानुसार जीव और ब्रह्म की दृष्टि से दो हैं तो किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। अतः इनके मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है।

वर्तमान समय में वेदान्त सूत्रों पर विभिन्न मतों का प्रतिपादन करने वाले ग्यारह भाष्य हैं। इनके सूत्रों की संख्या में भेद हैं। इनके नाम और काल का विवरण इस प्रकार है-

१. शांकरभाष्य (७८८-८२०), २. भास्करभाष्य (नवीं शताब्दी), ३. रामानुजभाष्य (बारहवीं शताब्दी), ४. निम्बार्क भाष्य (तेरहवीं शताब्दी), ५. माध्व भाष्य (तेरहवीं शताब्दी), ६. श्रीकण्ठ भाष्य (तेरहवीं शताब्दी), ७. श्रीकरभाष्य (चौदहवीं शताब्दी), ८. वल्लभ भाष्य (१४७९-१५४४), ९. विज्ञानभिक्षु भाष्य (सोलहवीं शताब्दी), १०. बलदेव भाष्य (अठारहवीं शताब्दी) एवं ११. शक्ति भाष्य (बीसवीं शताब्दी)।

5.3.2 वेदान्त दर्शन का स्वरूप-

वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त यह है- **'तत् त्वम् असि'** अर्थात वह तुम हो। यह जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) की एकता का सूचक है। नित्य, असीम तथा अपरिवर्तनशील ब्रह्म अविभाज्य है, और जीवात्मा उसका एक भाग या उसमें से निकली कोई वस्तु नही है, अपितु वह ब्रह्म से अभिन्न ही है। अज्ञान के परिणाम स्वरूप माया के रूप में विभिन्न दृश्य वस्तुएँ और घटनायें उत्पन्न होती हैं। इस अज्ञान को केवल उपनिषदों से, जो वेदों का सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक भाग है, सच्चा ज्ञान प्राप्त करके ही हटाया जा सकता है। वेदान्त में ज्ञान के दो भिन्न-भिन्न रूप बताए गये हैं- परा विद्या और अपरा विद्या। **'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।** (मुण्डकोपनिषद् १/१/४) इनमें से पहले का सम्बन्ध परम तथा व्यक्तित्व रहित से है, जो रूप तथा गुणों से रहित है और दूसरे का सम्बन्ध उस

वैयक्तिक ब्रह्म से है, जो ईश्वर अर्थात इस संसार का स्रष्टा है। इनमे से निम्नतर रूप उच्चतर रूप का एक मायामय रूप मात्र है, जो अज्ञान से उत्पन्न होता है।

वेदान्त दर्शन विवर्तवाद के सिद्धान्त को मानता है। यह संसार ब्रह्म से रचा गया है और उसी में लीन होता है। ब्रह्म की सत्ता सत्य है और शेष जगत् का प्रपंच मिथ्या है। मानव भ्रम से सब को सत्य मान बैठता है जैसे अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को भ्रम से व्यक्ति सर्प समझ लेता है। इस भ्रम से पूर्ण मानसिक आरोप को शंकराचार्य ने अध्यासवाद कहा है।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। ब्रह्म को जब हम विचार से जानने का प्रयास करते हैं तब वह ईश्वर हो जाता है। ईश्वर सगुण ब्रह्म है। ईश्वर सर्वज्ञ है। वह सर्वव्यापक है। वह स्वतंत्र है। वह एक है । वह अंर्तयामी है। ईश्वर जगत का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहार कर्ता है। शंकर के दर्शन में ईश्वर को **"मायोपहित ब्रह्म"** कहा जाता है। शंकर के अनुसार सगुण ब्रह्म की सत्ता केवल व्यवहारिक दृष्टि से है। पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है। शंकर के अनुसार सगुण और निर्गुण ब्रह्म दो अलग-अलग नहीं हैं। अपितु एक ही है, निर्गुण ब्रह्म। शंकराचार्य ने आत्मज्ञान को पर्याप्त महत्व दिया है। वे आत्मा को 'ब्रह्म' कहते हैं। आत्मा ही एकमात्र सत्य है। आत्मा की सत्यता पारमार्थिक है। शेष सभी वस्तुएँ व्यवहारिक सत्यता का ही दावा कर सकती है। आत्मा स्वयं सिद्ध है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है, तब वह जीव हो जाता है। शंकर ने आत्मा को मुक्त माना है, लेकिन जीव इसके विपरीत बन्धन ग्रस्त है। एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में दिखाई देती है। जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश, महाकाश इत्यादि दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस् की उपाधियों के कारण अनेक दिखाई देती है। जीव आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है। उसके तीन शरीर हैं। वे हैं- स्थूल शरीर, लिङ्ग शरीर और कारण शरीर। जीव शरीर और प्राण का आधार है।

शंकराचार्य ने जगत की एक विस्तृत सत्ता मानी है। वे जगत को इस प्रकार से पारिभाषित करते हैं- **"जगतोनामरूप क्रिया कारकाफलजातस्य।"** अर्थात समस्त नाम रूप, क्रिया कारक और उनके फल जगत के अन्तर्गत आते हैं। जगत केवल व्यवहारिक सत्ता है। आचार्य शंकर ने सत्ता तीन प्रकार की बताई है-

१. **पारमार्थिकसत्ता-** जो एकमात्र नित्य ब्रह्म की है।
२. **व्यवहारिक सत्ता-** जो जगत की है।
३. **प्रातिभाषिक सत्ता-** जो स्वपन, भ्रम आदि की है।

शंकराचार्य ने माया और अविद्या का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तदात्म्य है उसी प्रकार माया और अविद्या अभिन्न हैं। शंकर ने माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। माया ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति है, जिसके द्वारा ईश्वर जगत का निर्माण करता है। माया की दो शक्तियों के द्वारा (आवरण शक्ति और विक्षेपण शक्ति) जगत का निर्माण होता है। माया ईश्वर की रहस्यमयी एवं अनादि शक्ति है।

5.4 अद्वैतवाद

वेदान्त के जितने सम्प्रदाय हैं, उनमें सबसे प्रधान आचार्य शंकर का अद्वैत दर्शन माना जाता है। शंकराचार्य जी भारत वर्ष के संतों, दार्शनिकों और धार्मिक आचार्यों में प्रथम श्रेणी की

विभूति हुए हैं। इनका जन्म का समय ७८८-८२० ई० माना जाता है। इनका देहान्त ३२ वर्ष की अल्पावस्था में ही हुआ। परन्तु इतने कम समय में उन्होंने दर्शन की जो सेवा की, उसका उदाहरण भारत ही नहीं अपितु विश्व के दर्शन में नहीं मिल पाता है। आठ वर्ष की अवस्था में वे सम्पूर्ण वेद का अध्ययन समाप्त कर चुके थे। इन्होंने प्रधान उपनिषदों और गीता के ऊपर भी ब्रह्मसूत्र के अतरिक्त भाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त भी उनके कुछ और दार्शनिक साहित्य दिखाई पड़ते हैं। अद्वैत वेदान्त के सर्वप्रथम समर्थक में गौड़पाद का नाम आता है, जो शंकराचार्य के गुरु गोविन्द के गुरु थे। परन्तु अद्वैत वेदान्त का पूर्णतः शिलान्यास शंकराचार्य के द्वारा ही हो पाता है।

भारतीय षड्दर्शनों में अद्वैत दर्शन का विशिष्ट स्थान है। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद में ब्रह्म ही सत्य है ब्रह्म के अतरिक्त सभी पदार्थ असत हैं- **"ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"** जगत् माया है, जीव ब्रह्म से अभिन्न है और मोक्ष में जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। शंकर ने जगत को रस्सी में दिखाई देने वाले साँप के सामान माना है। यद्यपि जगत मिथ्या है फिर भी जगत का कुछ न कुछ आधार है। जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाला साँप का आधार रस्सी है उसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म है। अतः ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है। जिस प्रकार साँप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण दाल देता है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है और उसके रूप का विक्षेप जगत् यथार्थ प्रतीत होने लगता है। शंकराचार्य के मतानुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। जिस प्रकार साँप रस्सी का विवर्त है उसी प्रकार विश्व भी ब्रह्म का विवर्त है। देखने में ऐसा मालूम होता है कि विश्व ब्रह्म का रूपान्तरित रूप है परन्तु यह केवल प्रतीतिमात्र है। ब्रह्म सत्य है। विश्व असत्य है।

ब्रह्म और ईश्वर- व्यवाहरिक दृष्टि से जो ईश्वर हैं वही पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म हैं। जैसे व्यवहारिक दृष्टि से जो जीव है वही पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा या ब्रह्म है। परन्तु उपनिषदों में दो ब्रह्म का निरूपण किया गया है, परब्रह्म और अपरब्रह्म। इनको क्रमशः निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म भी कहा जाता है। शंकराचार्य का कथन है कि परमार्थ ईश्वर असंसारी है। किन्तु उपाधिवश संसारी है। किन्तु ईश्वर सृष्टि कर्ता है और जीव सृष्टि कर्ता नही है। शंकर ने परब्रह्म को ही सृष्टि का मूल माना है।

आत्मा और ब्रह्म- आचार्य शंकर का मत विशुद्ध अद्वैत है। उनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय से सद्, ज्ञाता, ज्ञेय का भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद, ये सब माया की सृष्टि है। शंकराचार्य का मत है कि वस्तुतः तत्व एक ही है । उपनिषदों में जीव और ब्रह्म की जो एकता अनेक बार दिखाई गयी है, उसका वह पूर्णतः समर्थन करते हैं। इसका ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में कुछ अन्तर नहीं होता। **'तत्त्वमसि'** जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है। आत्मा व परमात्मा एक हैं।

आत्मा का स्वरूप- शंकराचार्य आत्मा को 'ब्रह्म' कहते हैं। आत्मा ही एकमात्र सत्य है। आत्मा की सत्यता पारमार्थिक है। शेष सभी वस्तुएँ व्यवहारिक सत्यता का ही दावा कर सकती है। आत्मा स्वयं सिद्ध है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है, तब वह जीव हो जाता है। शंकर ने आत्मा को मुक्त माना है, लेकिन जीव इसके विपरीत बन्धन ग्रस्त है। एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में दिखाई देती है। जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश, महाकाश इत्यादि दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस् की उपाधियों के कारण अनेक दीख पड़ती है। जीव आत्मा का वह रूप है जो

देह से युक्त है। उसके तीन शरीर हैं। वे हैं- स्थूल शरीर, लिङ्ग शरीर और कारण शरीर। जीव शरीर और प्राण का आधार है।

मोक्ष- अद्वैतवाद के अनुसार सत् एक और अद्वितीय है। वह आत्मा या ब्रह्म है। आत्मा ही ब्रह्म है किन्तु हमे ऐसा अनुभव नही होता। इसका कारण अविद्या है। अविद्या से हम अपने को बन्धन में समझते हैं और दुखी होते हैं। कारण के नाश से कार्य का नाश होता है, इसी प्रकार ब्रह्म को घेरे हुए अज्ञान का नाश होने पर अन्त में एकमात्र ब्रह्म रह जाता है। यही साक्षात्कार है। इस स्थिति को मोक्ष कहा जाता है। शंकराचार्य आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध और स्वभाव वाला मानते हैं। अतः उनके मत से पर्याप्त साधन होने पर जीवन के अन्दर ही मुक्ति मिल सकती है।

अविद्या और माया- शंकराचार्य ने माया और अविद्या का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तदात्म्य है उसी प्रकार माया और अविद्या अभिन्न हैं। शंकर ने माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। माया ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति है, जिसके द्वारा ईश्वर जगत का निर्माण करता है। माया की दो शक्तियों के द्वारा (आवरण शक्ति और विक्षेपण शक्ति) जगत का निर्माण होता है। माया ईश्वर की रहस्यमयी एवं अनादि शक्ति है।

सृष्टि का कारण- आवरण और विक्षेपण इन दोनों शक्तियों से आत्मा में क्रिया होती है और इसी क्रिया के द्वारा जगत की सृष्टि होती है। सृष्टि क्रमश: होती है। प्रथम सूक्ष्म, फिर स्थूल तथा स्थूलतर एवं स्थूलतम इसी क्रम से सृष्टि होती है। यह क्रमिक विकास समस्त ब्रह्माण्ड में होता है।

अद्वैत दर्शन की विशेषताएँ-

१. आचार्य शंकर ने 'विवेक चूडामणि' में कहा है- **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"** अर्थात ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्य है, और जीव ब्रह्म है, दूसरा नहीं।" तात्पर्य यह है कि अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म ही 'अद्वैत तत्व' है।

२. शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन द्वारा 'अभेद' की प्रतिष्ठापना की है। उनके अनुसार भेद मायाकृत है।

३. अद्वैतवाद के अनुसार माया ब्रह्म का आच्छादन है। मोक्षावस्था में माया नही रहती केवल अद्वितीय ब्रह्म ही रहता है।

४. शंकराचार्य ने वेदान्त में जीव और परमात्मा या ब्रह्म का स्वरूप बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जीवन काल में ही जीव की मुक्ति हो जाती है।

५. शंकराचार्य के अद्वैत में 'ब्रह्म' चेतन और आनन्दस्वरूप है। इनके अनुसार 'सचिदानन्द ब्रह्म' की अनुभूति अपने शरीर में ही की जा सकती है।

६. शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है।

७. अद्वैतवाद के अनुसार अनेकत्व केवल आभास मात्र है किन्तु एकत्व एकमात्र सत्य या पारमार्थिक है।

5.5 द्वैतवाद

द्वैतवाद के प्रवर्तक श्री माध्वाचार्य हैं, इन्हें आनन्द तीर्थ और पूर्णप्रज्ञ भी कहते हैं। माध्वाचार्य का जीवन काल ११९९ ई० से लेकर १३०३ तक माना जाता है। ये वायु के अवतार भी माने जाते हैं। इनके सम्प्रदाय का नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' भी है। इनके द्वारा ३७ ग्रन्थ प्रणीत हैं। जिनमें ब्रह्मसूत्रभाष्य या माध्वभाष्य, अनुव्याख्यान, गीता भाष्य कतिपय उपनिषद भाष्य, भागवत तात्पर्य निर्णय, महाभारत तात्पर्य निर्णय, विष्णु तत्व निर्णयद्योत प्रसिद्ध हैं। जयतीर्थ (१४ वीं शती) और व्यासतीर्थ (१५ वीं शती) माध्व मत के प्रकाण्ड विद्वान हैं।

जयतीर्थ ने माध्वभाष्य पर तत्त्वप्रकाशिका टीका और अनुव्याख्यान पर न्यायसुधा टीका एवं प्रमाणपद्धति नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना की है। व्यासतीर्थ ने तत्त्वप्रकाशिका पर तात्पर्यचन्द्रिका टीका लिखी है तथा न्यायामृत, तर्कताण्डव उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। माध्वाचार्य उग्र द्वैतवादी हैं तथा अमिश्रित द्वैत के पोषक हैं। वे शंकराचार्य के अद्वैतवाद के घोर विरोधी हैं। अद्वैतवाद या मायावाद को वे बौद्ध शून्यवादी का विकृत औपनिषद संस्करण मानते हैं। उनके अनुसार मायावादी का ब्रह्म और शून्यवादी का शून्य एक ही हैं।

मध्व दर्शन में पदार्थों की संख्या दस हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और भगवान। द्रव्यों की संख्या बीस मणि है- परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, त्रिगुण, महत, अहंकार, बुद्धि, मनस, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। मध्व मत में अनेक गुण माने गये हैं जिनमें वैशेषिक गुणों के अतरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, लज्जा, सौन्दर्य, गाम्भीर्य, शौर्य, औदार्य आदि मानसिक गुण भी समाविष्ट हैं। कर्म तीन प्रकार के हैं- विहित, निषिद्ध और उदासीन। शक्ति चार प्रकार की मानी गयी हैं- **१.** अचिन्त्य शक्ति जो भगवान विष्णु की आलौकिक शक्ति है। **२.** सहज शक्ति या कारण शक्ति जो सभी पदार्थों में रहती है। **३.** आधेय शक्ति जो किसी वस्तु में विशेष प्रक्रिया द्वारा स्थापित की जाती है जैसे मूर्ति में मन्त्रों द्वारा प्राण प्रतिष्ठा। **४.** पद शक्ति यह वाचक- वाच्य सम्बन्धी शब्द शक्ति है तथा मुख्या और परममुख्या भेद से दो प्रकार की होती है। सादृश्य भी अलग-अलग माना गया है। अभाव न्याय दर्शन के समान चार प्रकार का माना गया है।

माध्वाचार्य के द्वैतवाद में परमात्मा साक्षात् भगवान विष्णु हैं। वे समस्त कल्याणप्रद गुणों से सम्पन्न हैं। भगवान के गुण अनन्त हैं और प्रत्येक गुणपूर्ण, निरवधि और निरतिशय हैं। भगवान उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, आवरण, ज्ञान, बन्ध और मोक्ष इन आठों के कर्ता हैं। वे सर्वज्ञ हैं। वे जड़ पदार्थों, प्रकृति और जीवों से सर्वथा भिन्न हैं। वे परम स्वतंत्र हैं। उनका शरीर ज्ञान और आनन्द आदि कल्याण गुणों से निर्मित है, अतः शरीरी होने पर भी वे नित्य, परिपूर्ण और स्वतंत्र हैं। लक्ष्मी भगवान की शक्ति है, उनसे भिन्न है और केवल उन्हीं के अधीन है। परमात्मा के सामान लक्ष्मी भी नित्य मुक्त है, और अप्राकृत दिव्य देह सम्पन्न हैं। लक्ष्मी गुणों में भगवान से न्यून हैं। बद्ध जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भय आदि रोगों से युक्त होते हैं। ये मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं- मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी तथा तमोयोग्य।

मध्व मत में प्रकृति साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है। यह जड़ और नित्य है। नित्य होते हुये परिणामी भी है। इसे भगवान की माया नामक सहचरी भी कहा गया है। ईश्वर जगत का निमित्तकारण हैं। प्रकृति जगत का उपादन करन हैं। प्रकृति ईश्वर की इच्छा या शक्ति है। यह जगत के सारे बन्धनों का कारण है। सब प्राणियों के लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर)

प्रकृति से ही निर्मित होते हैं। प्रकृति तीनों गुणों का उपादान है। माध्वाचार्य शुद्धसत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। जिससे मुक्त जीवों के शरीर निर्मित होते हैं।

माध्वाचार्य के मत का संक्षिप्त वर्णन यह प्रसिद्ध श्लोक करता है-

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत्, तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गतः।
मुक्तिनजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनम्
अक्षादित्रितयं प्रमाणमाखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः।।

उक्त पद्य की व्याख्या तथ्यों के प्रदर्शन के निमित्त इस प्रकार की जा सकती है-

१. **विष्णु की श्रेष्ठता-** भगवान विष्णु ही परम तत्त्व हैं अर्थात् उनसे श्रेष्ठ अन्य तत्त्व की कल्पना इस मत में नहीं है।
२. **जगत्-** जगत् उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार विष्णु। इनके मत है कि जगत भगवान से ही प्रकट हुआ है। अतः जगत की सत्यता अक्षुण्ण है।
३. **भेद-** जीव तथा परमात्मा का भेद वास्तविक है, यह तो एक प्रकार का भेद हुआ। अन्य चार भेद इस प्रकार से हैं- ईश्वर का जड़ से भेद, जीव का जड़ से भेद, जीव का दूसरे जीव से भेद, एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद, इस प्रकार भेद पाँच प्रकार के होते हैं और भेदा का परिज्ञान मुक्ति का साधन हैं।
४. **जीव-** जीव भगवान विष्णु का अनुचर है। वह स्वामी हैं और जीव दास है। जीव स्वयं के कर्मों के द्वारा नीच-ऊँच गति प्राप्त करते हैं। जीव के तीन प्रकार माने हिं- **१. मुक्तियोग-** मुक्ति पाने के अधकारी जीव जो देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती और उत्तम मनुष्य के रूप में पाँच प्रकार के होते हैं। **२. नित्य संसारी-** यह जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और अपने कर्मों के अनुसार नीची और ऊँची गति को पाता है। **३. तमोयोग्य-** ये तामसिक जीव हैं, जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाच के साथ अधम मनुष्यों की भी गणना है।
५. **मुक्ति-** अपने सुख की अनुभूति मुक्ति कहलाती है। माध्व मत में मुक्त पुरुषों में भी भेद रहता है।
६. **भक्ति-** जिसमें किसी हेतु के बिना, किसी फल की अपेक्षा के बिना भगवान के चरणारविन्द में सहज अनुराग होना ही भक्ति है। माध्वाचार्य के मत में दास भक्ति श्रेष्ठ मानी जाती है।
७. **प्रमाण-** माध्व मत में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये ही तीन प्रमाण माने जाते हैं।
८. **वेद-** वेद का प्रतिपाद्य विषय स्वयं हरि हैं। हरि, विष्णु या कृष्ण। वेद का प्रतिपाद्य तथा समन्वय विष्णु में ही है।

5.6 एकतत्त्ववाद

आचार्य शंकर के विरुद्ध अन्य हिन्दू दार्शनिकों की मुख्य शिकायत यह है कि शंकर मायावादी हैं। और जहाँ तक एकतत्त्ववाद के सिद्धान्त की बात की जाये तो वह ऋग्वेद (पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त), बृहदारण्यक, छान्दोग्य, मुण्डक आदि उपनिषदों, भगवतगीता और मण्डन मिश्र की ' ब्रह्मसिद्धि' में भी प्रतिपादित है। (यह आचार्य शंकर से पहले की कृतियाँ हैं) विष्णु

पुराण, श्रीमद्भागवत जैसे पुराणों में भी विश्व के कारणभूत एक परमात्म तत्त्व की कल्पना की है। अतः आचार्य शंकर के अद्वैत की भेदक (व्यावर्तक) विशेषता मायावाद का सिद्धान्त है।

शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार यह सारा विश्व-प्रपञ्च एक ही अद्वितीय तत्त्व में अन्तर्भूत, स्थित और प्रकाशित है। इस अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व के अतिरिक्त इस संसार में किसी की सत्ता नहीं है। एक मात्र 'ब्रह्म' ही सत्य है। **"एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म"** (तैत्तिरीयोपनिषद् शङ्करभाष्य २/६) शंकर ने सभी वस्तुओं को प्रपञ्च माना है। शंकर ने जगत को मिथ्या माना है, **"ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"** अर्थात ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जगत मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं।

विश्व जिन तत्त्वों से निर्मित हुआ है, जिनसे सम्पूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है, उसके मूल स्वरूप को लेकर दार्शनिकों के पृथक-पृथक मत हैं। यही कारण है कि विविध वादों का जन्म हुआ। जिनमें मुख्यतः एकतत्त्ववाद, द्वैतवाद तथा बहुतत्त्ववाद प्रसिद्ध हैं।

एकतत्त्ववाद के अनुसार सृष्टि रचना का मूल तत्त्व की संख्या एक है। स्वरूप में वह किसी भी प्रकार का हो सकता है। जड़ द्रव्य स्वरूप का, चेतन स्वरूप का या दोनों। एकतत्त्ववाद के अनुसार एक ही तत्त्व सम्पूर्ण विश्व के समस्त भौतिक तथा मानसिक पदार्थों के रूप में व्यक्त होता है। एकतत्त्ववाद सिद्धान्त के चार भेद किए गये हैं-

१. भौतिक एकतत्त्ववाद
२. अध्यात्मवादी एकतत्त्ववाद
३. द्वैतवादी एकतत्त्ववाद
४. तटस्थवादी एकतत्त्ववाद

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त का भी यही मत है। उनके अनुसार यह संसार ब्रह्म का रूप है। एकमात्र सत्ता ब्रह्म की ही है- **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"** एक मात्र ब्रह्म चेतन तत्त्व की सत्ता है और यह जगत मिथ्या है। अतः मौलिक रूप में सत्ता एकतत्त्व रूप ही है।

5.7 ख्यातिवाद

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रमा (सम्यक ज्ञान) के साथ भ्रम (मिथ्याज्ञान) का भी निरूपण किया गया है। किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय के तात्विक स्वरूप का पता उसके भ्रम के विवेचन के आधार पर सरलता से लग जाता है। भ्रम , भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान के विवेचन को **'ख्यातिवाद'** कहते हैं। भारतीय दर्शन में सत् ख्याति, असत् ख्याति, आत्म ख्याति, और अन्यथा ख्याति, अख्याति, विपरीत ख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति नामों से प्रसिद्ध भ्रम सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त हैं। मुख्यः झगड़ा वस्तुवादी और प्रत्ययवादी विचारों के बीच है। प्रत्ययवादी विचारक यह मानते हैं कि भ्रान्त ज्ञान का विषय ज्ञाता के बाहर अस्तित्ववान् नहीं होता, वह किसी न किसी रूपा में बुद्धि अथवा कल्पना सृष्टि है। अद्वैत वेदान्ती भ्रम के विषय को अज्ञान की सृष्टि मानते हैं। इसके विपरीत वस्तुवादी विचारक (जो यह स्वीकार नही करते कि ज्ञान-क्रिया, किसी भी रूप में, ज्ञेय पदार्थ को बनाती या विकृत करती है) यह सिद्ध करना चाहते हैं कि तथाकथित भ्रांत ज्ञान का विषय भी कहीं न कहीं अस्तित्ववान् होता है।

अख्यातिवाद- प्रभाकर का मत अख्यातिवाद है। ये कट्टर वस्तुवादी हैं। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि अयथार्थ या मिथ्याज्ञान से रूप भ्रम सम्भव नहीं है। जिसे हम भ्रम कहते हैं वह आंशिक और अपूर्ण ज्ञान है। सारा ज्ञान यथार्थ होता है, किन्तु सारा ज्ञान पूर्ण नही होता।

अतः प्रमा और भ्रम का भेद तात्विक भेद नही है, अपितु मात्रा भेद है। प्रमा समग्र ज्ञान है और भ्रम आंशिक तथा अपूर्ण ज्ञान है। भ्रम अज्ञान है। अन्यथा ज्ञान नहीं है। भ्रम समग्र ज्ञान का अभाव है, मिथ्याज्ञान नहीं है।

विपरीतख्यातिवाद- कुमारिल का मत विपरीतख्याति कहलाता है जो प्रभाकर के अख्यातिवाद से भिन्न है। कुमारिल के अनुसार भ्रम भेदाग्रह या अज्ञान मात्र नहीं है, अपितु विपरीतग्रह या अन्यथाग्रहण या मिथ्याज्ञान है। भ्रम एक ज्ञान है, दो भिन्न अपूर्ण ज्ञान नहीं।

अन्यथाख्यातिवाद- न्यायवैशेषिक की अन्यथाख्याती में और कुमारिल की विपरीतख्याति में बहुत समानता है। 'अन्यथा' का अर्थ 'अन्यत्र' और 'अन्य' रूप में, और ये दोनों अर्थ अन्यथाख्याति में चरितार्थ होते हैं।

सदसत्ख्यातिवाद- सांख्यसूत्र तथा उत्तर सांख्य और जैन दर्शन सदसत्ख्यातिवाद को मानते हैं। नैयायिक और कुमारिल के सामान ये भ्रम को अन्यथाज्ञान मानते हैं जिसमें बुद्धि दोष से दो भिन्न ज्ञानों और उनके विषयों को मिलाकर एक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। भ्रम मिथ्याज्ञान है और सम्यक्ज्ञान से मिथ्याज्ञान का बाध होता है, वस्तुओं का नहीं।

विज्ञानख्यातिवाद- परम्परा के अनुसार विज्ञानवाद के ख्यातिवाद को 'आत्मख्याति' कहा जाता है। किन्तु विज्ञानवादी 'आत्मतत्त्व' को नहीं मानते अतः उनकी ख्याति को 'विज्ञानख्याति' कहना उचित है।

शून्यताख्यातिवाद- परम्परानुसार शून्यवाद को 'असत्ख्यातिवाद' माना जाता है। 'शून्य' का अर्थ 'सर्वशून्यवाद' या 'सर्वनिषेधवाद' करके शून्यवाद को 'सब कुछ असत् है' इस स्वव्याघाति अर्थ में 'असत्ख्यातिवाद' कहा जाता है। किन्तु शून्यवाद न तो सर्वनिषेधवाद है और न असत्ख्याति का पोषक है। शून्यवाद अद्वैत वेदान्त के समान निरपेक्षतत्त्ववाद है और अनिर्वचनीयख्याति को मानता है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद- शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार भ्रम मिथ्याज्ञान, अन्यथाज्ञान, अध्यारोप या अध्यास है। भ्रम अविद्या है। अविद्या के दो रूपा होते हैं- आवरण और विक्षेप। आवरणशक्ति से अविद्या 'शुक्ति' पर आवरण डाल देती है, आवृत रहने से शुक्ति का 'अज्ञान'(ज्ञानाभाव) होता है, यद्यपि शुक्ति से इन्द्रिय सम्पर्क हो रहा है, तथापि आवृत होने से उसका ज्ञान नहीं होता। विक्षेप शक्ति से अविद्या शुक्ति पर रजत का आरोप करके उसकी प्रतीति रजत के रूपा में कराती है, यह शुक्ति का रजत के रूप में अन्यथाज्ञान या मिथ्याज्ञान है। इस विक्षेप को आरोप, अध्यारोप या अध्यास कहते हैं।

उपर्युक्त दार्शनिक मत, जिनकी विवेचना की है, वे तीन प्रकार के हैं- वस्तुवाद, विज्ञानवाद और अनिर्वचनीयवाद। वस्तुवाद का मूल सिद्धान्त है कि जगत के पदार्थ य वस्तुयें सत् हैं और इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर ज्ञान उत्पन्न करती है जो यथार्थ होता है। विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान सत् है, पदार्थ या वस्तुयें असत् हैं और ज्ञान ही अर्थ का आकार लेकर बहिर्वत् प्रतीत होता है। अनिर्वचनीयवाद के अनुसार बुद्धि-ग्राह्य समस्त पदार्थ, जीव और जगत् सापेक्ष तथा सदसदनिर्वचनीय हैं, व्यवहार में इसकी सत्ता है, किन्तु परमार्थतः ये सब मिथ्या हैं, परमार्थ नित्य निरपेक्ष अद्वैत शुद्ध चैतन्य है। वस्तुवाद परमार्थ और व्यवहार दोनों का भेद नहीं मानता, अतः उसके लिए व्यवहार ही परमार्थ है। विज्ञानवाद परमार्थ और व्यवहार दोनों में विज्ञानवाद है। अनिर्वचनीयवाद परमार्थ में विज्ञानवाद और व्यवहार में वस्तुवाद है। ख्यातिवाद में

अनिर्वचनीयख्याति ही भ्रम का सन्तोषजनक विश्लेषण करती है तथा व्यवहार और परमार्थ दोनों का निर्वाह करती है।

5.8 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने भारतीय दर्शनशास्त्र के अद्वैतवाद, द्वैतवाद, एकत्ववाद और ख्यातिवाद के सिद्धान्त इत्यादि का भली-भांति अध्ययन किया। आपने जाना कि भारतीय दर्शन का चरमोत्कर्ष वेदान्त में मिलता है। इस दर्शन को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण के **'ब्रह्मसूत्र'** को कहा जाता है। वेदान्त दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य बादरायण को वेदान्त दर्शन का पितामह कहा जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' पर आचार्य शंकर, रामानुजाचार्य, भास्कराचार्य, निम्बकाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि ने टीकाएँ लिखी हैं।

वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त यह है- 'तत् त्वम् असि' अर्थात वह तुम हो। यह जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) की एकता का सूचक है। नित्य, असीम तथा अपरिवर्तनशील ब्रह्म अविभाज्य है, और जीवात्मा उसका एक भाग या उसमें से निकली कोई वस्तु नही है, अपितु वह ब्रह्म से अभिन्न ही है।

वेदान्त के जितने सम्प्रदाय हैं, उनमें सबसे प्रधान आचार्य शंकर का अद्वैत दर्शन माना जाता है। शंकराचार्य जी भारत वर्ष के संतों, दार्शनिकों और धार्मिक आचार्यों में प्रथम श्रेणी की विभूति हुए हैं। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद में ब्रह्म ही सत्य है ब्रह्म के अतरिक्त सभी पदार्थ असत हैं- "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" जगत् माया है, जीव ब्रह्म से अभिन्न है और मोक्ष में जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। शंकर ने जगत को रस्सी में दिखाई देने वाले साँप के सामान माना है। यद्यपि जगत मिथ्या है फिर भी जगत का कुछ न कुछ आधार है। जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाला साँप का आधार रस्सी है उसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म है। अतः ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है।

द्वैतवाद के प्रवर्तक श्री माध्वाचार्य हैं, इन्हें आनन्द तीर्थ और पूर्णप्रज्ञ भी कहते हैं। माध्वाचार्य उग्र द्वैतवादी हैं तथा अमिश्रित द्वैत के पोषक हैं। वे शंकराचार्य के अद्वैतवाद के घोर विरोधी हैं। अद्वैतवाद या मायावाद को वे बौद्ध शून्यवादी का विकृत औपनिषद संस्करण मानते हैं। उनके अनुसार मायावादी का ब्रह्म और शून्यवादी का शून्य एक ही हैं।

विश्व जिन तत्त्वों से निर्मित हुआ है, जिनसे सम्पूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है, उसके मूल स्वरूप को लेकर दार्शनिकों के पृथक-पृथक मत हैं। यही कारण है कि विविध वादों का जन्म हुआ। जिनमें मुख्यतः एकतत्त्ववाद, द्वैतवाद तथा बहुतत्त्ववाद प्रसिद्ध हैं। एकतत्त्ववाद के अनुसार सृष्टि रचना का मूल तत्त्व की संख्या एक है। स्वरूप में वह किसी भी प्रकार का हो सकता है।

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रमा (सम्यक ज्ञान) के साथ भ्रम (मिथ्याज्ञान) का भी निरूपण किया गया है। किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय के तात्विक स्वरूप का पता उसके भ्रम के विवेचन के आधार पर सरलता से लग जाता है। भ्रम , भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान के विवेचन को **'ख्यातिवाद'** कहते हैं। भारतीय दर्शन में सत् ख्याति, असत् ख्याति, आत्म ख्याति, और अन्यथा ख्याति, अख्याति, विपरीत ख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति नामों से प्रसिद्ध भ्रम सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त हैं।

5.9 पारिभाषिक शब्दावली

- अभिन्न - जो भिन्न न हो, एक रूप
- विश्लेषण - छान बीन करना
- चेतन - आत्मा, जीव, प्राणी
- प्रमा - बोद्ध, सच्ची धारणा
- चित् - चेतन जीव
- दर्शन - तत्त्व साक्षात्कार एवं उसका साधन
- परिणति - अन्तिम परिणाम, निष्कर्ष

अभ्यास प्रश्न-

१. वेदान्त दर्शन का आधार ----------को कहा जाता है।
२. 'ब्रह्मसूत्र' के प्रणेता कौन हैं?
३. 'विशिष्टाद्वैतवाद' के प्रवर्तक ----------हैं।
४. 'द्वैतवाद' के प्रवर्तक ----------हैं।
५. 'द्वैताद्वैत' के प्रवर्तक ----------हैं।
६. आचार्य शंकर ने सत्ता कितनी प्रकार की मानी है?
७. 'तत्त्वप्रकाशिका' ग्रन्थ के प्रणेता कौन हैं?
८. माध्वाचार्य के द्वैतवाद के परमात्मा साक्षात----------हैं।
९. 'अख्यातिवाद' का मत किनका है?
१०. 'विपरीतख्यातिवाद' मत किनका है?
११.एकतत्त्ववाद के अनुसार सृष्टि रचना का मूल तत्त्व की संख्या----------है।
१२. भ्रम, भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान के विवेचन को----------कहते हैं।
१३. ----------भगवान की शक्ति है, उनसे भिन्न है और केवल उन्हीं के अधीन है।
१४. ----------के मतानुसार जीव और ब्रह्म की दृष्टि से दो हैं तो किसी दृष्टि से दो नहीं हैं।
१५.मध्वाचार्य जीव तथा ब्रह्म को दो मानते हैं। इसलिये इनके मत को ----------कहा जाता है।

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. ब्रह्मसूत्र
२. बादरायण
३. रामानुजाचार्य
४. माध्वाचार्य
५. निम्बार्काचार्य
६. तीन
७. जयतीर्थ
८. विष्णु
९. प्रभाकर
१०. कुमारिल भट्ट

११. एक
१२. ख्यातिवाद
१३. लक्ष्मी
१४.निम्बार्काचार्य
१५.द्वैतवाद

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन, लेखक डॉ इश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा, प्रकाशक- मीनू पब्लिकेशन २० म्योर रोड़, इलाहबाद, १९८० (पृष्ट संख्या ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५)
२. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक चक्रधर शर्मा, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, (पृष्ट संख्या २०२, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, ३१९, ३२०)
३. भारतीय दर्शन की रुपरेखा, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक- चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी १९७९, (पृष्ट संख्या ३७०, ३७१, ३७२)
४. भारतीय दर्शन, सम्पादक डॉ नन्द किशोर देवराज, प्रकाशक- उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग) राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन ६, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ २००२ (पृष्ट संख्या १५, ५१७)
५. भारतीय दर्शन की रुपरेखा, लेखक प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास (पृष्ट संख्या २८९, २९०, २९१, २९४)
६. भारतीय दर्शन, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक- चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी १९७६
७. भारतीय दर्शन एक परिचय, लेखक दिलीप कुमार झा, विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली २०१५

5.12 निबन्धात्मक प्रश्न

१. वेदान्त दर्शन का अर्थ, परिचय एवं स्वरूप का वर्णन कीजिए।
२. अद्वैतवाद को स्पष्ट कीजिए।
३. द्वैतवाद को स्पष्ट कीजिए।
४. ख्यातिवाद को स्पष्ट कीजिए।

इकाई – 6 कार्यकारण के सिद्धान्त -सत्कार्यवाद-विवर्तवाद-परिणामवाद तथा अन्य सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 कार्यकारणसिद्धान्त
6.2.1 सत्कार्यवाद
6.2.2 परिणामवाद
6.2.3 विवर्तवाद
6.2.4 आरम्भवाद (असत्कार्यवाद)
6.2.6 प्रतीत्यसमुत्पाद
6.2.7 स्वभाववाद
6.4 सारांश
6.5 बोधप्रश्न
6.6 शब्दावली
6.7 संदर्भग्रन्थसूची
6.8 निबन्धात्मकप्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्रियशिक्षार्थियों,

भारतीय दर्शन एक गहन और सूक्ष्म चिंतन परंपरा है जिसमें संसार, जीव, प्रकृति, ब्रह्म, आत्मा और विश्व की उत्पत्ति जैसे प्रश्नों पर निरंतर विमर्श होता रहा है। दार्शनिक चिन्तन की इन अनेक जटिल एवं महत्व पूर्ण समस्यों में कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause and Effect Relationship) की समस्या एक विशेष स्थान रखती है। संसार में प्रत्येक घटना किसी न किसी कारण से उत्पन्न होती है, और प्रत्येक कार्य अपने कारण की अनिवार्य परिणति प्रतीत होता है। मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि क्या है? कैसे बनी है? कहाँ से आई ? इसका निर्माता कौन है? इस सृष्टि के अन्तर्गत जो परिवर्तन हो रहा है, वह क्यों और कैसे हो रहा है ? इन जिज्ञासाओं से सम्बन्धित विचार ही कारण कारण सिद्धान्त कहलाता है। कारण और कार्य के संबंध को समझने के लिए विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों ने अपने–अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। इस इकाई में हम विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों का अध्ययन कर उनके मतों के अनुसार कार्य कारण सिद्धान्त को जानेगें। इस इकाई में हम विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित कार्य कारण के सिद्धान्तों के विषय में जानेगें।

6.2 उद्देश्य

- ❖ भारतीय दर्शन के अनुसार कार्य कारण सिद्धान्त को जानेगें।
- ❖ सत्कार्यवाद सिद्धान्त को जानेगें।
- ❖ विवर्वाद सिद्धान्त को जानेगें।
- ❖ शिक्षार्थो परिणामवाद के विषय में जानेगें
- ❖ बोद्धदर्शन के कार्यकारण सिद्धान्त को जानेगें।

6.3 कार्यकारणसिद्धान्त

भारतीय दर्शन अपनी प्रमाण एवं प्रमेय की परम्परा से तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विश्व साहित्य में अप्रतिम स्थान प्राप्त करता है, जिसमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थों के वास्तविक ज्ञान का विचार वैज्ञानिक शैली से प्रस्तुत किया गया है। तत्त्वज्ञान की इस परम्परा में कार्यों की उत्पत्ति एवं उनके उत्पादक कारण के मध्य सम्बन्ध में प्रत्येक भारतीय दर्शन अपनी अनुपम रीति का प्रयोग कर अद्वैतवेदान्त में विवर्तवाद, सांख्यदर्शन में सत्कार्यवाद,न्यायदर्शन में असत्कार्यवाद तथा बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पादवाद जैसे प्रतिष्ठित वादों को प्रकटित करता है। इन प्रत्येक वादों का यथार्थस्वरूप इस प्रकार ज्ञात किया जा सकता है

6.3.1 सत्कार्यवाद

कार्यकारण के मध्य स्थिति को प्रकटित करते हुए सांख्याचार्यों ने सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकृत किया है, जिसमें सांख्याचार्यों के अनुसार कार्य कारण में पूर्व से ही विद्यमान रहता है तथा केवल कारण में कार्य प्रकटित ही होता है, उससे किसी विषम वस्तु का निर्माण सम्भव नही होता। अत एव व्याकरणशास्त्र सम्मत धातुओं के उपसर्गों के द्योतकमात्र के समान ही सांख्यदर्शनानुसार कारण में विद्यमान कार्य का केवल प्रकटीकरण ही होता है। सांख्यदर्शन का यह वाद सर्वोत्पादिका प्रकृतितत्त्व से विकृत त्रिगुणात्मिका बुद्धि आदि से

प्रकृतितत्त्व की कारणता को सिद्ध करता है। जिसमें अचेतन प्रकृति चेतन पुरुष के संयोग से बुद्धि आदि तत्त्वों को व्यक्त करती है। सत्कार्यवाद को उपस्थापित करते हुए सांख्यकारिका के कर्ता आचार्य ईश्वरकृष्ण ने निम्न कारिका को प्रस्तुत किया है -

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

प्रस्तुत कारिका में आचार्य ने 5 हेतुओं को उपस्थापित किया है, जिनका क्रमश: विवेचन इस प्रकार है -

1. **असदकरणात्** - प्रस्तुत हेतु का तात्पर्य है कि असत् करण से कार्य की निष्पत्ति सम्भव नही है। अर्थात् असत्य वस्तु से कार्य का होना असम्भव है। जैसे - '**शशविषाण**' एवं '**खपुष्प**' उदाहरणों में खरगोश की शृङ्गोत्पत्ति तथा आकाश में पुष्पोत्पत्ति असत् आश्रय के कारण असम्भव है। इसी प्रकार सिकता से तैलोत्पत्ति तथा जल से दधि की विकृति असत् करण के कारण असम्भव है। अत: इन उदाहरणों से परिपुष्ट होता है कि कारण में कार्य पूर्व से ही विद्यमान रहता है। अन्यथा सिकता से तैल तथा जल से दधि की निष्पत्ति सम्भव होती, परन्तु इन कारणों से प्रस्तुत कार्य कदापि उत्पन्न नही होते है।

2. **उपादानग्रहणात्** - सत्कार्यवाद की सिद्धि में द्वितीय हेतु उपादानग्रहण है, जिसका तात्पर्य मुख्य कारण के ग्रहण से है। अर्थात् जब भी किसी व्यक्ति को कोई कार्य सम्पन्न करना होता है, तो वह उसके मुख्य कारण का चयन करता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह वस्तु पूर्व से ही उसमें नियत है। अत: दधि के निर्माण के लिए व्यक्ति दूध का ही चयन करता है तथा तैल की निष्पत्ति के लिए तिल का ही ग्रहण करता है। इससे स्पष्ट होता है कि दूध मे दधि तथा तिल में तैल पूर्व से ही विद्यमान है। अन्यथा जलादि से दधि एवं तैल की निष्पत्ति सम्भव हो जाती। इस प्रकार उपादान कारण के ग्रहण करने से स्पष्ट होता है कि कारण में कार्य पूर्व से ही विद्यमान रहता है।

3. **सर्वसम्भवाभावात्** - सत्कार्यवाद की प्रस्तुति में सर्वसम्भवाभावात् यह तृतीय हेतु है, जिसके अनुसार सभी पदार्थों से सभी निष्पन्न नही होते है। अर्थात् जिस कारण में कार्य की निष्पत्ति की योग्यता होती है, उसी कारण से वह कार्य निष्पन्न होता है, अन्य कारणों से वह कार्य निष्पन्न नही हो सकता है। अत: नियत कारण में उसके पूर्व से विद्यमान होने के कारण ही उस कार्य की निष्पत्ति की योग्यता उसमें विद्यमान होती है। जैसे - जल के द्रवत्व में स्नेह गुण के विद्यमान होने पर उससे चूर्णादि के पिण्डीभाव का कार्य किया जा सकता है, परन्तु जल एवं तैल में द्रवत्व के समान होने पर भी जल से दीपक जलाया नही जा सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि सभी कारणों से सभी कार्यों की निष्पत्ति नही हो सकती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि कारण में कार्य पूर्व से ही विद्यमान रहते है।

4. **शक्तस्य शक्यकरणात्** - प्रस्तुत हेतु में आचार्य ईश्वरकृष्ण का मत है कि समर्थ कारण से ही समर्थ कार्य की निष्पत्ति सम्भव होती है। अत: वर्षाकारक मेघ के अतिरिक्त सूर्य वृष्टि करने में समर्थ नही है तथा मेघ घर्म को करने में समर्थ नही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि समर्थ कारण से ही समर्थ पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार उष्णताकारक अग्नि का कार्य शीतलताकारक जल से सम्भव नही है तथा शीतलताकारक जल का कार्य उष्णताकारक अग्नि नही कर सकती है। अत: कार्य की निष्पत्ति में समर्थ कारण से ही कार्योत्पत्ति होने से यह स्पष्ट होता है कि कारण में कार्य पूर्व से ही विद्यमान रहता है। जिससे सत्कार्यवाद परिपुष्ट होता है।

5. **कारणभावात्** - सत्कार्यवाद की सिद्धि में अन्तिम हेतु कारणभावात् प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार कार्य में कारणभाव उपस्थित रहता है। अर्थात् कारणों में विद्यमान धर्म कार्यों में स्थानान्तरित होते है, जिनसे कार्य एवं कारण की समानता स्पष्ट होती है। अत: कार्य में कारणधर्मता के विद्यमान रहने से भी यह स्पष्ट होता है कि कारण में पूर्व से ही कार्य विद्यमान रहता है। जैसे - दधिरूप कार्य के कारणभूत दुग्ध में विद्यमान धर्म का स्थानान्तरण दधिरूप कार्य में भी होता है। अत: कार्यरूप दधि के प्रति दुग्ध का कारणभाव प्राप्त होने से यह स्पष्ट होता है कि कारण में कार्य पूर्व से ही विद्यमान रहता है। अन्यथा जलादि के भी दुग्ध के समान द्रवत्व होने से दधि का कारणता प्राप्त हो जाती, परन्तु दधि के प्रति जल कभी भी कारण सिद्ध नही होता है। इससे सत्कार्य सिद्ध होता है।

उपर्युक्त 5 हेतुओं से आचार्य ईश्वरकृष्ण ने सत्कार्यवाद की परिपुष्टि की है। जिसका मुख्य उद्देश्य कारण में कार्य के पूर्व से विद्यमान होना है। इन तर्कों में असत्य कारण से सत्य कार्य की उत्पत्ति का अभाव, कार्य की निष्पत्ति में मुख्य कारण का चयन, सर्वकारणता का अभाव, समर्थ कारण से समर्थ कार्योत्पत्ति तथा कारणभाव का विद्यमान होना अभीष्ट है। यद्यपि सांख्य के मत में प्रकृति की सर्वकारणता से तृतीय हेतु पर विस्तार पूर्वक विचार किया जा सकता है, परन्तु प्रकृति की सर्वकारणता भी क्रमिक ही है, जिससे यह सिद्धान्त अखण्डित ही होता है। इस प्रकार इन हेतुओं के आधार पर सत्कार्यवाद सिद्धान्त ख्यापित होता है।

6.3.1 परिणामवाद

परिणामशब्द का अर्थ है वास्तविक परिवर्तन।इसे 'विकार' की संज्ञा भी दी जाती है, जिसका अभिप्राय है—किसी वस्तु का तत्त्वसहित अन्य रूप में परिणत होना - **" सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः"**। जब दूध अपने पूर्व स्वरूप को त्यागकर दही के रूप में परिणत होता है, तब उसके आकार, स्वाद और गुणों में वास्तविक परिवर्तन होता है; इसी प्रकार मिट्टी से घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी का रूपान्तरण घड़े के रूप में हो जाता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कार्य कारण से सर्वथा भिन्न कोई नई सत्ता नहीं है, बल्कि कारण का ही बदला हुआ रूप है। इसी को परिणामवाद कहा जाता है। इस प्रकार सत्कार्यवाद के अन्तर्गत परिणामवाद और विवर्तवाद—दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं। जहाँ परिणामवाद कारण के कार्य में वास्तविक परिवर्तन को स्वीकार करता है, वहीं विवर्तवाद इस परिवर्तन को अवास्तविक या केवल प्रतीतिमात्र मानता है। सांख्य, योग तथा विशिष्टाद्वैत दर्शन परिणामवाद के समर्थक हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण जगत् प्रकृति का परिणाम है; प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों के संतुलन और असंतुलन के माध्यम से संसार की विविधता को प्रकट करती है। इसी कारण सांख्य का सिद्धान्त**'प्रकृति परिणामवाद'**कहलाता है।दूसरी ओर, विशिष्टाद्वैत दर्शन में रामानुजाचार्य ने ब्रह्म को जगत् का कारण स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया कि समस्त जगत् ब्रह्म का ही रूपान्तरित स्वरूप है। इस दृष्टि से जगत् न तो ब्रह्म से पृथक् है और न ही मिथ्या, बल्कि ब्रह्म की ही वास्तविक अभिव्यक्ति है; अतः इसे**'ब्रह्म परिणामवाद'**कहा जाता है। इस प्रकार परिणामवाद न केवल कार्य–कारण सम्बन्ध को स्पष्ट करता है, बल्कि जगत् की यथार्थ सत्ता को भी सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करता है।

6.3.3 विवर्तवाद

विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त का एक प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त है, जिसके माध्यम से ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की विशिष्ट व्याख्या की जाती है। 'विवर्त' शब्द का अर्थ भ्रान्ति या मिथ्या प्रतीति है- **" अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त"**। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु में वास्तविक परिवर्तन न होकर केवल अज्ञानवश अन्य रूप में उसका आभास होना ही विवर्त कहलाता है। जैसे अन्धकार में रस्सी को साँप के रूप में देखना—यहाँ रस्सी अपने स्वरूप को नहीं बदलती, परन्तु भ्रान्ति के कारण साँप के रूप में प्रतीत होती है। इसी प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूप में अपरिवर्तित रहते हुए भी जगत् के रूप में प्रतीत होता है।अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परम सत्य है। वह नित्य, निर्गुण, निराकार और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस ब्रह्म के अतिरिक्त जो जगत् दिखाई देता है, वह ब्रह्म का वास्तविक परिणाम नहीं है, बल्कि माया के कारण उत्पन्न एक भ्रान्त प्रतीति है। माया विवर्तवाद का केन्द्रीय तत्त्व है। माया को न तो पूर्णतः सत् कहा जा सकता है और न ही असत्। वह ज्ञान से नष्ट हो जाती है, इसलिए असत् है; किन्तु अज्ञान की अवस्था में वह जगत् के रूप में अनुभव होती है, इसलिए पूर्ण असत् भी नहीं है। इसी माया के प्रभाव से ब्रह्म में नाम और रूप की कल्पना होती है और वही कल्पना जगत् के रूप में अनुभव की जाती है। ब्रह्म स्वयं अपने स्वरूप में किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं करता, फिर भी अज्ञानवश उसमें जगत् का आरोप हो जाता है। विवर्तवाद के अनुसार ब्रह्म को जगत् का विवर्ती उपादान कारण माना जाता है। इसका आशय यह है कि ब्रह्म ही जगत् का कारण है, परन्तु कारण होते हुए भी वह कार्य के रूप में परिवर्तित नहीं होता। जैसे रस्सी साँप नहीं बनती, वैसे ही ब्रह्म जगत् नहीं बनता। जगत् केवल ब्रह्म पर अध्यारोपित एक भ्रान्ति है, जो ज्ञान के अभाव में सत्य प्रतीत होती है और ज्ञान होने पर नष्ट हो जाती है इस सिद्धान्त में जीव की स्थिति को भी अज्ञान से जोड़ा गया है। जीव वास्तव में ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु अविद्या के कारण वह अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को भूलकर शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को ही अपना स्वरूप मान लेता है। इसी भ्रान्ति से कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव उत्पन्न होता है, जिससे बन्धन की अवस्था बनती है। जब आत्मा को अपने वास्तविक ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब अविद्या का नाश हो जाता है एवं उसके साथ ही जगत् की मिथ्या प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। यही अवस्था मुक्ति कहलाती है, जिसमें जीव अपने नित्य और अनन्त स्वरूप में स्थित हो जाता है

विवर्तवाद और परिणामवाद में स्पष्ट भेद है। परिणामवाद में कारण स्वयं परिवर्तित होकर कार्य बनता है, जैसे दूध से दही का बनना। इसमें कारण की सत्ता कार्य में रूपान्तरित हो जाती है। इसके विपरीत विवर्तवाद में कारण की सत्ता अपरिवर्तित रहती है और कार्य केवल आभास मात्र होता है। ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध इसी विवर्त के रूप में समझा जाता है। ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता बनी रहती है, जबकि जगत् की सत्ता व्यावहारिक या प्रातिभासिक मानी जाती है। इस प्रकार विवर्तवाद यह प्रतिपादित करता है कि सत्य एक ही है—ब्रह्म। जगत् उस सत्य का वास्तविक रूपान्तरण नहीं, बल्कि अज्ञानजन्य प्रतीति है। ब्रह्मज्ञान के उदय से यह प्रतीति नष्ट हो जाती है और साधक को यह बोध होता है कि वह सदा से ही ब्रह्म था। इसी कारण विवर्तवाद न केवल एक सैद्धान्तिक दार्शनिक मत है, बल्कि आत्मज्ञान एवं मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाला गूढ़ सिद्धान्त भी है।

6.3.4 आरम्भवादयाअसत्कार्यवाद

असत्कार्यवादयाआरम्भवादन्याय औरवैशेषिक दर्शन का यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, जो सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद से स्पष्ट रूप से भिन्न है। सांख्य दर्शन के अनुसार कार्य उपादान कारण में सूक्ष्म अवस्था में पूर्व से ही विद्यमान रहता है और उपयुक्त परिस्थितियों में वह स्थूल रूप में अभिव्यक्त होता है; किंतु न्याय–वैशेषिक दर्शन इस मान्यता को अस्वीकार करता है। इस दर्शन में 'प्रकृति' नामक किसी स्वतंत्र तत्त्व की स्वीकृति नहीं है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार कार्य कारण से भिन्न सत्ता वाला होता है और निमित्त कारणों के प्रयोग से पूर्व वह उपादान कारण में न तो स्थूल रूप में और न ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है।इस मत के अनुसार कार्य की स्थिति उत्पत्ति से पूर्व असत् होती है और निमित्त कारणों के संयोग से ही वह सत् रूप में उत्पन्न होता है। असत्कार्यवाद का अर्थ है जो पहले असत्था या जिसका प्रागभाव था उसकी उत्पत्ति हुई जैसे – मृत्तिका में घट पहले से नहीं रहता है। कुम्भकार दण्ड, चक्रादि की सहायता से घट की नवीन उत्पत्ति करता है। न्याय के अनुसार कारण में समवेत हो कर कार्य की उत्पत्ति होती है, जैसे तन्तु में समवेत हो करपट की उत्पत्ति होती है। कार्य और कारण को निम्न प्रकार जाना जा सकता है ।

कार्य -न्याय–वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। इसके अनुसार निमित्त कारण की क्रिया से पूर्व कार्य अपने उपादान कारण में किसी भी रूप में विद्यमान नहीं रहता। अर्थात् कार्य का अस्तित्व कारण में पहले से न होकर, निमित्त कारण के सहयोग से बाद में प्रकट होता है और तभी वह सत् रूप में प्रतिष्ठित होता है। किसी वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव होता है, उसेप्रागभावकहा जाता है। चूँकि कार्य की उत्पत्ति से पहले उसका उपादान कारण में कोई अस्तित्व नहीं होता, इसलिए उस अवस्था में उपादान कारण में कार्य का प्रागभाव माना जाता है।

जिसका अभाव होता है, उसे उस अभाव काप्रतियोगीकहा जाता है। अतः प्रागभाव का प्रतियोगी ही न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'कार्य' कहलाता है। जो पदार्थ सत् है, अर्थात् नित्य है, उसका न तो प्रागभाव होता है और न ही किसी प्रकार का अन्य अभाव; इसलिए वह कार्य नहीं माना जाता। इसी प्रकार जिसका अस्तित्व न कभी था, न है और न भविष्य में होगा, उसेअत्यन्ताभावकहा जाता है, अथवा उसे अलीक या मिथ्या भी कहा जा सकता है। ऐसी सत्ता के लिए प्रागभाव की कल्पना भी संभव नहीं है। इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति होती है, वही कार्य है—यह परिभाषा न्याय–वैशेषिक दर्शन में स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है।

कारण- किसी कार्य की उत्पत्ति जिसके बिना संभव न हो, वही कारण कहलाता है। कारण के लिए यह अनिवार्य है कि वह कार्य की उत्पत्ति से ठीक पूर्व क्षण में विद्यमान हो। इसी कारण कारण को 'अन्यथासिद्ध' होने के साथ-साथ 'कार्य-नियत-पूर्ववृत्ति' भी कहा जाता है।

कौन-कौन से पदार्थ किसी कार्य के लिए अन्यथासिद्ध हो सकते हैं—इस विषय में इतना कहना पर्याप्त है कि जिनके बिना भी कार्य की उत्पत्ति संभव हो जाती है, वे अन्यथासिद्ध कहलाते हैं। विश्लेषण की दृष्टि से आचार्यों ने अन्यथासिद्ध के पाँच भेद माने हैं—

(1) किसी कार्य के कारण में रहने वाला वह सामान्य धर्म, जो कारण का स्वाभाविक धर्म होकर कारणता का अवच्छेदक हो, अन्यथासिद्ध कहलाता है। उदाहरणार्थ, घट का कारण कपाल (घड़े का एक भाग) है। कपाल होने के नाते वह घट का कारण है—इसे संस्कृत में 'कपालत्वेन रूपेण' कहा जाता है। यही कपालत्व, कपाल में घट की कारणता का नियामक है। यह अन्यथासिद्ध

इसलिए है कि कपालत्व के अभाव में भी कपाल का अस्तित्व संभव है, किंतु कपाल के बिना घट का अस्तित्व असंभव है।

(2) कारण के रूप, रंग आदि भी अन्यथासिद्ध के दूसरे प्रकार हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन तथा तर्क के अनुसार घट के निर्माण के लिए कपालों की आवश्यकता होती है, न कि उनके रूप-रंग की। जो व्यक्ति केवल घट बनाना चाहता है, वह कपालों की खोज करेगा—वे लाल हों या काले, यह उसके लिए गौण है। रूप-रंग का महत्त्व तब होता है जब कोई विशेष रंग का घट बनाना चाहता हो। अतः कपाल का रूप घट के रूप के लिए आवश्यक है, घट की उत्पत्ति के लिए नहीं; इसलिए कपाल का रूप घट की उत्पत्ति में अन्यथासिद्ध है।

(3) वह तत्त्व, जिसे हम प्रस्तुत कार्य से भिन्न किसी अन्य कार्य के कारण के रूप में जान लेने के बाद ही प्रस्तुत कार्य से पूर्ववर्ती के रूप में समझ सकें, वह भी अन्यथासिद्ध होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में आकाश को शब्द का समवायी कारण माना गया है, जिसे प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान से जाना जाता है। जब घट की उत्पत्ति का विचार किया जाता है, तब आकाश अन्यथासिद्ध हो जाता है, क्योंकि हम आकाश को घट से पूर्ववर्ती तभी समझ पाते हैं जब पहले उसे शब्द के आश्रय के रूप में अनुमानित कर लेते हैं। इस प्रकार घट के लिए आकाश अन्यथासिद्ध है।

(4) कारण का कारण भी अन्यथासिद्ध होता है। घट का उत्पादक कुम्भकार है और कुम्भकार का उत्पादक उसका पिता। किंतु कुम्भकार का पिता घट के लिए अन्यथासिद्ध है, क्योंकि उसके अभाव में भी कुम्भकार द्वारा घट का निर्माण संभव होता है।

(5) अन्यथासिद्ध वही तत्त्व कहलाता है जो किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य कारणों से अतिरिक्त हो, भले ही वह कार्य से पूर्व विद्यमान क्यों न रहा हो। उदाहरणार्थ, घट-निर्माण के लिए मिट्टी आवश्यक है, किंतु मिट्टी को लाने का कोई एक निश्चित साधन अनिवार्य नहीं होता। मिट्टी किसी भी साधन से लाई जा सकती है। अतः मिट्टी लाने के समस्त साधन सामान्य रूप से घट के लिए अन्यथासिद्ध माने जाते हैं। वस्तुतः अन्यथासिद्ध के पूर्वोक्त सभी भेद इसी पाँचवें प्रकार में निहित माने जा सकते हैं। ये पाँच भेद केवल विश्लेषणात्मक सुविधा के लिए बताए गए हैं।

6.3.6 प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद को बौद्धदर्शन का मेरुदण्ड माना जाता है। भगवान बुद्ध के मौलिक सिद्धान्तों का आधार स्तम्भ ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। प्रतीत्य = अपेक्षा रखकर । निर्भर/आश्रित रहकर/ किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर । समुत्पाद - उत्पत्ति/अन्य वास्तु की उत्पत्ति । अर्थात - किसी वस्तु कि प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। दूसरे शब्दों में कहें तो कारण पर निर्भर होकर कार्य की उत्पत्ति को मानना ही प्रतीत्यसमुत्पाद वाद है-

हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसुमुत्पादार्थः।

बुद्धसम्मत कारणवाद ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। भगवान बुद्ध कहते है कि "**अस्मिन् (कारणे) सति इदं (कार्यं) भवति**, **अस्योत्पादाद्इदम्उत्पद्यतेइतिइदंप्रत्यार्थःप्रतीत्यसमुत्पार्थः**" अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है। कार्य सदा कारण सापेक्ष होता है। कारणाभाव से कार्याभाव तथा कारण भाव से कार्य भाव होता है। बिना कारण के तो किसी भी वस्तु की उत्पत्ति असम्भव है। भगवान बुद्ध के स्वतंत्र चिन्तन का सारांश यह है कि - संसार के

सारे अच्छे बुरे कार्य न तो भाग्याधीन है, न तो ईश्वरेच्छा युक्त है और न ही यदृच्छाप्रधान है, वे तो सारे कारण- कार्य नियम से जागरुक हैं।

बौद्ध दर्शन में वर्णित द्वादश निदानों का अपर नाम कारण-कार्य श्रृंखला रूप प्रतीत्यसमुत्पाद है। कारण - कार्यरुपी चक्र में द्वादश निदान घूमते हैं। प्रथम निदान कारण है तो द्वितीय निदान कार्य है, पुनः द्वितीय निदान कारण है तो तृतीय निदान कार्य है इस प्रकार से द्वादश निदान जब कारण बनता है तो प्रथम निदान कार्य बन जाता है।इस प्रकार से निदान चक्र चलता है। 1.अविद्या, 2.संस्कार,3.विज्ञान,4.नामरुप5.षडायन6.स्पर्श7.वेदना8.तृष्णा9.उपादान10.भव11.जाति12.जरामरण और पुनः अविद्या।मरण को इस चक्र का अन्त नही मान सकते हैं, क्योंकि नये जन्म के कारण रूप में अविद्या तथा कर्म संस्कार कारण बन जाते हैं। इस प्रकार से चक्र चलता रहता है।इस चक्र में आद्य 2 अतीत जन्म से सम्बद्ध निदान हैं, अन्तिम दो भविष्य जन्म से सम्बन्धित निदान हैं तथा मध्य के आठ वर्तमान जीवन से सम्बन्धित निदान हैं। पूर्व निदान उत्तर निदान का कारण है तथा उत्तर निदान पूर्व निदान का कार्य है। इस चक्र का मुख्य कारण ही अविद्या है और जब तक अविद्या है तब तक यह चक्र चलता रहेगा।

6.3.7 स्वभाववाद

भौतिकवादी चार्वाक के मत में स्वभाव की सत्ता सर्वदा विद्यमान होती है। किसी भी वस्तु के उत्पन्न होने में उसका स्वभाव ही मूलकारण होता है। तितलियों को इतना रंगीन किसने पैदा किया? कोयल की सुमधुर वाणी को किसने बनाया, शेर को इतना बलशाली किसने बनाया, इत्यादि तर्को से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत् तत् कार्य विशेष कि प्राते उसका स्वभाव ही कारण होता है। संसार की उत्पत्ति तथा विनष्टि का मुख्य कारण 'स्वभाव' ही है। स्वभाव को जगत् विचित्रता का हेतु जड़वाद दर्शन में स्वीकार किया गया है- "**अपरे लोकायतिका: स्वभाव जगतः कारणमाहु:।स्वभावादेव जगत् विचित्रमुत्पद्यते स्वभावतो विलयं याति।**"१ अनेक विचित्रताओं-विभिन्नताओं की समष्टि तथा व्यष्टि को संग्रहित रखना ही जगत का स्वभाव है।चार्वाक इस बात को प्रबल रूप से स्वीकार करता है कि अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता, वायु में स्पर्शता का होना उनका मुख्य स्वभाव ही है। स्वभावभिन्न अन्य कोई कारण विशेष नहीं हो सकता है।

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थित: ।।

स्वभाववादी चार्वाक के मत में कार्यकारणभाव का सर्वथा अभाव ही जगत् वैचित्र्य में स्वभाव को सिद्ध करता है। प्रसन्नचित या सुखी जीवन जीने वाले मनुष्य को देखकर धर्म की सत्ता मान लेना तथा अप्रसन्नचित या दुःखी जीवन जीने वाले मनुष्य को देखकर अधर्म की कल्पना कर लेना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती है। मनुष्य के सुख दु:ख का कारण धर्माधर्म नहीं है अपितु मनुष्य स्वाभाविक रुप से या स्वभाव से सुखी तथा दु:की हुआ करता है। इससे भिन्न अन्य कोई कारण उपलब्ध नहीं हो सकता है।

6.4 सारांश

इस इकाई में भारतीय दर्शन में प्रतिपादितकार्य–कारण सम्बन्धकी समस्या का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में जगत् की उत्पत्ति, परिवर्तन और विनाश को समझने के लिए कारण और कार्य के स्वरूप पर गहन चिन्तन किया

गया है। विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने दार्शनिक आधारों के अनुसार कार्य और कारण के सम्बन्ध की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दी हैं। सांख्य दर्शन केसत्कार्यवादके अनुसार कार्य अपने कारण में पूर्व से ही विद्यमान रहता है और उत्पत्ति का अर्थ केवल उसका प्रकटीकरण है। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में असदकरण, उपादानग्रहण, सर्वसम्भवाभाव, शक्तस्य शक्यकरण और कारणभाव—इन पाँच हेतुओं द्वारा इस सिद्धान्त को प्रमाणित किया है। सत्कार्यवाद के अन्तर्गत परिणामवाद और विवर्तवाद दो प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं। परिणामवाद वास्तविक परिवर्तन को स्वीकार करता है, जिसके अनुसार कारण स्वयं परिवर्तित होकर कार्य बनता है; यही मत सांख्य, योग और विशिष्टाद्वैत में प्राप्त होता है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त काविवर्तवादयह प्रतिपादित करता है कि ब्रह्म में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता, जगत् केवल माया के कारण उत्पन्न भ्रान्त प्रतीति है। न्याय–वैशेषिक दर्शन काआरम्भवाद या असत्कार्यवादसत्कार्यवाद का विरोध करता है। इसके अनुसार कार्य कारण में पूर्व से विद्यमान नहीं रहता, बल्कि निमित्त कारणों के संयोग से नवीन रूप में उत्पन्न होता है। न्याय दर्शन में प्रागभाव, अत्यन्ताभाव, कार्य और कारण की स्पष्ट परिभाषाएँ दी गई हैं तथा अन्यथासिद्ध के भेदों के माध्यम से कारण–कार्य सम्बन्ध का विश्लेषण किया गया है।

बौद्ध दर्शन काप्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्तकारण–कार्य की परस्पर निर्भरता को स्वीकार करता है। इसके अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति स्वतंत्र नहीं, बल्कि कारणों और प्रत्ययों पर आश्रित होती है। द्वादश निदानों के चक्र द्वारा जन्म–मरण और संसार की निरन्तरता को समझाया गया है, जिसका मूल कारण अविद्या मानी गई है। अन्त में चार्वाक दर्शन कास्वभाववादप्रस्तुत किया गया है, जिसमें जगत् की विविधता और कार्यों की उत्पत्ति का कारण किसी ईश्वर, कर्म या नैतिक नियम में न मानकर वस्तुओं के स्वभाव में माना गया है। अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता आदि को स्वाभाविक गुण मानते हुए चार्वाक कार्य–कारण सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। इस प्रकार यह इकाई भारतीय दर्शन में कार्य–कारण सिद्धान्त के विविध रूपों—सत्कार्यवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद, असत्कार्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद और स्वभाववाद—का समग्र एवं तुलनात्मक बोध कराती है तथा यह स्पष्ट करती है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कारण–कार्य की समस्या को कितनी गहराई और विविधता के साथ समझा गया है।

6.5 बोधप्रश्न

1. सत्कार्यवाद का प्रमुख प्रतिपादक दर्शन कौन-सा है?

(क) न्याय (ख) बौद्ध

(ग) सांख्य (घ) चार्वाक

2. 'असदकरणात्' हेतु किस सिद्धान्त से संबंधित है?

(क) विवर्तवाद (ख) परिणामवाद

(ग) सत्कार्यवाद (घ) स्वभाववाद

3. परिणामवाद में कार्य और कारण का सम्बन्ध कैसा माना गया है?

(क) पूर्णतः भिन्न (ख) भ्रान्तिजन्य

(ग) वास्तविक परिवर्तनयुक्त (घ) असंबद्ध

4. विवर्तवाद के अनुसार जगत् किसके कारण प्रतीत होता है?

(क) प्रकृति (ख) कर्म

(ग) माया (घ) स्वभाव

5. न्याय–वैशेषिक दर्शन किस सिद्धान्त को स्वीकार करता है?

(क) सत्कार्यवाद (ख) परिणामवाद

(ग) विवर्तवाद (घ) असत्कार्यवाद

6. किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके अभाव को क्या कहा जाता है?

(क) अत्यन्ताभाव (ख) प्रागभाव

(ग) अन्यथासिद्ध (घ) समवाय

7. प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त किस दर्शन से संबंधित है?

(क) सांख्य (ख) न्याय

(ग) बौद्ध (घ) वेदान्त

8. द्वादश निदानों का मूल कारण क्या माना गया है?

(क) तृष्णा (ख) कर्म

(ग) संस्कार (घ) अविद्या

9. स्वभाववाद किस दर्शन का सिद्धान्त है?

(क) योग (ख) चार्वाक

(ग) बौद्ध (घ) सांख्य

10. विवर्तवाद के अनुसार ब्रह्म की सत्ता कैसी है?

(क) परिवर्तनीय (ख) क्षणिक

(ग) अपरिवर्तनीय (घ) नश्वर

6.6 शब्दावली

1. माया	—	ब्रह्म में जगत् की मिथ्या प्रतीति का कारण।
2. अविद्या	—	सत्य ज्ञान का अभाव, बन्धन का मूल।
3. प्रागभाव	—	उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव।
4. अत्यन्ताभाव	—	पूर्ण और सर्वकालिक अभाव।
5. व्यवहारिक सत्ता	—	अनुभव में सत्य प्रतीत होने वाली सत्ता।
6. पारमार्थिक सत्ता	—	परम एवं अंतिम सत्य रूप सत्ता।
7. प्रातिभासिक सत्ता	—	भ्रान्ति से उत्पन्न प्रतीत होने वाली सत्ता।
8. विकार	—	किसी वस्तु का तत्त्वसहित अन्य रूप में परिवर्तन।
9. उत्पत्ति	—	किसी कार्य का अस्तित्व में आना।
10. नाश	—	उत्पन्न वस्तु का विनष्ट होना।
11. अध्यारोप	—	किसी वस्तु पर अन्य वस्तु का मिथ्या आरोप।

6.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सर्वदर्शनसंग्रहः, प्रो०उमाशंकरशर्मा 'ऋषि), चौखम्बाविद्याभवनवाराणसी- 2010
2. भारतीयदर्शनआलोचनऔरअनुशीलन, चन्द्रधरशर्मा, मोतीलालबनारसीदास- 2004
3. सांख्यकारिका, डॉ (कु.) विमलाकर्णाटक, चौखम्भापब्लिशर्स, दिल्ली - 2009

4. भारतीयदर्शन, डॉ. नन्दकिशोरदेवराज, उत्तरप्रदेशहिन्दीसंस्थान, लखनऊ – 2002
5. भारतीयदर्शनकीरूपरेखा, प्रो०हरेन्द्रप्रसादसिन्हा, मोतीलालबनारसीदास- 2012
6. भारतीयदर्शन, पद्मभूषणआचार्यबलदेवउपाध्याय, शारदामंदिरवाराणसी – 2016
7. भारतीयदर्शन, प्रो०सुरेन्द्रसिंहनेगी, के.एल. पचौरीप्रकाशन, सागर – 2001
8. वेदान्तसारः, डॉआद्याप्रसादमिश्र, अक्षयवटप्रकाशन, इलाहाबाद - 1999

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 – सत्कार्यवादकार्य-कारणसिद्धान्तपरटिप्पणीलिखिए।

प्रश्न 2 - बौद्धदर्शनकेकार्य-कारणसिद्धान्तकाप्रतिपादनकीजिए।

प्रश्न 3 – न्यायदर्शनकेअसत्कार्यवादकाविवेचनकीजिए।

प्रश्न 4 –स्वभाववादकाप्रतिप्रादनकीजिए।

प्रश्न 5 – 'असदकरणादुपादानग्रहणात्'०इत्यादिकारिकाकीव्याख्याकीजिए।

खण्ड- दो (Section-B)
तर्कसंग्रह

इकाई .1 न्यायदर्शन का संक्षिप्त परिचय अन्नम्भट्ट एवं कर्त्तृत्व

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 न्यायदर्शन का संक्षिप्त परिचय अन्नम्भट्ट एवं कर्त्तृत्व
1.4 सारांश
1.5 अभ्यास प्रश्न-उत्तर
1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.7 उपयोगी पुस्तके
1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में न्याय का संक्षिप्त परिचय, तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट का जीवन वृत्त तथा तर्कसंग्रह का विशेष परिचय वर्णनीय है। न्याय के संक्षिप्त परिचय में न्याय का, अर्थ, साहित्य, प्राचीन एवं न्याय न्यायवैशेषिक की साहित्य परम्परा, दोनो का माहेश्वर सम्प्रदाय होना बतलाकर न्याय के 16 पदार्थो का संक्षिप्त परिचय मात्र रखा गया है। आचार्य अन्नम्भट्ट का जीवन वृत्त, कृतिया और तर्कसंग्रह का परिचय भी यथाक्रम विवेचक है।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप निम्न तथ्यों से परिचित हो सकेंगे-

- ❖ न्याय का अर्थ, एवं साहित्य परम्परा क्या है?
- ❖ इसकी आचार्य परम्परा और साहित्य कौन-कौन से है?
- ❖ न्याय में 16 पदार्थ का स्वरूप क्या है?
- ❖ अन्नम्भट्ट का जीवन वृत्त एवं तर्क संग्रह क्या है?
- ❖ इसके अध्ययन से आप अच्छे तर्क शास्ती हो सकते है ?

1.3 न्यायदर्शन का संक्षिप्त परिचय अन्नम्भट्ट एवं कर्त्तृत्व

1.3.1 न्याय का अर्थ एवं साहित्य-

महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन का प्रवर्तन न्यायसूत्र लिखकर किया है। न्याय का अर्थ है- प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण/प्रमाणों के द्वारा अर्थ परीक्षण न्याय है ऐसा न्याय भाष्यकार वात्स्यामन का मत है। उन्होंने ही यह भी कहा है कि न्याय विद्या विशेष रूप से अनुमान का विवेचन करती है। अनुमान प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित होता है वही अन्वीक्षा है, क्योकि वही प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा ईक्षित का अन्वीक्षण होता है। उस अन्वीक्षा से जो प्रवृत्ति होती है वह आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या और न्यायशास्त्र है। वात्स्यायन ने पंचावयव अनुमान को परमन्याय भी कहा है। न्याय का लक्ष्य निःश्रेयस प्राप्ति है।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम को अक्षपाद भी कहा जाता है इनका न्यायसूत्र 5 अध्याय में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक है। इसका प्रथमसूत्र है - प्रमाण-प्रमेय.....। जिसमें षोऽश पदार्थो का सकीर्तन है। न्यायसूत्र के बाद इस पर अनेक गन्थ लिखे गये, जैसे-वात्स्यायन का न्यायभाष्य, उद्योकर का न्यायवार्तिक वाचस्पति की न्याय वार्तिक-तात्पर्य टीका, उदयन्न की न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-परिशुद्धि तथा कुसुमांजलि, जयन्त की न्याय मञ्जरी। इन ग्रन्थों में न्यायसूत्र के विरूद्ध आक्षेपो का परिहार किया गया है। प्राचीन समय का न्याय प्राचीन्याय कहा गया गया है वारहवी शताब्दी में उत्पन्न हुए गंगेश उपाध्याय ने महर्षि गौतम के केवल प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि इय सूत्र पर चार खण्डो में तत्वाचिन्तामणि नामक ग्रन्थ लिखकर नव्यन्याय का प्रवर्तन किया। इनकी शैली को छिन्नावच्छिन्न शैली कहा जाता है। तत्वचिन्तामणि पर वर्धमान की प्रकाश तथा पक्षधर मिश्र की आलोक नामक टीकाएँ विशेष प्रसिद्ध है। गंगेश वर्धमान एवं पक्षधर मिश्र के गन्थों पर अनेको भूमिकाये लिखा गया जिनसे नव्यन्याय का मिथिला शाखा उत्पन्न हुई। पक्षधर मिश्र के शिष्य वासुदेव सार्वभौम ने वंगाल के नवद्वीप में लगभग 1600 ई0 में नव्यन्याय की नवद्वीपशाखा का सूत्रपात किया। इस शास्त्र में वैय्यायिक शिरोमणि विभूतिया है। रधुनाथ

शिरोमणि, जगदीश तथा गदाधरभट्टाचार्य। तत्वचिन्ता मणि पर रघुनाथ शिरोमणि की दीधिति टीका लिखा है। गदाधर भट्टाचार्य ने दीधिति पर गदाधर लिखा/जगदीश दीधिति पर लिखी टीका जगदीशी है।

नव्यन्याय में न्यायदर्शन के तर्कविज्ञान सम्बन्धी विषयों का विशद विवेचन हुआ है। नव्यन्याय के उत्थान से प्राचीन न्याय की लोक प्रियताघटी। नव्यन्याय के उत्थान तथा प्रचार न्याय दर्शन तथा वैशेषिक मिलकर समानतन्त्र हो गये। वैशेषिक की तत्वभीमासा को भाष्यकार तात्स्यायन ने न्याय से विरूद्ध बताकर दोनों के समानतन्त्र होने के विचार का सूत्रपात किया उनका कथन भी उद्धृत करना उचित होगा-अस्त्यन्यदपिद्रव्यगुणकर्म सामान्यविशेष समवायप्रमेयम्, तद् भेदेनचाऽपरिसंख्येमम्। न्याय -न्यायसू 1.1.9 परभाष्य न्यायवैशेषिक मात्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों में उल्लेखनीय है-विश्वनाथ पंचानन की न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, अन्नम्भट्ट का तर्कसंग्रह। आचार्य केशव मिश्र की तर्कभाषा, लौगाक्षि भास्कर की तर्ककौमुदी। प्रकरण ग्रन्थों के विशेष ज्ञान के लिए श्री निवास शास्त्री की तर्कभाषा की टीका का विषय प्रवेश देखना चाहिए। न्याय और वैशेषिक के प्रवर्तक आचार्य गौतम और कनाद दोनों सोमशर्मा नामक गुरू के शिष्य थे। ये सोमशर्मा शिव के अवतार भूत थे। शिव के अवतार से प्रवर्तित ये दोनों महेश्वर सम्प्रदाय भी माने जाते है। (भण्डारकर, तर्कभाषा-इन्ट्रोडक्शन पृष्ठ 10)

1.3.2 षोऽश पदार्थ –

महर्षि गौतम ने न्याय सूत्र में 16 पदार्थो का नाम संकीर्तन प्रथम सूच में ही किया है।- 16 पदार्थ है प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, जाति और निग्रहस्थान।

1.प्रमाण- यर्थाथ ज्ञान प्राप्त करने के साधन को प्रमाण कहते है। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये चार प्रमाण गये है। इस पर तर्कसंग्रह में बताया जायेगा।

2.प्रमेय - प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते है। न्याय दर्शन 12 प्रमेयों को स्वीकार करता है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष प्रेत्यभाव (पुर्नजन्म), फल (सुख और दुःख का साक्षात्कार) एवं अपवर्ग।

3. संशय - एक ही वस्तु के नाना विरोधी धर्मो की उत्पत्ति के कारण मन में जो विमर्श उत्पन्न होता है उसे संशय कहते है। जैसे मन्द अन्धकार में दूरस्थ वस्तु के विषय में यह विमर्श होना कि वह स्थाणु है या पुरूष, तब मन की वह अवस्था संशय की कोटि में आती है।

4.प्रयोजन - जिससे प्रयुक्त हुआ व्यक्ति प्रतृत्त होता हे, वह प्रयोजन है और वह सुख की प्राप्ति तथा दुःख की हानि ही है।

5.दृष्टान्त- वादो प्रतिवादों की सहमति का विषय जो अर्थ है वह दृष्टान्त है। वह दो प्रकार का होता है एक तो साधर्म्य दृष्टान्त तथा दूसरा वैहार्म्पदृष्टान्त।

6.सिद्धान्त - प्रामाणिक रूप से माना गया अर्थ सिद्धान्त है। वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त तथा अभ्युपगम सिद्धान्त के भेद से चार प्रकार हेाता है।

7.अवयव - अनुमान वाक्य के अंश अवयव है वे 5 है प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। साध्यधर्म से विशिष्ट पक्ष का कथन करने वाला वाला प्रतिज्ञा है। तृतीया विभिक्त वाला या पंचमी विभक्ति वाला लिड्म् का प्रतिपादक बचन हेतु है। व्याप्ति के साथ दृष्तान्त का कथन उदाहरण है। पक्ष में लिड्म् का उपसंहार करने वाला बचन उपनय है और पक्ष साध्य का उपसंहार करने वाला वचन निगमन है।

8.तर्क - प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध करने के लिए उसकी विपरीत कल्पना में जो दोष दिखाया जाता है उसे तर्क कहते हैं। तत्वज्ञान का प्राप्ति में वह तत्वों का सहयोगी है।

9.निर्णय - निश्चित ज्ञान ही निर्णय है औरवह प्रमाणों का फल है।

10.वाद - तत्व को जानने के इच्छुक लोगों की कथा बाद है वह बाद आठ निग्रह स्थानों का अधिकरिण (विषय क्षेत्र) होता है।

11.जल्प - जिसमें (पक्ष तथा प्रतिपक्ष) दोनों को सिद्ध किया जाता है वह विजय के इच्छुक जनों की कथा जल्प है और वह यथा सम्भव सभी निग्रह स्थानों का अधिकरण होता है। दूसरे का पक्ष खण्डित हो जाने पर अपने पक्ष की सिद्धि करने में इसकी समाप्ति होती है।

12.वितण्डा - जल्प ही जिसमें अपने पक्ष की स्थापना नही की जाती है अपितु परपक्ष का खण्डन मात्र में पर्यवसान हो वितण्डा कहा जाता है।

13.हेत्वाभास - उस हेतु को कहा जाता है जो वस्तुतः हेतु नही है लेकिन हेतु, जैसे प्रतीत होता है। इन्हे अनुमान के दोष के रूप में भी माना जाता है। ये पाच है सव्यभिचार, सतप्रतिपक्ष, विरूद्ध, असिद्ध और वाधित।

14.छल - अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का अन्य अर्थ मानकर दोष दिखलाना छल है। जैसे यह विधार्थी नव कम्बल वाला है इस वाक्य में नवीन के अर्थ में प्रयुक्त नव शब्द का सस्यापरक अर्थ करके दोष दिखलाना कि इसके नौ कम्बल नही है। यह छल है।

15.जाति - प्रतिवादी कोई दोष रहितयुक्ति का भी साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर किसी दुष्ट अनुमान के द्वारा खण्डन करना ही जाति है। तर्कशाषा में इसे असद् उत्तर कहा गया है। इसके भेदों के ज्ञान के लिए तर्कभाषा का अध्ययन करना चाहिए।

16.निग्रह स्थान - वाद - विवाद में जहॉ पराजय का स्थान पहुॅच जाता है, उसे निग्रह कहते हैं। इसके दो कारण है। गलत ज्ञान या अज्ञानता। इसके न्यून अधिक अपसिद्ध आदि भेद तर्कभाषा में देखें।

1.3.3 अन्नम्भट्ट का जीवन वृत्त –

अन्नम्भट्ट वस्तुतः किस समय और किस देश में उत्पन्न हुए इसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार अन्नम्भट्ट तैलंग ब्राह्मण थे उनका जन्मभूमि गरिक पाद नामक गॉव था जो उस समय यवन राज निजाम आली के अधिकार क्षेत्र में था वह अन्नम्भट्ट चालुक्य नरेश के समय 15 शताब्दी ई0 में उत्पन्न हुए और अत्यन्त परिश्रम पूर्वक 12 वर्षो में कौडिन्यपुर नामक स्थान पर न्याय शास्त्र का अध्ययन करने के उपरान्त न्यायायिकों में प्रसिद्धि पाये। उन्होने अपने जन्मभूमि पर कोई पाठशाला भी बनाया था, जहां पर वह विद्यार्थियों को तर्कसंग्रह, तर्कदीपिका, सिद्धान्त मुक्तावली और गादाधरी पढ़ाया करते थे एक बार उन्होने मल्लिकार्जुन तीर्थ का दर्शन भी किया था। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष में उल्लिखित इस विचार से श्री हरिहर शास्त्री अपनी असहमति प्रकट किये हैं।

वेवर महोदय संस्कृत भाषा के पाश्चात्य विद्वान रहे हैं। उन्होने तर्क संग्रह के लेखन का समय 1425 ई0 पूर्व बताया है (वेवर्स वरर्लिंग केटलाग नं0 683 पृष्ठ 203) इसके आलोक में उन्होने एक श्लोक वहा पर संन्निवेशित किया है ''तपोमास्यसिते कृष्णे चन्द्रनागाब्धिचन्द्रकैः। वाराणस्यां मिते वर्षे स्वार्थमिन्दुर्लिलेख वै।। वेवर ने 1481 ई0 के स्थान पर 1425 ई0 तर्क संग्रह के लेखन का समय लिख दिया किन्तु वह उचित नही है। कुछ विद्वान अब्धिशब्द से 7 संख्या का बोध स्वीकार करते है न कि चार का। किन्तु संस्कृत वाड्मय् में अब्धि चार का वाचक है न

कि 7 का। हरिहर शास्त्री ने तर्कसंग्रह की भूमिका के बारहवें पृष्ठ पर अन्नम्भट्ट विषय में कुछ अन्य उपयोगी जानकारियॉ उपलब्ध कराया हैं उसे वही से साभार दिखाया जा रहा हे।

अन्नम्भट्टः खलु सूनुरासीदद्वैतविद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलावतंसतिरूमलस्येति तत्कृत 'दीपिका' ऽन्तिलेखेनाऽवगम्येते। शर्मण्यदेशीयविद्वत्प्रवरेण ज्याकविना समुपलब्धायां 'तर्कसंग्रहदीपिकायां' 1634 शाकाब्दे (1712 खृ0)लिखितायाम्-

''इति श्रीमदद्वैतविद्याचार्य-श्रीमद्राघवसोमयाजिकुलावतंस-श्रीमत्तिरूमलाचारूय्वर्यस्य सूनुनाऽन्नम्भट्टेन कृता स्वकृततर्कसंग्रहस्य दीपिका सम्पूर्णा।'' इत्येवमक्षराणि सन्ति।

अन्ये तु--''एतादृशस्य चास्य तर्कसंग्रहस्य रचयिता श्रीमान् अन्नम्भट्टः आन्ध्रेषु कृष्णाया नद्याः पावनेन पवनेन परिशीतलं किमपि भूखण्डमात्मना मण्डयामासेत्यवगम्यते।'अन्नम्भट्ट' इति प्रसिद्धाभिजनबिरूदा ऋग्वेदिनों द्विजन्मानः कृष्णातीरोपान्तवर्त्तिनि केशवपुरामिधे ग्रामे सांप्रतमपि सन्तीति श्रृणुमः। अयं हि पण्डितमणिः श्रीराघवसोमयाजिकुले समुत्पन्नश्रीतिरूमलाचार्यवर्यस्य सूनुरित्यवगच्छामः, यतोऽनेनैव महापण्डितेन विरचिते कैयटव्याख्याने इति श्रीमहामहोपाध्यायाद्वैतविद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलावतंसश्रीतिरूमलाचार्यवर्यस्य सूनोरन्नम्भट्टस्य कृतिषु भाष्यप्रदीपोद्द्योतने' इत्येवं तत्तदाह्निकावसाने वर्णावलिरवलोक्यते। अस्य च अग्रजो महापण्डितो रामकृष्णभट्टः, येन सिद्धान्तकौमुद्याः सिद्धान्तरत्नाकरं नाम व्याख्यानमाविष्कुर्वता नागेशभट्टादीनामपि मार्गदर्शिना बभूवे इति कतिचन कथयन्ति। मुल्लिनाथात्परस्तात् पुरस्ताच्च भट्टोजिदीक्षितादयं महाशय आसीदिति तु विश्वसन्ति बहवः।'' - इति व्याहरन्ति तच्चिन्त्यम्।

अनेन च पण्डितप्रकाण्डेनाऽन्नम्भट्टेन 'मिताक्षरा' 'भाष्यप्रदीपोद्द्योतनम्', इत्यमिधेयं व्याख्यानद्वयमपि प्राणीयत। तत्र 'मिताक्षरा' नाम कतमस्य ग्रन्थस्य व्याख्यानरूपेत्यत्रास्ति विप्रतिपत्तिः। सा च बादरायणकृतब्रह्मसूत्रटीति केचित्। अन्ये तु सा पाणिनीयसूत्रवृत्तिरिति मन्यन्ते।

1.3.4 तर्कसंग्रह का परिचय –

तर्कसंग्रह अन्नम्भट्ट की अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। यह एक प्रकरण ग्रन्थ है। प्रकरण में शास्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन नही किया जाता। केवल कतिपय विषयों का प्रतिपादन किया जाता है जिनका विवेचन शास्त्र से भिन्न प्राकर का होता है। (शास्तैकदेशसम्बद्धमं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्/आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।) तकसंग्रह की विषय वस्तु में वैशेषिक दर्शन की तत्वमीमान्सा है और न्याय दर्शन की ज्ञानमीमान्सा। इसमें अत्यन्त ही वैज्ञानिक पद्धति से मंगलाचरण के अनन्तर सात पदार्थो का नाम संकीर्तन है। सात पदार्थ है- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष समवाय और अभाव। अनन्तर द्रव्यखण्ड में सम्पूर्ण 9 द्रव्यों पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अग्नि, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन का लक्षण एवं भेद पर प्रकाश डाला गया है। गुण प्रकरण में चौबीस गुणों - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण्, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व, अपत्व, गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार के लक्षण एवं भेदादि का निरूपण है। गुणों में बुद्धि की विशेष महिमा है। ज्ञान से इच्छा और उसी से व्यवहार प्रवृत्ति होती है। वुद्धि गुण के विश्लेषण में न्याय की ज्ञानमीमांसा के अभिनव स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ है इसी में अनुभव स्मृति, अयथार्थ और यथार्थ अनुभव, यथार्थ अनुभव के प्रत्यक्ष अनुमिति,उपमिति, शाब्द भेद, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द प्रमाण सभेद वर्णित है। प्रमा का करण बताने के पूर्व ही त्रिविध कारण भी वर्णित

है। गुणों के बाद लक्षण सहित कर्म के भेद, समान्य का लक्षण भेद, विशेष का स्वरूप, समवाय का स्वरूप, तथा अभाव के चार भेदों का लक्षण करके ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है। अन्त में आचार्य ने इस ग्रन्थ का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है -

काणदन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।। अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः।। अर्थात विद्वान अन्नम्भट्ट द्वारा लिखित तर्क संग्रह बच्चों को न्याय और काणादमत का ज्ञान कराने के लिए है। तर्क संग्रह पर बहुत सी टीकायें लिखी गयी है उनका संख्या निर्देश आवश्यक है।

1.	तर्कदीपिका	अन्नम्भट्ट
2.	न्यायबोधिनी	गोवर्धन मिश्र
3.	सिद्धान्तचनद्रोदयः	श्रीकृष्णधूर्जटिदीक्षित
4.	पदकृत्यम्	चन्द्रजसिंह
5.	तर्कसंग्रहतत्वप्रकाशः	नीकण्ठ
6.	तर्कसंग्रह टिप्पणी	पट्टाभिराम
7.	तर्कसंग्रह चन्दिका	मुकुन्दभट्ट
8.	वाक्यवृत्तिः	मेरूशास्त्री
9.	तर्कसंग्रहटीका	अनन्तनारायण
10.	तर्कफक्किा	क्षमाकल्याण
11.	न्यायार्थलघुबोधिनी	गोवर्धनरंगाचार्य
12.	तर्कसंग्रहटीका	गौरीकान्त
13.	तर्कसंग्रहतरग्गिणी	विन्ध्येश्वरी प्रसाद
14.	तर्कचन्द्रिका	वैद्यनाथ
15.	तर्कशारदा	योगेन्द्र कुमार

इनके अलावा एक टीका तर्कसंग्रह वाक्यार्थ निरूक्ति अज्ञात लेखक की मिलती है।

1.4 अभ्यास प्रश्न

1. प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण है।

अ. वैशेषिक ब. न्याय

स. साख्य द. योग

2. न्याय के प्रवर्तक है।

अ. गदाधर ब. अन्नम्भट्ट

स. गौतम द. कपिल

3. न्यायसूत्र में कुल अध्याय है।

अ. 4 ब. 3

स. 2 द. 5

4. न्याय भाष्कार है।

अ. उदयन ब. विश्वनाथ

स. वात्स्यान द. गदाधर

5. सुमेलित है नव्यन्याय के प्रवर्तक हैं।

अ. गंगेश उपाध्याय ब. पक्षधर मिश्र

स. वासुदेश सार्वभौम द. वाचस्पति

6. न्याय में पदार्थो की संख्या है।

अ. 16 ब. 26

स. 7 द. 10

7. न्याय में कितने प्रमाण स्वीकृत हैं।

अ. 2 ब. 4

स. 3 द. 6

8. तत्वचिन्तामणि रचन है।

अ. गंगेश की ब. वात्स्यायन की

स. उधोत्कर की द. लौगमक्षि भास्कर

9. न्याय में प्रमेय है।

अ. 10 ब. 8

स. 12 द. 6

10. जिससे प्रयुक्त हुआ व्यक्ति प्रवृत्त होता है वह है।

अ. संशय ब. दृष्टान्त

स. छल द. प्रयोजन

11. पक्ष में लिड.ग का उपसंहार करने वाला वचन है।

अ. उपनय ब. निगमन

स. प्रतिज्ञा द. हेतु

12. निश्चित ज्ञान है -

अ. निर्णय ब. वितण्डा

स. जल द. छल

13. तर्कसंग्रह ग्रन्थ है।

अ. सूत्र ब. भाष्य

स. वार्तिक द. प्रकरण

1.5 सांराश

न्यायदर्शन के प्रवर्तक आचार्य गौतम है उनकी रचना है न्यायसूत्र। न्यायसूत्र पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा इस पर वार्तिक आदि लिखे गये गंगेश उपाध्याय ने नब्य न्याय का सूत्रपात तत्वचिन्तामणि से किया। न्यायदर्शन सोलह पदार्थों को मान्यता देता है जो ज्ञान की प्रक्रिया के अंग है। अन्नम्भट्ट लिखित तर्कसंग्रह एक प्रकरण ग्रंथ है अन्नम्भट्ट, तैलंग ब्राह्मण थे। तर्कसंग्रह वैशेषिक की प्रधानतावाला प्रकरण ग्रंथ है इस पर न्याय वोधिनी आदि बहुत सी टीकाये लिखी गयी। यह अत्यन्त ही सरल एवं न्याय वैशेषिक के सिद्धन्तों में बालकों को प्रवेश कराने में समर्थ ग्रंथ है।

1.6 उत्तरमाला

1.	ब	2.	स	3.	द	4.	स	5.	अ	6
अ	7.	ब	8	अ	9	स	10.	द	11	अ
12	अ	13.	द							

1.7 संदर्थग्रन्थसूची

इस इकाई के लेखन में निम्न ग्रन्थों से सहायता ली गयी है।

1.भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण डा0 संगम लाल पाण्डेय सेन्ट्रल पब्लिसिंग हाउस इलाहाबाद

2. भारतीय दर्शन की रूप रेखा डा0 बद्रीनाथ सिंह आशा प्रकाशन वाराणसी

3. भारतीय दर्शन नन्द किशोर देवराज

4. तर्कसंग्रह श्री हरिहर शास्त्री

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

इस इकाई का अध्ययन करने के लिए आप निम्न ग्रन्थों का सहयोग ले सकते हैं।

1.भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण डा0 संगम लाल पाण्डेय सेन्ट्रल पब्लिसिंग हाउस इलाहाबाद।

2. भारतीय दर्शन की रूप रेखा डा0 बद्रीनाथ सिंह आशा प्रकाशन वाराणसी।

3. तर्कसंग्रह श्री हरिहर शास्त्री।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायदर्शन का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

2. अन्नम्भट्ट का व्यक्तित्व कृतित्व का परिचय दीजिए।

इकाई. 2 तर्क संग्रह-, मंगलाचरण से शब्द लक्षण वर्णन तक

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 मंगलाचरण से शब्द लक्षण वर्णन तक
2.3.1 मंगलाचरण व पदार्थोद्देश प्रकरण
2.3.2 गुण प्रकरण
2.4 सांराश
2.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला
4.6 संदर्भ ग्रंथ सूची
2.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

आचार्य अन्नम्भट्ट की रचना तर्क संग्रह एक प्रकरण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य बालकों को न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तो का सरलता पूर्वक ज्ञान कराना है। इस ईकाई में ग्रन्थ के मंगलाचरण, पदार्थोद्देश प्रकरण द्रव्य का सभेद लक्षण व भेद पर विचार किया गया है। इसके साथ ही गुण प्रकरण में रूप रस गन्ध स्¬पर्श संख्या,परिमाण, पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व गुरूत्व द्रवत्व स्नेह और शब्द के स्वरूप पर विचार किया गया है। पदार्थोद्देश प्रकरण में सात पदार्थो का नाम संकीर्तन किया गया है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई के अध्ययन से आप निम्न तथ्यों से परिचित होंगे -

मंगलाचरण का प्रयोजन क्या है ?

वैशेषिक दर्शन में मान्य सात पदार्थ कौन-कौन है ?

द्रव्य की संख्या व स्वरूप क्या है ? और वर्णित गुणों का स्वरूप क्या है ? आदि

2.3 तर्क संग्रह मंगलाचरण से शब्द लक्षण वर्णन तक

इस ईकाई में मंगलाचरण, पदार्थोद्देश, द्रव्य प्रकरण और गुण प्रकरण पर प्रकरण निर्धारित है।

2.3.1 मंगलाचरण व पदार्थोद्देश प्रकरण

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरू वन्दनम् ।

बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ।।

अर्थः- जगत के नियंता भगवान शिव को हृदय में स्थापित करके, विद्या गुरू को नमस्कार करके बालको को सुख से पदार्थो का बोध कराने के लिए अन्नम्भट्ट के द्वारा तर्क संग्रह रचा जा रहा है।

शारदा व्याख्याः- श्री गणपति गुनगन कछु गाऊ। मातु शारदा सतत मनाँऊ। गुरू भगवन्त चरण रज आँजू इनकी कृपा शारदा साजू।।

विश्वेशं हृदि निधाय- विश्व के ईश अर्थात जगन्नियन्ता भगवान शिव को हृदय में धारण कर इसे कहने का रहस्य है-

आरोग्यं भाष्करादिच्छे च्छियमिच्छेद्धुता शनात् ।

ईश्वराज्ज्ञानभन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्।। (लौंगाक्षिस्मृति)

गुरूवन्दनम्विधाम - गुरू जी को नमस्कार करके । यस्य देवे परा भक्तर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्मै कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः (श्वेताश्वतयेपनिशद् 623) एवं देवमिवाचार्यमुपासीत (आपस्तम्ब1.6.13)इन् श्रुति एवं स्मृति का अनुशासन मानकर गुरू को प्रणाम करना अन्नभट्ट की गुरू के प्रति श्रद्धा प्रकट करता है।

बालानां सुखबोधाय - बालको को आसानी से बोध कराने के लिए बाल का अर्थ स्तन्ध्य नहीं है ग्रहणधारणपटुर्बाल - जो सीखने और अन्तःकरण मे स्थापित करने मे चतुर है वही बाल है । बालको को सरलता से न्याय एवं सर्व वैशेषिक शस्त्र मे प्रवेश कराने योग्य जो विषय हो अनका सरलता से ज्ञान हो जाये ऐसा प्रयोजन है इस रचना का ।

तर्कसंग्रह क्रियते - तर्क संग्रह रचा जाता है। तर्को का संग्रह तर्क संग्रह तर्कयन्ते प्रतिपाद्य इति तर्काः द्रव्यादि सप्तपदार्थोस्तेंषां संग्रहः संक्षेपेण स्वरूपकथनम् अर्थत जो प्रतिपादित किये जाते है

वही तर्क है वे है द्रव्यादि सात पदार्थ उनका संक्षिप्त रूप से स्वरूप कहना ही तर्क संग्रह है स्वरूपकथन से आशय है उद्देश लक्षण परिक्षा । नाम मात्र से वस्तु का संकीर्त न उद्देश है । असाधरण लक्षण है लक्ष्य मे लक्षण घटित होता है या नही इसका विचार ही परीक्षा है परीक्षा मे धर्म लक्षण है। व असम्भव दोष राहित्य दिखाया जाता है ।

टिप्पणी - अन्नमभट्ट ने वेदेवोधित् कर्तव्य का पालन करने के लिए, ग्रन्थकार् शिष्यों को शिक्षा देने के लिए और अनिष्ट का वारण करने के लिए मंगलाचरण किया है।

पदार्थ उद्देश प्रकरण -

पदार्थ के सात भेद - द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावातःसप्तपदार्थाः

अर्थ - द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव येही सात पदार्थ हे ।

शारदा: - द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय ये छः भाव पदार्थ है। यद्यपि इनकी संख्या केवल सात ही है फिर भी सप्त पद को सन्निवेशित करने से और अधिक संख्या मे पदार्थो की संभावना वारित हो जाती है । पदार्थ क्या है ऐसी अपेक्षा पर पदस्यार्थः पदार्थः इस व्युतपत्ती के अनुसार अभिधेयता ही पदार्थ सामान्य का लक्षण है । सप्तपदार्थी मे प्रमिर्तिविषयाः पदार्थाः कहा गया है अर्थात पदार्थ प्रमिति के विषय है । पदार्थो का सामान्य लक्षण करते हुए आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है षण्णामापि पदार्थनामस्तित्वाभिधेमत्वज्ञेयत्वानि अर्थात पदार्थ के तीन लक्षण है अस्तित्व ज्ञेयता अभिधेयता । कणाद् एवं प्रशस्त वाद ने 6 पदार्थों को माना था बाद मे शिवादित्य ने सप्तपदार्थी मे 7 पदार्थो का विचार दिया पदार्थो का वास्तविक रूप से अस्तित्व अस्वीकार करने से यह वस्तुवादी दर्शन है ।

द्रव्य के नव भेद -तत्र द्रव्याणि पृथिव्यपतेजावायवाकाशाकालदिगात्ममनांसि नवैव ।

अर्थ - उन साथ पदार्थो में – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन ये नौ ही द्रव्य है ।

शारदा- द्रव्य के भेदो को बतलाया जा रहा है और जिन सात पदार्थों का संकिर्तन किया है उन्ही मे प्रथम पदार्थ है द्रव्य उस द्रव्य के मात्र नौ भेद है वे है - पृथ्विी जल तेज वायु आकाश् काल दिक आत्मा एवं मन यद्यपि मीमांसक अंन्धकार को स्वतंन्त्र रूप से द्रव्य मानते है किन्तु अन्धकार के तेज अभाव रूप होने से वैशैषिक उसका स्वतंन्त्र रूप से सत्ता नही मानते है। दीपिका ने द्रव्य का लक्षण किया है द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्तवं वा द्रव्यसामान्य लक्षणम् । पदकृत्यटीका मे द्रव्य का लक्षण है द्रव्यत्वं जातिमत्वं गुणवंत्तवं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम अर्थात् द्रव्यवह है जिसिमे द्रव्यत्व जाति रहती है अथवा जो कार्यमात्र का समवायी कारण है ।

गुण के चौवीस भेद -

रूप-,रस-,गन्ध-,स्पर्श-संख्या - परिमाण- पृथक्त्व- संयोग-विभाग- परत्वा-ऽपरत्व-गुरूत्व,द्रवत्व-स्नेह- शब्द-, बुद्धि- सुख- दुःख्च्छा-द्वेष प्रयत्न-धर्माऽधर्म-संस्काराश्चतुर्तिशतिर्गुणाः।

अर्थ- रूप,रस,गन्ध,स्पर्श संख्या परिमाण पृथकत्व संयोगविभाग परत्व अपरत्व गुरूत्व द्रवत्व स्नेह शब्द बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेश प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार यह चौबीस गुण है।

शारदा-सात पदार्थो में द्वितीय पदार्थ गुण है उनकी संख्या 24 ही है। गुण का सामान्य लक्षण है द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवत्वं गुणसामान्यलक्षणम् अर्थात द्रव्य और कर्म से भिन्न होकर जिसमे सामान्य रहता हैं। उसे गुण कहते है। तर्कभाषा में गुण के स्वरूप निम्नवत है।- सामान्यवान्

असमवायिकारणम् अस्पन्दात्मागुणः स च द्रव्याश्रित एव - अर्थात सामान्य से युक्त असमवायि कारण होने वाला कर्म स्वरूप न होने वाला गुण कहलाता है। वह द्रव्य के आश्रित होता है।

इन्द्रिय और विषय के रूप में त्रिविध है। शरीर का लक्षण है - चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् (1.1.11न्यायसूत्र) अर्थात चेष्टा और इन्द्रियार्थ का आश्रय शरीर है। वात्स्यायन के अनुसार शरीर भोगायतन है। शरीर दो प्रकार का होता है योनिज और अयोनिज। शुक्र शोणित के संयोग से उत्पन्न शरीर योनि शरीर है। जो विना रजवीर्य के संयोग के उत्पन्न होता है वह अयोनिज शरीर है। योनिज शरीर के जरायुज और अण्डज दो भेद है। मनुष्य जरायुज शरीर है। सर्प अण्डज शरीर है। अयोनिज शरीर के तीन भेद है- स्वेदज शरीर जैसे जू खटमल आदि । उदभिज शरीर जैसे लता वृक्ष आदि और अदृश्टविशेषशरीर - यह शरीर धर्म विशेष से उत्पन्न होता है। जैसे मनु आदि का शरीर इन्द्रिय का लक्षण है शरीर से संयुक्त अतीन्द्रिय(प्रत्यक्ष का विषय न होने वाला) ज्ञान का करन इन्द्रिय है (तर्कभाषा) गन्ध को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय घ्राण है। यह पृथ्वी से सम्बन्धित है। उसका आश्रय नासिका का अग्रभाग है । गन्ध का ग्रहण करना उसका प्रयोजन है। विषय शरीर और इन्द्रिय से भिन्न है जैसे मिट्टी पत्थर आदि।

जल (आप) का लक्षण व भेदः-

शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः- नित्या अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः। अनित्याः कार्यरूपाः पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरूणलोके इन्द्रियं रसग्राहं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।

अर्थः- शीतल स्पर्श वाला जल है वह दो प्रकार का है। नित्य और अनित्य । परमाणु रूप जल नित्य है । और कार्य रूप जल अनित्य है। अनित्य जन शरीर इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का होता है वरूण लोक में जल का शरीर होता है। जल का इन्द्रिय रस को ग्रहण करने वाला रसनेन्द्रिय है। जो जिह्वा के अग्र भाग में रहता है। जल का विषय है नदी और समुद्रादि।

शारदा- शीतस्पर्शवत्य आपः लक्षण में शीत पद न रखा जाता तो तेज आदि में लक्षण की अतिवयाप्ति हो जाती । जल एक रसायन है। इस रहस्य को सबसे पहले बाल्मीकि ने बताया है-

नव मासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।

पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम् ।। वाल्मीकि रामायण किस्किन्धा काण्ड 28.3

तेज का लक्षण एवं भेदः-

उष्णस्पर्षवत्तेजः। तच्च द्विविध-नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्,अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधं-शरीरेन्द्रियविषयभेदात। शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षु कृष्ण ताराऽग्रवर्ति । विषयस्तुर्विधः-भौमदिव्योदयकिरजभेदात् भौमं वह्न्यादिकम् । अबिन्धनम् दिव्यं विधुदादि। भुक्तस्य परिणामहेतु रूदर्यम् । आकरजं सुवर्णादि।

अर्थः- उष्ण स्पर्श वाला तेज है। उसके दो भेद है। नित्य और अनित्य परमाणु रूप तेज नित्य है। और कार्य रूप तेज अनित्य है। अनित्य तेज शरीर इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है। तेज का शरीर आदित्य लोक में प्रसिद्ध है। तेज का इन्द्रिय रूप (रंग) का ग्रहण करने वाला चक्षु है। वह काली तारा (पुतली) के अग्र भाग में रहता है। तेज के विषय चार है। भौम दिव्य उदर्य और आकरज- अग्नि आदि भूमि में रहने वाला तेज है। जल रूप इन्धन वाला तेज दिव्य तेज है , जैसे विजली आदि। खाये गये पदार्थ के परिणाम का कारण उदर्य तेज है। खान में उत्पन्न तेज आकरज हैं। जैसे स्वर्ण आदि ।

शारदा- उष्णस्पर्शवत्तेजः में उष्ण पद देने से जल आदि में अतिव्याप्ति नही होती ।

वायु का लक्षण एवं भेदः-

रूपरहितस्पशर्वान्वायुः। स द्विविधो-नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः अनित्यः कार्यरूपः। सः पुनस्त्रिविध -शरीरेन्द्रियविषय भेदात्। शरीरं वायु लोके। इन्द्रियं स्पर्श ग्राहकं त्वक सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः शरीराऽन्तःसंचारी वायुः प्राणः स चैकोऽपि उपाधिभेदात् प्राणाऽपानादि संज्ञा लभते।

अर्थः- रूप रहित स्पर्श वाला वायु है उसके दो भेद है। नित्य और अनित्य नित्य वायु परमाणु रूप है और अनित्य वायु कार्य रूप है । अनित्य वायु के शरीर इन्द्रिय और विषय तीन भेद है। वायु लोक में वायु का शरीर होता है। वायु का इन्द्रिय स्पर्श का ग्रहण करने वाला त्वचा है। और वह समस्त शरीर में रहने वाला है। वायु का विषय वृक्ष आदि के कम्पन का कारण है । शरीर के अन्दर संचरण करने वाले वायु को प्राण कहते है। वह एक ही है। फिर भी उपाधि के भेद से प्राण अपान समान,उदान,और व्यान संज्ञा प्राप्त करता है।

शारदा- वायु के लक्षण में स्पर्शवान पद रखने से आकाशआदि में अतिव्याप्ति नही होती है। रूप रहित पद रखने से पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति नही होती है। शरीर में प्राणादि का स्थान क्या है। इसे निम्न कारिका में देख सकते है। हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः।।

आकाश का लक्षणः- शब्द गुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं।

अर्थ- शब्द गुण वाले द्रव्य को आकाश कहते है। वह एक विभु और नित्य है।

शारदा- आकाश के लक्षण में गुण पद रखने का प्रयोजन शब्द को आकाश का विशेष गुण बताना है। न कि अतिव्याप्ति का वारण करना है। आकाश पृथिवी की तरह अनेक नही है उसके भेद में साधक प्रमाण का अभाव है। एकत्व से ही उसकी सर्वत्र उपालब्धि होने से वह विभु है।विभु का अर्थ है सभी मूर्त द्रव्य से संयुक्त होना । मूर्त का अर्थ है सीमित परिमाण वाला अथवा क्रिया वाला होना। व्यापक होने से ही आकाश का आत्मा के तुल्य नित्य होना सत्य है अतः आकाश नित्य है।

काल का लक्षण- अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।

अर्थः- अतीत आदि अर्थात भूत भविष्यत और वर्तमान के व्यवहार के कारण को काल कहते है। वह एक व्यापक और नित्य है। सर्वाधार काल सभी कार्य में निमित्त कारण होता है ।

दिशा का लक्षणः- प्राच्यादिव्यवहार हेर्तुर्दिक् सा चैका नित्या विभ्वी च। अर्थात प्राची आदि व्यवहार के कारण को दिशा कहते है। वह एक नित्य और व्यापक है।

शारदा- निरूक्त की दुर्गवृत्ति के अनुसार दिशायें सूर्य से निर्धारित होती है- आदित्योपलक्षणा एवं दिशो भवन्ति । यह पूर्व दिशा है यह दक्षिण दिशा है। यह पश्चिम दिशा है और यह उत्तर दिशा है। इत्यादि व्यवहार के कारण को दिक् कहते है

आत्मा का लक्षण एवं भेद- ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधो -जीवात्मा परमात्मा च । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीर भिन्नो विभुर्नित्यश्च

अर्थ - ज्ञान का आश्रय आत्मा है उसके दो भेद है परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा इश्वर सर्वज्ञ और एक ही है जीव प्रत्येक शरीर में भीन्न-भीन्न और व्यापक और नित्य है।

शारदा- समवाय सम्बन्ध से जो ज्ञान का जो आश्रय है वह आत्मा है। ईश्वर सर्वज्ञ है। क्योकि वह सभी परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थो का द्रष्टा है जीवात्मा के प्रति शरीर नियत होने में सुख आदि की

विचित्रता ही कारण है। जीव न तो परमाणु परिमाण है न मध्यम परिमाण है।अतः जीव नित्य और विभु है।

मन का लक्षणः- सुखाद्युपलबिधसाधनमिन्द्रियं मनः । तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च। अर्थः- सुख दुख आदि की प्राप्ति के साधन इन्द्रिय को मन कहते है वह प्रत्ये क आत्मा में नियत होने से अनन्त है परमाणु परिमाण है। परमाणु रूप और नित्य भी है।

शारदा - मन के लक्षण में इन्द्रियम पद देने से आत्मा और मन के संयोग में अतिव्याप्ति नही होती सुख पद देने से चछु आदि में अतिव्याप्ति नही होती ।

2.3.2 गुण प्रकरण

गुणों की संख्या 24 है उनमें से रूप से लेकर शब्द पर्यन्त के लक्षणआदि से परिचित होना आवश्यक है। अतः क्रमशः उनका स्वरूप आदि वर्णित किया जा रहा है।

रूप का लक्षण व भेदः- चर्क्षुमात्रिग्राह्यो गुणो रूपम। तच्च -शुल्क नील पीत रक्त हरित कपिश चित्रभेदात्सप्तविधम। पृथिवीजलतेजोवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम् । अभास्वरशुक्लं जले भास्वरशुक्ल तेजसि।

अर्थ- नेत्र मात्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण रूप है उसके सात भेद होते है। सफेद , काला, पीला, लाल, हरा, कपिश (कृष्ण पीत) और चित्कबरा। रूप गुण पृथ्वी जल और तेज में होता है। पृथ्वी में सातो रूप पाये जाते है। जल में अभास्वर शुक्ल रूप होता है।तेज में भास्वर शुक्ल रंग होता है। शारदा-रूप का आशय रंग से है। रूप के लक्षण में मात्र पद रखने से संख्या आदि मे अतिव्याप्ति नही होती तथा गुण पद रखने से रूपत्व सामान्य में अतिव्याप्ति नही होती ।

रस का लक्षण एवं भेदः- रसनाग्राह्यो गुणो रसः स च मधुरा-ऽम्ल- लवण- कटु- कषाय- तिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः । तत्र पृथिव्या षडविधः। जले मधुर एव।

अर्थ जिह्वा से ग्रहण किये जाने वाले गुण को रस कहते है । उसके छः भेद है मधुर , अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त। रस पृथ्वी और जल में रहता है। पृथ्वी में छः रस होते है जल में केवल मधुर रस होता है।

शारदा- रस के लक्षण में गुण पद देने से रसत्व में अतिव्याप्ति नही होती ।

गन्ध का लक्षण व भेद - घ्राण गा्रह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च । पृथिवीमात्रवृत्तिः। अर्थः- घ्राण से ग्रहण किये जाने वाले गुण को गन्ध कहते है उसके दो भेद है सुगन्ध और दुर्गन्ध यह केवल पृथ्वी में रहता है।

शारदा- गन्ध के लक्षण में गुण पद रखने से गन्धत्व में अतिव्याप्ति नही होती ।

स्पर्श का लक्षण व भेदः- त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणो स्पर्शः स च। त्रिविधः शीतोष्णानुष्णाशीत्भेदात्। पृथिव्यग्नेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि । अनुष्णाशीतः पृथ्वीवाय्वो।

अर्थ- त्वचा मात्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण स्पर्श है वह त्रिविध है। शीतल गरम,न शीतल न गरम । पृथ्वी जल तेज और वायु मे स्पर्श का गुण होता है। शीतल स्पर्श जल में रहता है। अग्नि में गर्म स्पर्श रहता है और न शीतल न गर्म स्पर्श पृथ्वी और वायु दोनो में रहता है।

शारदा- स्पर्श के लक्षण में गुण पद रखने से स्पर्शत्व जाति मे अतिव्याप्ति नही होती। मात्र पद रखने से संयोगादि में अतिव्याप्ति नही होती है ।

पाकज एवं अपाकज व्यवस्था -रूपादि चतुष्टयं पृथिव्याम् पाकजमनित्यं च ।अन्यत्राऽपाकजं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्य्

अर्थः- रूप रस गन्ध और स्पर्श पृथिवी में पाकज है। अर्थात अग्नि के संयोग से उत्पन्न होते है। पृथिवी से भिन्न आश्रय में अपाकज हैं। नित्य और अनित्य भी है। नित्य परमाणुओं में रूपादि है। अनित्य कार्य द्रव्य में विद्यमान ये चारो अनित्य है।

संख्या का लक्षणः- एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। सा नवद्रव्यवृतिः एकत्वादिपरार्ध पर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च । नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतम अनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्राऽनित्यमेंव।

अर्थः- एकत्वादि(यह एक है दो है आदि।) के व्यवहार के हेतु गुण को संख्या कहते है। वह पृथ्वी जल तेज अग्नि वायु आकाश काल दिक आत्मा और मन नवो द्रव्यो में रहती है। एक से लेकर परार्ध तक संख्या होती है। एक्तत्व संख्या नित्य और अनित्य दोनो होती है। नित्य द्रव्यो में रहने पर यही एकत्व नित्य होता है और अनित्य द्रव्यो का एकत्व अनित्य होता है। दो तीन चार आदि संख्याए सर्वत्र दोनो प्रकार के द्रव्यो में अनित्य होती है।

शारदा- एक से लेकर परार्धपर्यन्त संख्या निम्न कारिका में उल्लिखित है।

एकं दश शतं चैव सहस्त्रमयुतं तथा।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव चा।।
वृन्द खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मश्च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृश यथाक्रमम।।

परिमाण का लक्षण व भेद - मानव्यवहारासाधारणंकारणं परिमाणम्। नव द्रव्यवृतिः । तच्चतुर्विधम्- अणुमहत् दीर्घह्रस्वश्चेति।

अर्थः- मान के व्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते है। वह नव द्रव्यों में रहने वाला है उसके चार भेद है। अणु महत,दीर्घ और ह्रस्व।

शारदा- मान व्यवहार का अर्थ है यह पतला है यह मोटा है यह लम्बा है यह छोटा है ऐसा कथन करना। पृथक्त्व का लक्षण - पृथग्व्यहाराऽसाधारणकारणं पृथक्त्वम् ।सर्वद्रव्यवृतिः

अर्थ- यह इससे पृथक है ऐसे व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते है यह पृथ्वी आदि नौ द्रव्यो में होता है। संयोग का लक्षण- संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः । सर्वद्रव्यवृत्तिः।

अर्थः- ये दोनों परस्पर संयुक्त है, ऐसे व्यवहार के असाधारण कार्य को संयोग कहते है। यह पृथ्वी आदि सभी द्रव्यो में रहता है। विभाग का लक्षणः- संयोगनाशको गुणो विभागः सर्वद्रव्यवृत्तिः।

अर्थः- संयोग के नाशक गुण को विभाग कहते है। वह सभी द्रव्यो में रहता है।

शारदा- विभाग के लक्षण में गुण पद देने से काल आदि में अतिव्याप्ति नही होती। रूप आदि में अतिव्याप्ति का वारण संयोग नाशक पद से हो जाता है।

परत्वापरत्व का लक्षण व भेद -

परापरव्यवहाराऽसाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टय मनोवृत्तिनी। ते द्विविधे-दिक्कृते कालकृते च । दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वं।

अर्थः- पर (दूरस्थ और ज्येष्ठ) के व्यवहार के असाधारण कारणो के परत्व कहते है। और अपर (समीपस्थ और कनीष्ट के व्यवहार के असाधारण कारण को अपरत्व कहते है पृथ्वी जल तेज

वायु और मन में परत्व अपरत्व होते है। वे दोनेा दो प्रकार के है। दिककृत और कालकृत। दूरस्थ पदार्थ में दिक कृत परत्व और समीपस्थ पदार्थ में दिककृत अपरत्व रहता है। इसी तरह ज्येष्ठ मे काल कृत परत्व रहता है। कनिष्ठ में काल कृत अपरत्व रहता है।

गुरूत्व लक्षण - आद्यपतनासमवायिकारणं गुरूत्वम्। पृथिवीजलवृत्तिः।

अर्थ - प्रथम पतन के असमवायि कारण को गुरूत्व गुण कहते है। यह पृथ्वी और जल मे रहता है।

शारदा- गुरूत्व के लक्षण मे आद्य शब्द देने से द्वितीय आदि पतन के असमवायि कारण वेग मे अतिव्याप्ति नही होती है। पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण शक्ति का अन्वेषण सबसे पहले कणाद ने किया था जिसे आज विज्ञान भी मानता है। यहा एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जल मे भी गुरूत्व शक्ति की बात कणाद ने ही सबसे पहले किया था इस पर भी वैज्ञानिको को शोध करना चाहिए।

द्रवत्व का लक्षण - आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृतिः ।तद् द्विविधं - सांसिद्धिकं नैमितिकं च । सांसिद्धिकं जले। नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजं द्रवत्वं तेजसि सुवर्णादौ।

अर्थ - पहले स्यंन्दन (बहाव) मे असमवायि कारण को द्रवत्व कहते है। द्रवत्व पृथिवी जल और तेज मे रहता है। द्रवत्व के दो भेद है सांसिद्धिक और नैमित्तिक। जल मे स्वाभावित द्रवत्व रहता है। पृथ्वी-घृत आदि में अग्नि के संयोग से उत्पन्न द्रवत्व रहता है। तेज में तेज स्वरूप स्वर्ण में अग्नि के संयोग से उत्पन्न द्रवत्व रहता है।

स्नेह का गुण - चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणःस्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

अर्थ -चूर्णादि के पिण्डी भाव होने के कारण को स्नेह गुण कहते है। यह केवल जल में रहता है।

शारदा - स्नेह के लक्षण में गुण पद देने से काल आदि में अतिव्याप्ति नही होती और पिण्डी भाव पद रखने से रूपादि में अतिव्याप्ति नही होती है।

शब्द का लक्षण -

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः । स द्विविधो-ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादि रूपः ।

अर्थ - श्रवण इन्द्रिय मात्र से ग्रहण किये जाने वाले गुण को शब्द कहते है। यह केवल आकाश में रहता है। शब्द दो प्रकार का होता है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। उन दोनो में ध्वन्यात्मक शब्द भेरी आदि वाद्यो मे होता है। वर्णात्मक शब्द संस्कृत भाषा आदि के रूप में मिलता है।

शारदा- शब्द के लक्षण में गुण पद रखने से शब्दत्व में अतिव्याप्ति नही होती है। श्रोत्रः पद रखने से रूप आदि में अतिव्याप्ति नही होती है।

अभ्यास प्रश्न

1.तर्क संग्रह के रचनाकार है -

अ. उद्योतकर ब. विश्वनाथ

स. गौतम द. अन्नम्भट्ट

2. तर्क संग्रह मे पदार्थो की संख्या बतायी गयी है

अ. 6 ब.8

स. 7 द. 5

3. प्रथम पदार्थ है

अ. गुण ब . सामान्य
स. द्रव्य द. विशेष
4. शब्द गुण वाला है
अ. काल ब. आकाश
स. दिशा द. मन
5. प्राची आदि के व्यवहार का कारण है
अ. दिशा ब. मन
स.समवाय द. काल
6 सुमेलित नही है
अ. पृथ्वी -घ्राणेन्द्रिय ब. तेज - चक्षुइन्द्रिय
स. आकाश - रसनेन्द्रिय द. वायु - त्वगिन्द्रिय
7. नित्य नही है
अ. कार्य रूप पृथिवी ब. कालस. दिशा द. आकाश
8. काल है
अ. अतितादि व्यवहार का कारण
ब. पाचीआदि व्यवहार का कारण
स. शब्द गुण वाला
द. सुखादि उपलब्धि साधन

2.4 सारांश

आचार्य अन्नम्भट्ट ने भगवान शिव का ध्यान करते हुए मंगलाचरण किया है अनंतर द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायि व अभाव का संकीर्तन किया हे । नव द्रव्यो का स्वरूप भेद आदि बताया है नव द्रव्य है पृथिवी जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और मन । पृथिवी गन्धवती है । जल शीतल स्पर्श वाला है तेजउष्ण स्पर्श वाला है । वायु रूप रहित स्पर्श गुण वाला है । आकाश एक नित्य व्यापक और शब्दगुण वाला है । दिशा पूर्व आदि के व्यवहार का कारण है । काल भूत भविष्यत और वर्तमान केव्यवहार का कारण एक नित्य और व्यापक है । आत्मा समवाय संम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय है इसके दो भेद है परमात्मा और जीवात्मा। दोनो नित्य है परमात्मा सर्वज्ञ है । एक है । जीवात्मा अनेक हे। जीव को जो सुख और दुःख का अनुभव होता है उसका कारण मन है । चक्षु से ग्रहण किया जाने वाला रूप गुण के सात भेद है । जिह्वा से ग्रहण किया जाने वाला गुण छः प्रकार का है । गन्ध के दो भेद है नासिका से इसकी ग्राह्यता होती है । संख्या परिमाण पृथक्त्व सभी द्रव्यो मे रह संयोग विभाग सभी द्रव्यो मे होते है। परत्व अपरत्व दोनो पर और अपर के व्यहार के असाधारण कारण है गुरूत्व पृथ्वी और जल मे रहता है । द्रवत्व पृथ्वी जल और तेज मे रहता है । स्नेह गुण केवल जल मे होता है श्रवण से ग्रहण किया जाने वाला गुण दो प्रकार का होता है ।

2.5 उत्तरमाला

1.द	2.स	3.स	4.ब	5.अ
6.स	7.अ	8.अ	9.ब	10.अ
11.अ	12. द	13.अ	14.स	15.अ

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

इस इकाई के लेखन मे निम्न ग्रन्थो का सहयोग लिया गया है।

1. तर्कसंग्रहः व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी चौ0सु0 प्रकाशन वाराणसी पुनर्मुद्रित संस्करण 2000
2. तर्क संग्रह टीकाकार श्री हरिहरशास्त्री
3. तर्कसंग्रहः टीकाकार प्रो0 आद्याप्रसाद मिश्र
4. तर्कभाषा टीकाकार श्रीनिवासशास्त्री

2.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री -

इस इकाई के विशेष अध्ययन के लिए आप निम्न ग्रंथो को उपयोग मे ला सकते है

1.तर्कसंग्रहः व्याख्याकार आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी चौ0सु0 प्रकाशन वाराणसी पुनर्मुद्रित संस्करण ,2000

2. तर्कसंग्रहः टीकाकार श्री हरिहरशास्त्री
3. तर्कसंग्रह टीकाकार प्रो0 आद्याप्रसाद मिश्र

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.तर्कसंग्रह मे वर्णित द्रव्य की अवधारणा पर प्रकाश डालिए ?

इकाई. 3 बुद्धि लक्षण से प्रत्यक्ष पर्यन्त

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 बुद्धि लक्षण से प्रत्यक्ष पर्यन्त
3.4 सांराश
3.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला
3.6 संदर्भ ग्रंथ सूची
3.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में गुणों में संकीर्तित बुद्धिगुण का स्वरूप, भेद, कारण भेद, प्रमा, उसके भेद, प्रमा के चार करण उनमें से प्रत्यक्ष-प्रमाण के भेद, सन्निकर्ष के भेद को बताया गया है।इसके पूर्व की इकाई में आपनें तर्क संग्रह में मंगलाचरण से शब्द लक्षण वर्णन तक के विषयों का अध्ययन किया है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में अध्ययन से आप निम्न तथ्यों को जानने में समर्थ होंगे कि -

- ❖ बुद्धि का लक्षण व भेद क्या है ?
- ❖ अनुभव कें किस भेद को प्रमा कहते है एवं उसके कितने भेद है ?
- ❖ कारण के कितने भेद है और करण क्या है ? आदि।

3.3 बुद्धि से .....प्रत्यक्ष पर्यन्त

बुद्धि का लक्षण ओर उसके भेद -

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुर्द्धिज्ञानम्। सा द्विविधा-स्मृतिरनुभवश्च।

अर्थ - सम्पूर्ण व्यवहारों के कारण रूप गुण को बुद्धि कहते है। उसे ही ज्ञान भी कहा जाता है। उस बुद्धि के दो भेद है - स्मृति और अनुभव।

शारदा- बुद्धि के लक्षण कालादि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'गुण' पद रखा गया है। रूपादि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए सर्व व्यवहार पद रखा गया है।

स्मृति का लक्षण -

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

अर्थ- संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते है।

शारदा- संस्कार (भावना) ध्वंस में अति व्याप्ति का वारण करने के लिए लक्षण में ज्ञान पद रखा गया है। घटादि प्रत्यक्ष में अति व्याप्ति का वारण करने के लिए संस्कार जन्य पद रखा गया है। प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति न हो इसके लिए मात्र पद रखा गया है।

अनुभव का लक्षण -

तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः - यथार्थोऽयथार्थश्च।

अर्थ - उससे अर्थात स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है। वह दो प्रकार का होता है। यथार्थ और अयथार्थ।

यथार्थानुभव का लक्षण -

तद्वतितत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा-रजते 'इदं रजतम्-इति ज्ञानम्। सैवप्रमा उच्यते।

अर्थ - जिसमें जो है, वहॉ उसका जो अनुभव है उसे यथार्थाऽनुभव कहते हैं। जैसे रजत के विषय में यह रजत है ऐसा ज्ञान। वही प्रमा कही जाती है।

अयथार्थ अनुभव का लक्षण -

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्यः। यथा शुक्तौ इदं रजतम् इतिज्ञानम। सैवाऽप्रमेत्युच्यते।

अर्थ - जिसमें जो नहीं है, वहॉ उसका जो अनुभव है, उसे अयथार्थ अनुभव कहते है। जैसे सीपी में यह चादी है- ऐसा ज्ञान। वही अप्रमा कही जाती है।

यथार्थानुभव के चार भेद-

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्।

अर्थ - यथार्थ अनुभव के चार भेद है - प्रत्यक्ष, अनुमिति उपमिति और शाब्द

यथार्थानुभव के चार लक्षण-

तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

अर्थ - यथार्थानुभव के करण भी चार है-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

करण लक्षणम्-

असाधारणं कारणं करणम् -

अर्थ - असाधारण कारण के करण कहते हैं।

शारदा- साधारण कारण दिक्काल आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में असाधारण पद रखा गया है।

कारण लक्षण -

कार्यनियतपूर्ववृत्तिः कारणम्।

अर्थ - कार्य से नियत अर्थात् निश्चित रूप से पूर्ववृत्ति है, उसे कारण कहते हैं।

शारदा- पूर्ववृत्ति कारणम् ऐसा लक्षण करने पर रासभ आदि में अतिव्याप्ति हो जाती अतः लक्षण में नियत पद रखा गया। कार्यनियत कारणम कहने से कार्य में अतिव्याप्ति हेाती अतः लक्षण में पूर्ववृत्ति शब्द रखा गया। कारण का परिष्कृत लक्षण है।

अनन्यथासिद्धपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्।

कार्यलक्षण-

कार्यं प्रागभावप्रतियोगी।

अर्थ - प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहते है।

कारण पूर्ववर्ती होता है और कार्य उत्तरवर्ती होता है। न्याय वैशेषिक का करणता सिद्धान्त असत् कार्यवाद कहलाता है।

कारणभेदाः

कारणं त्रिविधं- समवाय्यसमवायिनिमित्त भेदात।

अर्थ - कारण के तीन भेद हैं- समवायिकारण असमवायिकारण और निमित्तकारण।

समवायिकारण लक्षण व उदाहरण-

यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः।

अर्थ - जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है। उसे समवायि कारण' कहते हैं, जैसे - तन्तु, पट के समवायिकारण है और पट अपने में विद्यमान रूप का समवायिकारण है।

असमावायिकारण लक्षण व उदाहरण -

कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत् कारणं तद्समवायकिारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य।

अर्थ - कार्य अथवा कारण के साथ एक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान होता हुआ जो कारण है, वह असमवायिकारण है। जैसे - तन्तुसयोग पट का और तन्तुरूप पटरूपका असमवायिकारण है।

निमित्तकारण लक्षण व उदाहरण -

तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा-तुरीवेमादिकं पटस्य।

अर्थ - समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न होकर जो कारण है, उसे 'निमित्तकारण' कहते हैं। जैसे - तुरी और वेमा आदि पट के निमित्तकारण है।

कारण का निष्कृष्ट लक्षण-

तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव कारणम्।

अर्थ - इन तीन समवायि, असमवायि और निमित्त कारणों में जो असाधारण कारण है वही कारण कहलाता है।

प्रत्यक्षप्रमाणलक्षण-

तत्र प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्

अर्थ - उन चार प्रमाणों में प्रत्यक्ष ज्ञान के करण को 'प्रत्यक्ष' प्रमाण कहते है।

प्रत्यक्ष प्रमा इन्द्रियों से उत्पन्न होती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लक्षण, भेद व उदाहरण -

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद्विविधं-निर्विकल्पकं सविकल्पकम् चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथेदं किन्चित्। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथा - डित्थोऽयम्, ब्राह्मणोऽयम्, श्यामोऽयमिति।

अर्थ - इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसके दो भेद हैं - निर्विकल्पक और सविकल्पक। उन दोनों भेदों में निष्प्रकारक अर्थात नाम, जाति आदि योजना से रहित ज्ञान निर्विकल्पक होता है। जैसे - यह कुछ है। सप्रकारक अर्थात नाम जाति योजना से युक्त ज्ञान सविकल्पक होता है। जैस यह डित्थ है यह ब्राह्मण है यह श्याम है।

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष भेद -

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियाऽर्थसन्निकर्षः षड्विधः - संयोगः, संयुक्तसमावायः,संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

अर्थ - प्रत्यक्ष के हेतु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष 6 प्रकार के है - संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त समवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव।

संयोग सन्निकर्ष -

चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः।

अर्थ - नेत्र से घट के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयोग सन्निकर्ष होता है।

संयुक्तसमवायसन्निकर्ष -

घटरूपप्रत्यक्षे संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः चक्षुः संयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्।

अर्थ - घटरूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त घटद्रव्य में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है।

संयुक्त-समवेत-समवाय-सन्निकर्ष-

रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः संन्किर्षः चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

अर्थ - चक्षु में रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष होता है। चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसी रूप में रूपत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहता है।

समवाय सन्निकर्षः -

श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात्, शब्दस्याकाशगुणत्वात्, गुणगुणिनोश्च समवायात्।

अर्थ - श्रवण से शब्द के प्रत्यक्ष होने में समवाय सन्निकर्ष होता है। कर्ण शष्कुली अवाच्छन्न आकाश ही श्रोत्र है। आकाश का गुण शब्द है और गुणी में गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है।

समवेतसमवाय सन्निकर्षः -

शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

अर्थ - श्रवणेन्द्रिय से शब्दत्व का साक्षात्कार होने में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। श्रोत्र में समवेत शब्द में शब्दत्व सामान्य समवाय सम्बनध से रहता है।

विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्षः-

अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावःसन्निकर्षः घटाभाववद् भूतलम् इत्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाऽभावस्य विशेषणत्वात्।

अर्थ - अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष होता है। यह भूतल घटाभाव वाला है। इस ज्ञान में चक्षु से संयुक्त भूतल में (विशेष्य में) घटाभाव विशेषण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का निष्कृष्ट लक्षण -

एवं सन्निकर्षषट्कजन्यम्ज्ञानम् प्रत्यक्षम् तत्करणमिन्द्रियं तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

अर्थ - इस प्रकार पूर्व वर्णित छः सन्निकर्षो से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रियाँ है, अतएव इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण हे ऐसा सिद्ध है।

अभ्यास प्रश्न-

1. सभी व्यहारों के कारण बुद्धि के भेद है ?

(अ) केवल अनुभव (ब) केवल स्मृति

(स) दोनों (द) इनमें से कोई नही

2. यथार्थ अनुभव है ?

(अ) प्रमा (ब) अप्रमा

(स) स्मृति (द) इनमें से कोई नही

3. यथार्थ अनुभव के भेद हैं ?

(अ) 2 (ब) 3

(स) 4 (द) 6

4.तर्कसंग्रह के अनुसार वैशेषिक निम्न कारण मानता है ?

(अ) केवल समवायिकारण (ब) केवल असमवायिकारण

(स) केवल निमित्त कारण (द) तीनों

5.तन्तु पट का कोन सा कारण है ?

(अ) निमित्त कारण (ब) असमवायी कारण

(स) समवायी कारण (द) अ और ब

6.इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्यज्ञान है ?

(अ) अनुमिति (ब) उपमित

(स) प्रत्यक्ष (द) शाब्द

7.प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद है ?

अ) सविकल्पक (ब) निर्विकल्पक

(स) दोनों (द) इनमें से कोई नही

8. इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के भेद है ?

अ) 6 (ब) 5

(स) 8 (द) 2

9.शब्दत्व समान्य के साक्षात्कार में सन्निकर्ष होता है ?

अ) संयोग (ब) संयुक्त समवाय

(स) समवेतसमवाय (द) समवाय

10.अभाव का प्रत्यक्ष होता है ?

(अ) विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष (ब) संयोगसन्निकर्ष

(स) समवाय सन्निकर्ष (द) संयुक्त समवायसंन्निकर्ष

3.4 सांराश

बुद्धि और ज्ञान पर्याय है। ज्ञान सभी व्यवहार का कारण है इसके अनुभव और स्मृति दो भेद है। संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है। अनुभव यथार्थ और अयथार्थ विविध है यथार्थ अनुभव के प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्द ये चार भेद है यथार्थ अनुभव ही प्रमा है। चारों प्रमावों के करण क्रमशः प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द हैं। इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण है इन्द्रिय से विषयों का सन्निकर्ष संयोग आदि भेद से 6 प्रकार का है। प्रत्यक्ष ज्ञान के सविकल्प एवं निर्वकल्पक दो तरह के हैं। कारण समवायि असमवायि निमित्त के भेद से तीन प्रकार का होता है।

3.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

1.	स	2.	अ	3.	स	4.	द	5.	स
6.	स	7.	स	8.	अ	9.	स	10.	अ

3.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

इस इकाई के लेखन में निम्न ग्रन्थों का संदर्भ लिया गया है।

1. तर्कसंग्रहः व्याख्याकार शेषराजशर्मरिग्मी
2. तर्कसंग्रहः टीकाकार श्री हरिहर शात्री
3. तर्कसंग्रहः टीकाकार डा0 अद्याप्रसाद द्विवेदी
4. तर्कभाषा टीकाकार डा0 श्रीनिवास शास्त्री
5. न्यायदर्शनम् सम्पादक श्री नारायण मिश्र
6. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण- संगमलाल पाण्डेय

3.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.तर्कसंग्रहः व्याख्याकार शेषराजशर्मरिग्मी

2. तर्कसंग्रहः टीकाकार श्री हरिहर शात्री

3.तर्कसंग्रहः टीकाकार डा0 अद्याप्रसाद द्विवेदी

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रत्यक्ष प्रमाण पर प्रकाश डालिये

इकाई. 4 अनुमान से बाधित लक्षण पर्यन्त

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 अनुमान लक्षण से बाधित लक्षण पर्यन्त
4.4 सांराश
4.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला
4.6 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई तृतीय इकाई से सम्बन्धित है इसमें अनुमिति प्रमा के करण अनुमान का स्वरूप उद्घाटित किया गया है। अनुमान के भेद स्वार्थ परार्थ, त्रिविध लिङ्ग, पंचावयव, पांच हेत्वाभास पर विचार किया गया है। अनुमान का सर्वाधिक वृहद् विश्लेषण न्याय दर्शन में किया गया हे। अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह में अनुमान का नवीन परम्परा में वर्णित स्वरूप से हमें परिचित कराया है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप निम्न तथ्यों से परिचित होगे कि -

- ❖ अनुमान का लक्षण क्या है ?
- ❖ उसके भेद कितने है ?
- ❖ त्रिविध लिङ्ग कौन-कौन है ?
- ❖ पंचावयव कौन है।
- ❖ पांच हेत्वाभास कौन है ? उनके भेद कौन-कौन है? आदि

4.3 अनुमान लक्षण से बाधित लक्षण पर्यन्त

अनुमान का लक्षण अनुमितिकरणमनुमानम्।

अर्थ - अनुमिति के करण अर्थात् असाधारण कारण को अनुमान कहते है। अनु का अर्थ है पश्चात और मान का अर्थ है ज्ञान जो ज्ञान शब्द और प्रत्यक्ष पर आश्रित होता है उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं।

अनुमिति का लक्षण - परामशजन्यं ज्ञानमनुमितिः

अर्थ - परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते हैं।

परामर्श का लक्षण -

व्याप्तिविशिष्टपक्षर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा

वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः।

तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितेः।

(अर्थ) अग्नि की व्याप्ति से विशिष्ट 'धूम' के पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते है। यथा- अग्नि का व्याप्य (व्याप्ति विशिष्ट) धूम वाला यह पर्वत है, ऐस ज्ञान को परामर्श कहते है। उस परामर्श से उत्पन्न पर्वत वह्निमान् है यह ज्ञान अनुमिति है।

व्याप्ति लक्षण-

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्रागिनः इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।

अर्थ - जहॉ जहॉ धूम है वहॉ वहॉ अग्नि है इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते है।

पक्षधर्मता का लक्षण -

व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

व्याप्य अर्थात हेतु के पर्वत आदि में रहने को 'पक्षधर्मता' कहते हैं।

अनुमान भेद -

अनुमानं द्विविधं - स्वार्थं परार्थं च।

अनुमान के दो भेद है - स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान का स्वरूप व उदाहरण-

तत्र स्वाऽर्थं स्वाऽनुमितिहेतुः। तथाहि स्वयमेव भूयोदर्शनेन 'यत्र यत्र धूम स्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाऽग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इतिज्ञानमुत्पद्यते । अयमेव लिङ्.गपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात् पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानमनुमितिरूत्पद्यते। तदेतत्स्वाऽर्थानुमानम्!।

अर्थ - उन दोनो अनुमानों में स्वयं को होने वाली अनुमिति के हेतु को स्वार्थनुमान कहते हैं। जैसे कि - स्वयं ही बार-बार धूम और अग्नि का साहचर्य देखने से जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है इस प्रकार पाकशाला आदि में व्याप्ति को जानकर पर्वत के पास गया हुआ वहाँ पर्वत पर अग्नि की शंका करता हुआ, पर्वत में धूआँ देखकर व्याप्ति का स्मरण करता है- जहाँ-जहाँ धूआँ है वहाँ वहाँ अग्नि है, उसके बाद 'अग्नि की व्याप्ति का आश्रय धूम वाला यह पर्वत हैं, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी को लिङ्.गपरामर्श' कहते हैं। उस परामर्श से 'पर्वतो वह्निमान् ऐसी अनुमीति होती है। वही स्वार्थानुमान है।

परार्थानुमान का स्वरूप -

तत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पंचाऽवयववाक्यं प्रयुज्यते। तत् परार्थानुमानम्। यथा-पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान्। यथा महानसम् तथा चायम्, तस्मात्तथा इति। अनने प्रतिपादिताल्लिङ्.गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

अर्थ - जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरों को समझाने के लिए पाँच अवयवों वाले वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह 'परार्थानुमान है। जैसे पर्वत वह्निमान है, धूमवाला होने से, जो जो धूमवान है वह वह वहिनमान है, जैसे पाकशाला, वैसे ही यह (पर्वत)(धूमवाला) है। इन पांच अवयवों से युक्त वाक्य से प्रतिपादित लिङ्.ग से पर (दूसरा व्यक्ति)भी अग्नि को जानता है। इस कारणों से वेसा (यह पर्वत वह्निमान है।) इन पांच अवयवों से युक्त वाक्य से प्रतिपादित लिङ्.ग से दूसरा भी पर्वत में अग्नि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

पंचावयव -

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पंचाऽवयवाः। पर्वतो वह्मिानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्वात इति हेतु, यो यो धूमवान् स स तह्निमानित्युदाहरणम्। तथा चाऽयमित्युपनयः तस्मात्तथेति निगमनम्।

अर्थ- पॉच अवयव है - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। पर्वत वह्निवाला है यह प्रतिज्ञा है। धूमवाला होने से यह हेतु है। जो-जो धूम वाला है वह वह वह्निवाला है जैसे पाकशाला, यह उदाहरण हे। वैसे ही यह (पर्वत) (धूमवाला) है यह उपनय है। इस कारण वैसा (यह पर्वत वह्निवाला है) यह निगमन है। पंचावयों अनुमान को परम न्याय कहते हैं।

स्वार्थानुमिति परार्थानुमिति का कारण -

स्वार्थाऽनुमिति पराऽर्थानुमित्योंलिङ्.परामर्श एवं करणम्। तस्माल्लिङ्.गपरामर्शोऽनुमानम्।

अर्थ - स्वार्थानुमिति एवं परार्थानुमिति दोनों का करण लिङ्.ग परामर्श ही है। उस कारण से लिङ्.परामर्श अनुमान है। लिङ्.ग का तृतीय परामर्श अनुमान कहा जाता है।

लिङ्.ग के भेद -

लिङ्.गं त्रिविधं अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति।

लिङ्.ग के तीन भेद है - अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि।

अन्वयव्यतिरेकि लिड्.ग का लक्षण -

अन्यवयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयतिरेकि, बह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमस्तत्राग्नि र्यथा -महानसम् इत्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नाकस्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा-ह्रद' इति व्यतरेकव्याप्तिः।

जहाँ अन्वय और व्यतिरके से व्याप्ति होती है उस लिड्.ग को अन्वयव्यतिरेकि कहते है, जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है जैसे पाकशाला यह अन्वयव्याप्ति है, जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम भी नही है- जैसे ह्रद (सरोवर) यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति है।

केवलान्वयि लक्षण -

अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलाऽन्वयि। यथा घतोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। अत्र प्रमेयत्वाऽ भिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिनाऽस्ति, सर्वस्याऽपि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।

अर्थ - जहाँ पर केवल अन्वयव्याप्ति रहती है, उस लिड्.ग को केवलान्वयि कहते है जैसे घटअभिधेय है प्रमेय होने से। यहाँ प्रेमयत्व एवं अभिधेयत्व की व्यतिरेक व्याप्ति नही है क्योकि सभी पदार्थ प्रमेय है और अभिधेय हैं।

केवलव्यतिरेकि लक्षणम -

व्यतिरेक मात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्, यथाजलं न चेयं तथा तस्मान्न तथेति।, अत्र गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नाऽस्ति, पृथवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

अर्थ - व्यतिरेक मात्र व्याप्ति वाले लिड्ग को केवलव्यातिरेकि कहते है। जैसे प्रथिवी अन्यों से भिन्न है, गन्धवती होने से, जो अन्यो से भिन्न नही है वह गन्ध वाला नही है जैसे जल है। यह पृथिवी जल के समान नही है। अतः पृथिवी वैसी गन्थहीन नही, गन्ध वाली है। यहाँ पर जा गन्धवाली है, वह इतरभिन्न है, ऐसा अन्वय दृष्तान्त नहीं है। पृथिवी मात्र पक्ष है।

पक्ष लक्षण -

सन्दिग्धसाध्ययवान् पक्षः यथा-धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः

अर्थ - जहाँ पर साध्य का सन्देह हो, उसे पक्ष, कहते हैं। जैसे धूमवत्व हेतु में पर्वत।

सपक्ष लक्षण -

निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसम्।

अर्थ - जिसमें साध्य का निश्चय हो वह सपक्ष है। जैसे - वहीं पाकशाला

विपक्ष का लक्षण -

निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः।

अर्थ - जिसमें साध्य के अभाव का निश्चय हो वही विपक्ष है जैसे वही -महाह्रद

हेत्वाभास् के भेद -

सव्यभिचार-विरूद्ध-सत्प्रतिपक्षाऽसिद्ध -वाधिताः पंच हेत्वाभासाः

अर्थ - सव्यभिचार, विरूद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और वाधित में पंच हेत्वाभास है।

सव्यभिचार लक्षण भेद -

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः स त्रिविधः साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहारिभेदात्। तत्र साध्याऽभाववदवृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः यथा पर्वतो वह्निमान्प्रमेयत्वादिति। अत्र प्रमेयत्वस्य वह्नयभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्।

अर्थ - सव्याभिचार को अनैकान्तिक कहते है। वह त्रिविध है साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी।

उन तीनों में साधारण अनैकान्तिक वह है जो हेतु साध्य के अभाव वाले पदार्थ में रहता है। जैसे पर्वत में अग्नि है, प्रमेय होने से । यहॉ प्रमेयत्व हेतु साध्य अग्नि के अभाव वाले पदार्थ ह्रद में रहता है।

असाधारण लक्षण भेद-

सर्वसपक्षविपक्ष व्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः यथा शब्दों नित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्वं हिसर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभयश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्तिः।

अर्थ - जो हेतु समस्त सपक्ष और विपक्षों में न रहकर केवल पक्ष में रहता है, उसे असाधारण कहते है, जैसे शब्द नित्य है, शब्द होने से। शब्दत्व हेतु सभी नित्य और अनित्य में न रहकर केवल शब्द मात्र में ही रहता है।

अनुपसंहारी का लक्षण व भेद-

अन्वयव्यतिरेकिदृष्तान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा - सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्य प्रमेयत्वाद दृष्तान्तो नाऽस्ति

अर्थ - अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त से रहित हेतु को अनुपसंहारी कहते हैं। जैसे सभी अनित्य हैं, प्रमेय होने से। यहा सभी के प्रमेय होने से दृष्टान्त ही नही है।

विरूद्ध हेत्वाभास का लक्षण व उदाहरण -

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरूद्धः। यथा - शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। अत्र कृतकत्वं हि नित्यत्वाऽभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम्।

अर्थ - साध्य के अभाव में व्याप्त हेतु को विरूद्ध कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है, कृतक होने से। यहॉ पर पक्ष शब्द में नित्यत्वरूप साध्य की सिद्धि के लिए कृतकत्व हेतु अनित्वत्व रूप साध्याभाव में व्याप्त है।

सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का लक्षण व उदाहरण -

यस्य साध्याऽभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते से सत्प्रतिपक्षः। यथा - शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवत्।

जिसके माधयम के अभाव का साधक दूसरा हेतु रहता हे उसे 'सत्प्रतिपक्ष' कहते हैं। जैसे - शब्द नित्य है, श्रावण होने से, शब्दत्व की तरह। इसके प्रतिपक्ष रूप में शब्द अनित्य है, कार्य होने से घट की तरह।

असिद्ध हेत्वाभास के भेद -

असिद्धस्त्रिविधः - आश्रयाऽसिद्धः, स्वरूपाऽसिद्धः, व्याप्यत्वाऽसिद्धश्चेति।

असिद्ध के तीन भेद है - आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वाऽसिद्ध।

आश्रयाऽसिद्ध लक्षण व उदाहरण-

उक्तमाश्रयाऽसिद्धो यथा गगनाऽरविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजाऽरविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नाऽस्त्येव।

अर्थ -आश्रयासिद्ध का उदाहरण है -गगनारविन्द सुगन्धित है, अरविन्द होने के कारण, सरोजअरविन्द की तरह। इस उदाहरण में गगनारविन्द आश्रय है वह है ही नहीं।

स्वरूपाऽसिद्ध का लक्षण उदाहरण -

स्वरूपाऽसिद्धो यथा - शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्'। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नाऽस्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्।

स्वरूपासिद्ध का उदाहरण है - शब्द गुण है, चाक्षुष होने से , इस उदाहरण में चाक्षुष होना शब्द में है ही नही, शब्द के श्रावण होने से।

व्याप्तत्वाऽसिद्ध का लक्षण -

सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। - साध्यव्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। यथा पर्ततो धूमवान् वह्निमत्त्वात्, इत्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्तिं अयोगोलके आर्द्रेन्धनाभावात् इति साधनाव्यापकत्वम एवं साध्यव्यापकत्ते सति साधनाव्यापकत्वाद आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः सोपाधिकत्वाद् वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

अर्थ - उपाधि से युक्त हेतु का 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहते हैं। साध्य का व्यापक होकर जो साधन का अव्यापक है वह उपाधि है। साध्य के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी नही है, उसे साध्यव्यापक कहते हैं। जैसे पर्वत धूमवान है, वह्निवाला होने से। इस उदाहरण में आर्देन्धनसंयोग उपाधि है, क्योकि जहाँ धूम है वहाँ आर्द्र इन्धन संयोग साध्य का व्यापक है। जहाँ वह्नि है वहाँ आर्द इन्धन संयोग नहीं है। आयोगोलक (सन्तप्तलौह पिण्ड) में आर्देन्धन संयोग का अभाव होने से साधन व्यापकता है। इस प्रकार साध्य में व्यापक होकर साधन में व्यापक न होने से आर्द इन्धन का संयोग उपाधि हुआ। उपाधि युक्त होने से वह्निमत्व व्यप्पत्वाऽसिद्ध हुआ।

बाधित हेत्वाभास का लक्षण -

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्रानुषणत्वं साध्यं तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्,

अर्थ - जिस हेतु का साध्याभाव अन्य प्रमाण से पक्ष में निश्चित है वह बाधित है। जैसे - वह्नि शीतल है, द्रव्य होने से। यहॉ शीतलता साध्य है और उसका अभाव उष्णता स्पार्शन प्रत्यक्ष से ग्रहण होने से हेतु में वाधितत्व है।

अभ्यास प्रश्न -

1. अनुमिति का कारण है।

(अ) परामर्श (ब) प्रत्यक्ष

(स) उपमान (अ) शाब्द

2. व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मताज्ञान है।

(अ) परामर्श (ब) व्याप्ति

(स) प्रतिज्ञा (द) इनमें से केाई नही

3. नियत साहचर्य सम्बन्ध है।

(अ) प्रतिज्ञा (ब) उदाहरण

(स) व्याप्ति (द) परामर्श

4. स्वार्थानुमिति हेतु है।

(अ) परार्थानुमान (ब) स्वार्थानुमान

(स) दोनों (द) इनमें से कोई नही

5. लिङ्ग परामर्श ही करण है।

(अ) स्वार्थानुमिति का (अ) परार्थानुमिति का

(स) दोनों का (द) इनमें से कोई नही

6. परार्थानुमान में कितने अवयव होते है।

(अ) 5 (ब) 3

(स) 6 (द) 2

7. हेत्वाभास है।

(अ) पांच (ब) तीन

(स) चार (द) दो

8. किन हेत्वाभास के तीन भेद हैं।

(अ) सव्यभिचार के (ब) असिद्ध के

(स) विरूद्ध के (द) अ और ब के

9.गगनारविन्द सुगन्धित है।

अरविन्द होने से

सराज के अरविन्द की तरह में कौन सा हेत्वाभास है।

(अ) विरूद्ध (ब) सत्प्रतिपक्ष

(स) आश्रयासिद्ध (द) स्वरूपासिद्ध

10. अन्यव्यतिरेक दृष्टान्तरहित हेतु है।

(अ) अनुपसंहारी (ब) अनेकान्तिक

(स) विरूद्ध (द) सत्प्रतिपक्ष

4.4 सारांश

लिङ्ग परमर्श अनुमान है इसके दो भेद है- स्वार्थानुमान, परार्थानुमान ये क्रमशः स्वयं एवं पर के ज्ञान के कारण है। परार्थानुमान में पांच अवयव होते हैं। पांच हेत्वाभास होते है अनुमान के प्रयोग में हेत्वाभासों से बचने पर प्रमा सम्भव होती है।

4.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

1 अ 2 अ 3 स 4 स 5 स 6 अ 7 अ 8 द 9 स 10 अ

4.6 संदर्भ गंथ सूची

इस इकाई के लेखन में निम्न ग्रन्थों का संदर्भ लिया गया है।

1. तर्कसंग्रहः व्याख्याकार शेषराजशर्मरिग्मी
2. तर्कसंग्रहः टीकाकार श्री हरिहर शात्री
3. तर्कसंग्रहः टीकाकार डा0 अद्याप्रसाद द्विवेदी
4. तर्कभाषा टीकाकार डा0 श्रीनिवास शास्त्री
5. न्यायदर्शनम् सम्पादक श्री नारायण मिश्र
6. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण- संगमलाल पाण्डेय

4.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

इस इकाई का अध्ययन करने के लिए आप निम्न ग्रन्थों का सहयोग ले सकते हैं।

1.	तर्कसंग्रहः	व्याख्याकार	शेषराजशमरिग्मी
2.	तर्कसंग्रहः	टीकाकार	श्री हरिहर शात्री
3.	तर्कसंग्रहः	टीकाकार	डा0 अद्याप्रसाद द्विवेदी

4.8 निबान्धात्मक प्रश्न

प्रश्न -1 अनुमान प्रमाण पर प्रकाश डालिये ?

प्रश्न - 2. हेत्वाभास के भेदों को बताइए ?

इकाई. 5 उपमान से लेकर उपसंहार पर्यन्त

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 उपमान खण्ड से लेकर उपसंहार पर्यन्त
5.4 सांराश
5.5 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला
5.6 संदर्भ ग्रंथ सूची
5.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में तर्क संग्रह के उपमान व शब्द इन दोनों प्रमाणों के स्वरूप को बतलाया गया है। इसमें बुद्धि के बाद के गुण सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन गुणों का स्वरूप व भेद वर्णित है। द्वितीय से लेकर पंचम इकाई के अंश तक पदार्थ संकीर्तनपूर्वक द्रव्य एवं कुछ गुणों का वर्णन है। इन दो पदार्था से शेष कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव को लक्षण भी इसी अंश में वर्णित हैं । अंत में ग्रंथकर्ता अन्नम्भट्ट ने अपने नाम का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ रचना का प्रयोजन बतलाया है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप निम्न तथ्यों से परिचित हो सकेंगे कि

- ❖ सुख से संस्कार पर्यन्त गुणों का भेद व स्वरूप कौन-कौन से ?
- ❖ कर्म से अभाव से पदार्थें का स्वरूप व भेद कौन है?
- ❖ ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य क्या है?

5.3 उपमान खण्ड से लेकर उपसंहार पर्यन्त

उपमान का लक्षण:- उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धत्वज्ञानम् उपमितिः। तत्करणं सादृश्य ज्ञानम्। तथा हि कश्चित् गवयपदार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यक पुरूषात् 'गोसदृशो गवय' इति श्रुत्वा वनंगतो 'गोसदृशो गवय इति वाक्यार्थंस्मरणगोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरमसौ 'अयं गवयशब्दवाच्य' इत्युपमितिरूत्पद्यते।

अर्थ:- उपमिति के करण को उपमान कहते है। संज्ञा (पद) और संज्ञी (पदार्थ) इनके सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति कहते है। उपमिति का करण गोसदृश्य ज्ञान है। जैसे- गवय पद के अर्थ को न जानने वाला पुरूष किसी अरण्यवासी (जंगल में रहने वाले) पुरूष से गवय गाय के सदृश होता है - ऐसा सुनकर वन में गया और 'गाय के सदृश गवय होता है ऐसे वाक्यार्थ को स्मरण करता है और गाय के सदृश पिण्ड को देखता है। उसके बाद उसे यह पशु गवय शब्द का वाच्य है- ऐसी उपमिति उत्पन्न होती है।

शब्द खण्ड-

शब्द प्रमाण का स्वरूप -

आप्तवाक्यं शब्दः आप्तस्तु यथांऽर्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः यथा-गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वर सङ्केतः शक्तिः।

अर्थ:- आप्त के वाक्य को शब्द कहते है। जो यथार्थ बोलता है उसे आप्त कहा जाता है पदो के समूह को वाक्य कहते है यथा-गाम् आनय अर्थात् गाय लाओ। पद का लक्षण है शक्त अर्थात् शक्ति का आश्रय। इस पद यह अर्थ जानना चाहिए, ऐसा ईश्वर संकेत ही शक्ति है।

शारदा-पद का लक्षण है शक्तम् पदम्। अर्थ के स्मरण के अनुकूल पदार्थ सम्बन्ध ही शक्ति है और वह पदार्थ से भिन्न है ऐसा मीमांसक मानते है उसका निरास करने के लिए अस्मदादिति कहा गया है। जाति विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति की कल्पना उचित है।

वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु -

आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः पदस्य पदान्तरव्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाऽननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। अर्थाऽबाधो योग्यता। पदानामविल्बे नोच्चारण सन्निधि

तथा चाकाङ्क्षारहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा- गौरश्वः पुरूषो हस्तीति न प्रमाणम्, आकांक्षा विरहात्। वह्निना सिञ्चति इति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि गाम् आनय इत्यादिपदानि न प्रमाणम्, सान्निध्ययाभावात्।

अर्थ -आकाङ्.क्षा योग्यता और सन्निधि वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु है। पद का दूसरे पद के अभाव से अन्वय का सम्पन्न न होना ही आकांक्षा है। अर्थ का बाध न होना ही योग्यता है। पदो का बिना देरी किये उच्चारण ही सन्निधि है और आकांक्षा रहित वाक्य प्रमाण नहीं होता है यथा गौः, अश्वः, पुरूषः और हस्ती ये पदसमूह आकाक्षा से रहित होने से प्रमाण नहीं है। वह्निना सिंचति यह वाक्य योग्यता से रहित होने से प्रमाण नहीं है। प्रहर प्रहर में एक साथ उच्चारण न किये गये 'गाम् आनय् इत्यादि पद भी सान्निध्य के रहित होने से प्रमाण नहीं है।

वाक्यभेद -

वाक्यं द्विविधम् - वैदिकं, लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्त त्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्त प्रमाणम्। अन्यद प्रमाणम्।

अर्थः- वाक्य के दो भेद है वेदिक लौकिक। वैदिक वाक्य ईश्वर से कहे जाने से सभी ही प्रमाण है। लौकिक वाक्य आप्त पुरूष उक्त होने पर प्रमाण होता है। इससे भिन्न लौकिक वाक्य अप्रमाण है।

शाब्दज्ञानस्वरूप -

वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणम् शब्दः। इति शब्दप्रमाणम्।

अर्थ- वाक्य के अर्थ ज्ञान को शाब्द ज्ञान कहते है। शाब्द ज्ञान का करण शब्द होता है। यह शब्द प्रमाण समाप्त हुआ।

अयथार्थज्ञान लक्षण भेद व उदाहरण -

अयथार्थस्त्रिविधः संशयविपर्ययतर्कभेदात्। एकस्मिन् धर्मिणि विरूद्धनानाधर्मवैशिष्टयज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वापुरूषो वेति। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्तौं इदं रजतमिति। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि वह्निर्न स्यात् तद्दि धूमोपि न स्यादिति।

अर्थ - अयथार्थ अनुभव के तीन भेद होते है संशय, विपर्यय और तर्क। एक ही धर्मी में विरूद्ध अनेक धर्मों के वैशिष्ट्य का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते है जैसे- किसी वस्तु को दूर से देखने पर यह स्थाणु अर्थात् ठूठा पेड़ है अथवा कोई पुरूष है इस प्रकार का ज्ञान का संशय है। मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते है जैसे शुक्ति में (सीपी में) रजत का ज्ञान। व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप को तर्क कहते है - जैसे यदि आग नहीं होगी तो धुंआ भी नहीं होगा। यह तर्क है।

शारदाः-संशय के लक्षण में एक पद रखने से समूह के आलम्बन में अति व्याप्ति का वारण हो जाता है। घट द्रव्य है इत्यादि में अतिव्याप्त का वारण करने के लिए विरूद्ध पद रखा गया है। पटत्वविरूद्ध घटत्वान् इसमें अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए नाना पद रखा गया है।

यद्यपि तर्क विपर्यय के अन्तर्गत ही है फिर भी यह प्रमाणों का अनुग्राहक होने से अलग से कहा गया है।

स्मृति के भेदः-

स्मृतिरपि द्विद्या- यथार्थाऽयथार्था चेति। प्रमाजन्या यथार्था अप्रमाजन्या अयथार्था।

अर्थ - स्मृति के दो भेद है यर्थाथ और अथार्थ। यथार्थ स्मृति वह है जो प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्द प्रमा से उत्पन्न होते है और अयथार्थ स्मृति वह है जो अप्रमा अर्थात संसय विपर्यय अप्रमा से उत्पन्न होता है।

अवशिष्ट गुण निरूपण

अर्थ-अवशिष्ट गुणों में सुख आदि है इनका लक्षण अग्रलिखित है।

सुख का लक्षण

सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्।

अर्थ-जो सभी के अनुकूल ज्ञान का विषय है उसे सुख कहते है।गया है।

दुख का लक्षण

प्रतिकूलवेदनीयं दुखम्।

अर्थ:- जो सभी के प्रतिकूल ज्ञान का विषय है उसे दुख कहते है। न्यायसूत्र में बाधना लक्षणमं दुखम् कहा इच्छा द्वेष प्रयत्न का लक्षण:-

इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः।

अर्थ-कामना को इच्छा कहते है, क्रोध को द्वेष कहते है, कृति को प्रयत्न कहते है।

धर्माधर्मलक्षण

विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्योऽधर्मः।

वेदविहित कर्म से उत्पन्न विशेष गुण को धर्म कहते है। वेद से निषिद्ध कर्म से उत्पन्न विशेष गुण को अधर्म कहते है।

शारदा-धर्मअधर्म अतीन्द्रिय प्रदार्थ है। मन से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है । उनकी सत्ता में अनुमान और आगम दो ही प्रमाण है।

आत्मा मात्र के विशेष गुण:-

बुद्धयादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्ना नित्या अनित्याश्चः। नित्या ईश्वरस्य अनित्या जीवस्य।

अर्थ:-बुद्धि आदि अर्थात् बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म ये आठ गुण केवल आत्मा में रहने वाले विशेष गुण हैं। उनमें बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये तीनों नित्य और अनित्य दोनों है। ईश्वर की बुद्धि इच्छा और प्रयत्न नित्य होते है जबकि जीव के ये तीनों गुण अनित्य है।

संस्कार के भेद -

संस्कारस्त्रिविधः वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्तिः। अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना। आत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्ति।

अर्थ:- संस्कार के तीन भेद है वेग, भावना और स्थिति स्थापक। वेग नाम संस्कार पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है अनुभव से उत्पन्न जो स्मृति का कारण है उसे भावना संस्कार कहते है। यह संस्कार केवल आत्मा में रहता है। अन्यथा अवस्था को पदार्थ का फिर उसी स्थिति में प्राप्त कराने वाले गुण विशेष को स्थिति स्थापक कहते है। वह गुण कट (चटाई) पृथ्वी आदि में रहता है।

शारदा-जिसमें संस्कारत्व नामक सामान्य होता है उसे संस्कार कहते है जिसमें वेगत्व नामक सामान रहता है उसे वेग कहते है। भावना के लक्षण में स्मृति पद देने से अनुभवध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होती है तथा अनुभव पद रखने से आत्मा आदि में।

अवशिष्ट द्रव्य निरूपण:-

कर्म आदि शेष द्रव्यो का स्वरूप वर्णित किया जा रहा है -

कर्म का लक्षण व भेद

चलनात्मकंकर्म।ऊर्ध्वशसंयोगहेतुरूत्क्षेपणम्।अधोदेशसंयोगहेतुपक्षेपणम्।शरीरसन्निकृष्टसंयोगहेतु राकुंचनम्। शरीरविप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्।

अर्थ:- चलन स्वरूप वाली क्रिया को कर्म कहते है उसके पांच भेद है। उत्क्षेपण आदि। उनमें से उत्क्षेपण वह कर्म है जिसके कारण किसी वस्तु का उर्ध्वदेश में संयोग कराया जाता है जैसे गेद को ऊपर फेंकना। अपक्षेपण व कर्म है जिसमें किसी वस्तु का अधोदेश में संयोग कराया जाता है जैसे गेद को नीचे फेंकना। शरीर के निकट संयोग के कारण को अकुंचन संयोग कहते है। शरीर के दूर संयोग के कारण को प्रसारण कर्म कहते है। इनसे भिन्न सभी क्रियायें सामान्य ही है।

सामान्य का लक्षण व भेदः-

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद्द्विविधं परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि।

अर्थ:- जो नित्य और एक होते हुए अनेकों में अनुगत है उसे सामान्य कहते है यह सामान्य द्रव्य गुण और कर्म में रहता है । इसके दो भेद है पर और अपर। द्रव्य गुण और कर्म में रहने वाले सामान्य को परसामान्य कहते है। यही परसामान्य सत्ता सामान्य है। अल्प देश में रहने वाला द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य है।

शारदा-सामान्य के लक्षण में नित्यम पद रखने से संयोग में अतिव्याप्त नहीं होती। अनेक पद रखने से परिमाणऔर परिणाम में अतिव्याप्ति नहीं होते।

विशेष का लक्षण:- नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्त्तका विशेषाः।

अर्थ-नित्य द्रव्यों में रहने वाले विभेदकों को विशेष कहते है।

शारदा-भेद ज्ञान का आधार विशेष है। अतः यह व्यावर्तक है। नित्य है भूतों के अनन्त परमाणु दिग आकाश, काल, आत्मा और मन में विशेष होते है। एक परमाणु से दूसरे से पृथक है उसके कारण यह विशेष है यह सबके अंत में रहने वाले परमाणु नित्य निरवयवों द्रव्यों में रहते है इनका नाश नहीं होता विशेष सामान्य रहित व एक व्यक्ति वृत्तिक होता है। यह व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस विशेष के कारण काणादमत को वैशेषिक कहते है।

समवाय के लक्षण:- नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवातिष्ठते तावयुतसिद्धौ। अवयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तो जातिव्यक्ती विशेषनित्य द्रव्ये चेति।

अर्थ-नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते है। वह अयुतसिद्ध पदार्थों में रहता है। जिन दोनों के मध्य में एक नष्ट न होने तक दूसरे के आश्रित रहता है वैसे दोनों पदार्थ अयुतसिद्ध कहे जाते है जैसे अवयव और अवयवी गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य।

शारदा-समवाय के लक्षण में नित्य पद रखते से संयोग में अतिव्याप्ति नहीं होती। सम्बन्ध पद रखने से आकाशादि में अतिव्यक्ति नहीं होती।

प्रागभावादि लक्षण व उदाहरण:-

अनादिः सान्तः प्रागभावः उत्पत्तेः पूर्व कार्यस्य। सादिरनन्तः प्रध्वंसः उत्पत्यनन्तरं कार्यस्य। त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रातियोगिताकोऽत्यन्ताभावः।यथाभूतले घटो नास्तीति। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः यथा घटः पटो नेति।

अर्थ- जिसका आदि नहीं है किन्तु अंत है ऐसे अभाव को प्राग भाव कहते है यह कार्य की उत्पत्ति के पहले होता है। वह अभाव इसका आदि है अंत नहीं है वह प्रध्वंसाभाव है। वह कार्य की उत्पत्ति के बाद होता है। त्रैकालिक संसर्ग से युक्त प्रतियोगिता है जिसमें वह अत्यन्तता भाव है। जैसे भूतले घटो नास्ति, यहां पर भूतल में घट का अत्यन्ताभाव है।तादात्मय सम्बन्ध से युक्त प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते है। जैसे घट पट नहीं है।

शारदा-प्रागभाव के लक्षण में सान्त पद रखने से आकाश आदि में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। अनादि पद रखने से घटादि में अतिव्याप्ति नहीं होती है। प्रध्वंस के लक्षण में अनन्त पद रखने से घटादि में अतिव्याप्ति नहीं होती। सादि पद रखने से आकाशादि में अतिव्याप्ति नहीं होती।

पदार्थ उपसंहार:-

सर्वेषामपि पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।

सर्व पदार्थों के स्वरूप का अतिक्रमण न कर द्रव्य आदि साद पदाथों में ही न्याय के 16 पदार्थों का अन्तरभाव करने से पदार्थ साथ ही है यह सिद्ध हुआ।

ग्रन्थ रचना का प्रयोजन:-

कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।

अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रह:।

अर्थ:- कणाद मुनिकृत वैशेषिमत और गौतममुनि कृत न्यायमत में बालकों की व्युत्पत्ति के सिद्धि के लिए विद्वान् अन्नम्भट्ट ने तर्क संग्रह की रचना की है।

अभ्यास प्रश्न:-

1. संज्ञा एवं संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान है
   (अ) अनुमति (ब) उपमान
   (स) उपमिति (द) शाब्द
2. गो सदृश गवय होता है यह उदाहरण है
   (अ) उपमान (ब) अनुमान
   (स) अर्थापत्ति (द) शब्द
3. शब्द ज्ञान है
   (अ) वाक्यार्थ ज्ञान (ब) शब्दज्ञान
   (स) इनक्तेकाज्ञान (द) वाक्यज्ञान
4. वाक्यार्थज्ञान के हेतु है
   (अ) आंकाक्षा (ब) योग्यता
   (स) सन्निधि (द) तीनों
5. अयथार्थ अनुभव के भेद है
   (अ) संशय (ब) विपर्यय
   (स) तर्क (द) तीनों
6. सुमेलित है-
   (अ) अनुकूल वेदनीय - दुख
   (ब) प्रतिकूल वेदनीय - सुख
   (स) विहितकर्मजन्य - धर्म

(द) कृति - इच्छ

7. स्मृति का कारण है -
   (अ) अनुभव जन्म भावना
   (ब) स्थिति स्थापक
   (स) वेग
   (द) इनमें से कोई नहीं
8. सुमेलित नहीं
   (अ) नित्य सम्बन्ध - समवाय
   (ब) नित्य एक अनेक, अनुगत - सामन्य
   (स) व्यावर्तक - विशेष
   (द) चलनात्मक - अभाव
9. तर्क संग्रह की रचना का प्रयोजन
   (अ) काणाद का ज्ञान कराना (ब) न्याय मद का ज्ञान कराना
   (स) दोनों का (द) कोई नहीं
10. सादिः अनन्तः .....अस्ति
   (अ) प्रागभावः (ब) प्रध्वंसभाव
   (स) अत्यन्ताभावः (द) अन्योन्याभावः

5.4 सारांश

यह इकाई अत्यन्त ही महत्वपूर्ण इकाई है इसमें उपमान, शब्द, प्रमाण का स्वरूप बताया गया है। इसमें सुख आदि शेष गुण का प्रतिपादन हुआ है। समुवाय नित्न सम्बन्ध है। चलना कर्म है। व्यावर्तक विशेष है। प्राग भाव आदि चार प्रकार के है। इस ग्रंथ का प्रयोजन न्याय और वैसेसिग मत का बच्चों को बोध करना है।

5.5 उत्तर माला

1.	स	2.	अ	3.	अ	4.	द	5.	द
6.	स	7.	अ	8.	द	9.	स	10.	अ

5.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

तर्क संग्रह टीका कार आचार्य शेष राय शर्मा रेगमी
तर्क संग्रह टीका कार आद्या प्रसाद मिश्र
तर्क संग्रह टीकाकार श्री हरिहर शास्त्री

5.7 उपयोगी पाठ्य सामग्री

तर्क संग्रह टीकाकार आचार्य शेष राय शर्मा रेगमी
तर्क संग्रह टीका कार आद्या प्रसाद मिश्र
तर्क संग्रह टीकाकार श्री हरिहर शास्त्री

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

इस इकाई का सांराश अपने शब्दों में प्रस्तुत कीजिए।

खण्ड- तीन (Section-C)
श्रीमद्भगवद्गीता : द्वितीय एवं तृतीय अध्याय

इकाई.1श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय
    1.3.1 गीता का रचनाकाल
    1.3.2 महाभारत गीता में साम्य
    1.3.3 गीता की श्लोक संख्या
    1.3.4 गीता के प्रमुख टीकाकार
    1.3.5 गीता के अष्टादश अध्यायों का सार
1.4 गीता का महत्व
    1.4.1 श्रीमद्भगवद्गीता का दार्शनिक तत्वविवेचन की दृष्टि से महत्व
    1.4.2 त्रिविध योग
    1.4.3 निष्काम कर्म योग
    1.4.4 स्थित प्रज्ञ
    1.4.5 गीता में आत्मतत्व
    1.4.6 ब्रह्म या परमेश्वर
    1.4.7 जीव
    1.4.8 वर्णधर्म या स्वधर्म
    1.4.9 गीता की दैवी और आसुरी सम्पत्ति
    1.4.10 मोक्ष
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

गीता संस्कृत साहित्य काल में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व का अमूल्य ग्रन्थ है। यह भगवान श्री कृष्ण के मुखारबिन्द से निकली दिव्य वाणी है। इसमें 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं। इसके संकलन कर्ता महर्षि वेद ब्यास को माना जाता है। आज गीता का विश्व की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। जिससे इसकी कीर्ति दिगदिगंतर तक व्याप्त है। श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है जिसका पार आज तक कोई नहीं पाया है। इसका अध्ययन मनन चिन्तन करने पर नित्य नये भाव उत्पन्न होंगे कहा जाता है कि गीता में जितना भाव भरा है उतना बुद्धि में नहीं आता हैं। बुद्धि की एक सीमा है, और जब बुद्धि में आता है तब मन में नहीं आता और जब मन में आता है तब फिर कहने में नहीं आता है। यदि कहने में आता है तो लिखने में नहीं आता है। इस प्रकार गीता असीम है। गीता में ज्ञान योग, कर्मयोग, और भक्तियोग का वर्णन किया गया है। प्रस्तावना के अन्तर्गत गीता के 18 अध्यायों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। गीता को सामान्य जन समझ नहीं सकता है तो उसकी विषय में लिखना तो दूर। किन्तु गीता के विषय में कोई कुछ कहता है तो वह वास्तव में अपने बुद्धि का ही परिचय देता है– **सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।।(मानस बालका. 13/9)**

गीता की प्रस्तावना में प्रत्येक अध्याय का नाम और उसका संक्षिप्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार प्रस्तावना का परिचय जान लेने के बाद गीता के महत्व को जान पायेंगें गीता प्रस्थानत्रयी का ग्रन्थ है। प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदे आते हैं। इसके बाद, स्मृति प्रस्थान, मोक्ष प्राप्ति, वर्ण व्यवस्था, गीता में ज्ञान कर्म भक्ति का समन्वय रूप, साधन की दो शैली, आदि के विषय में जानकारी प्राप्त होगी इसके बाद अभ्यास प्रश्न एवं इकाई का सारांश दिया गया है। तथा परिभाषिक शब्दावली के साथ अभ्यास प्रश्नों का उत्तर और सन्दर्भ ग्रन्थ सूची, निबन्धात्मक प्रश्न आदि का वर्णन किया गया है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के चश्चात् आप गीता का परिचय एवं महत्व निम्न बातें जान सकेंगें-

- ❖ गीता में आप देखेंगें कि श्री कृष्ण भगवान एक योगेश्वर थें जो मानव रूप में विराज मान थे। गीता में आत्मा का अमरत्व और अवतारवाद विशेष रूप से परिस्फूट मिलते हैं।
- ❖ धर्म साधना में उदार भाव से युक्त होना और निष्काम भाव से कर्म करते रहने की तथा सभी प्राणियों में ब्रह्म दृष्टि का भाव आपके अर्न्तमन में जागृत होगा।
- ❖ निष्काम कर्मयोग, भगवान ने कर्म फल सम्पर्ण तथा सर्व धर्म त्याग आदि को आत्मसात करने के लिए प्रयत्नशील होंगें।
- ❖ गीता का महत्व पढ़कर जान सकेंगें की ज्ञान-कर्म-भक्ति योग में से प्रत्येक ही मुक्ति का मार्ग है।
- ❖ आप जान पायेंगें कि आत्मा ही सत्य है। यज्ञ ही कर्म है और युद्ध-दैवी एवं आसुरी सम्पदाओं का संघर्ष युद्ध है। ये मानव मन में अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियां है इन दोनों का मिटना परिणाम है।

1.3 श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय

भगवदगीता संस्कृत महाकाव्य का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में अत्यन्त समादर प्राप्त ग्रन्थ है। इसमें भगवान कृष्ण द्वारा अर्जुन को कुरूक्षेत्र युद्ध में दिया गया द्विव्य उपदेश है यह गीता वेदान्त दर्शन का सार है। यह ग्रन्थ महाभारत की एक घटना के रूप में प्राप्त होती है। महाभारत में वर्तमान कलियुग तक की घटनाओं का विवरण मिलता है। इसी युग के प्रारम्भ में आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व भगवान श्री कृष्ण ने अपने मित्र तथा भक्त अर्जुन को यह गीता सुनाई थी।

1.3.1 गीता का रचनाकाल -

गीता के रचनाकाल के सम्बन्ध में डा0 रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने चर्तुव्यूह को आधार मानकर सिद्ध किया है कि भगवदगीता की रचना सात्तवत या भागवत सम्प्रदाय की सुव्यस्थित होने के पूर्व हुई है उनके मत में इसका काल चौथी ई0पू0 का आरम्भ है तथा यह भक्ति सम्प्रदाय या ऐकान्तिक धर्म की प्राचीनतम व्याख्या है। यद्यपि गीता के काल निर्णय के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की गवेषणाए भी हैं और आज भी हो रही है।

इसलिये गीता को महाभारत के भीष्म पर्व पर आधारित मानना उचित है महाभारत के भीष्म पर्व के 25 से 42 अध्याय के अन्तर्गत भगवदगीता आती है फिर शान्तिपर्व और अश्वमेधपर्व में भी गीता का कुछ प्रसंग उल्लिखित मिलता है।

भगवदगीता भागवत धर्म पर आधारित द्विव्य ग्रन्थ है इसकी रचनाकाल और सन्देश के विषय में विद्वानों में मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों का मानना है कि गीता में परस्पर विरोध विचारों का सामन्जस्य है। जो यह सिद्ध करता है कि एक व्यक्ति द्वारा रचित होना सम्भव नहीं है। बल्कि विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न समयों में लिखा होगा। परन्तु भारतीय विचारक एवं चिन्तक मानतें है कि भागवत धर्म का अभ्युदयकाल ई0सन् के 1400 वर्ष पहले रहा होगा और गीता कुछ शताब्दियों के बाद प्रकाश में आयी होगी मूल भागवत धर्म भी निष्काम कर्म प्रधान होते हुये भी आगे चलकर भक्ति प्रधान स्वरूप धारण कर विशिष्टा द्वैत का समावेश कर लिया तथा प्रचलित हुआ। गीता महाभारत का ही अंश है और यदि महाभारत काल निर्धारण है तो गीता का भी उसी आधार पर सहज ही लगाया जा सकता है महाभारत लक्ष श्लोकात्मक ग्रन्थ है और शक् के लगभग 500 पूर्व अस्तित्व में था-

गार्वे के अनुसार—

''मूल गीता की रचना 200 ई0पू0 के लगभग हुई होगी जब विष्णु और कृष्ण का तादात्म्य स्थापित किया जा चुका था। हॉपकिन्स, कीथ, डाउसन और फर्कुआर आदि विद्वान इसे श्वेताश्वतर उपनिषद् से मिलता जुलता मानतें है। लेकिन समयानुसार कुछ बाद का उपनिषद मानतें है। ओटो और याकोबी मूलगीता ग्रन्थ को दार्शनिक या धार्मिक ग्रन्थ नहीं मानतें है''। इन लोगों का मानन है कि यह मूलतः महाकाव्य का सुन्दर अंश है जिसे बाद में दार्शनिकों ने वर्तमान कलेवर में सुसज्जित कर नया रूप प्रदान किया।

1.3.2 महाभारत, गीता में साम्य

महाभारत में 18 पर्व है जिनमें पूर्वार्द्ध में 6 पर्व है एवं उत्तरार्द्ध में 12 पर्व है। इस ग्रन्थ का महाभारत से बड़ा साम्य है महाभारत में 18 पर्व है वहीं गीता में 18 अध्याय है। जिसको 6-6 के क्रम से तीन भागों में बाटा जा सकता है पहले 6 अध्याय कर्मयोग पर आधारित है और 7-12 वें तक अध्याय भक्तियोग पर आधारित है और अन्तिम 6 अध्याय ज्ञान की पराकाष्ठा से ओत-प्रोत है और इस प्रकार पूरी गीता में महाभारत से कितना साम्य दिखलाई पडता है एक तरफ 7-7

अक्षौहिणी सेना थी तो दूसरी तरफ 11 अक्षौहिणी सेना ऐसे वातावरण में गीता कही गयी है, जो तत्व ज्ञान ऋषि महात्मा लोग गुफा कन्दराओं में रहकर प्रदान किये हैं वह भी गीता के तत्वज्ञान के सामने कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण गीता ग्रन्थ अष्टादश अध्यायों में विरचित है। प्रत्येक अध्याय एक-एक योग है। गीता की पृष्ठ भूमि युद्ध क्षेत्र है। भगवान श्री कृष्ण का मुख्य प्रयोजन मानव अवतार रूप धारण करके अधर्म का नाश और धर्म का उत्थान करना था- जो कि स्वयं कहते है-
'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम सृजाम्यहम्।।' (गीता 4/7)

कुरू क्षेत्र में युद्ध की तैयारी चल रही थी इस युद्ध का कारण राज्य के अधिकार क्षेत्र को लेकर था। कौरव अपने राज्य से सूई के नोंक के बराबर जमीन देने को तैयार नहीं थे। जबकि पूर्व में ही सहमति दी गयी थी इस वचन से विमुक्त होने पर युद्ध की पृष्ठ भूमि तैयार होना तय हो गया था। दोनो पक्ष से श्रेष्ठ वीर युद्ध भूमि में उपस्थित थे शारीरिक बल प्रयोग से इस झगडे का निपटारा होना है। कुरूक्षेत्र के युद्ध भूमि में एक तरफ पाण्डव सेना और दूसरी ओर कौरव सेना युद्ध के लिये सन्नद्ध खडी है। भगवान कृष्ण अर्जुन के सारथि है और रथ को दोनों सेनाओं के मध्य ले जाकर जब खडा कर देते है तब अर्जुन को मोह हो जाता है। क्योंकि सभी लोग युद्ध में अपने ही सगे सम्बन्धी थे अर्जुन को श्री कृष्ण समझाते हुये कहते हैं कि अपने स्वधर्म अर्थात् क्षत्रिय धर्म का पालन करो और अधर्म का नाश करके धर्म को विजयी बनाओ तर्क-वितर्क बुद्धि युक्त अर्जुन को बारम्बार श्री कृष्ण 'स्वधर्म' और अपने 'स्वभाव' के अनुसार निष्काम कर्म का पालन करने का उपदेश देते हैं। ध्यातव्य है कि गीता का उपदेश समाप्त होने पर श्री कृष्ण ने केवल यही कहा है कि ''यथेच्छसि तथा कुरू'' अर्थात् (गीता 18/63) जैसी तुम्हारी इच्छा हो वही करो और अर्जुन ने उत्तर दिया- आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। अतः जैसा आपने कहा है वैसा ही करूंगा- **'करिष्ये वचनं तव' (गीता 18/73)**

इस प्रकार हम देखते है कि सम्पूर्ण गीता में श्री कृष्ण परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। श्री कृष्ण अर्जुन को निष्काम कर्म का सदुपदेश देते हैं। गीता के ''अष्टादश'' अध्याय के विषय में अर्थात् 18 अंक को देखा जाय तो यह परिलक्षित होता है कि सम्पूर्ण चराचर जगत की सार्थकता 18 अंको में ही समाविष्ट है। क्योंकि जगत में 4 वेद, 4 युग, 4 वर्ण, 4 आश्रम इन्हीं सोलह शाखाओं रूपी वृक्ष के ऊपर जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षियों का चिर निवास है जो मिलकर 18 हो जाते हैं-**'द्वासुपर्णा सुयजासखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (मु0 उप03/1/5)**

महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास को 17 पूराणों की रचना के बाद भी आध्यात्मिक शान्ति नहीं प्राप्त हुई है। वे 18 वें महापुराण के रूप में श्री कृष्ण भक्ति भावना से ओत-प्रोत श्रीमदभागवदगीता महापुराण वर्णित किया। वेद व्यास महा पुरूष थे। उन्होने महाभारत के लौकिक कौरव- पाण्डव के महाभारत के युद्ध को श्रीमदभगवदगीता में दैव तथा आसुर स्वभाव के अर्न्तद्वन्द का चित्र इस प्रकार चित्रित किया है कि विवेक और विचारपूर्वक मनन करके सम्पूर्ण चराचर जगत का एक मात्र स्वामी जीवात्मा मोह मयी निद्रा से जागृत होकर अधिभौतिक जगत कि नश्वरता को भली-भांति समझ लेता है और जरामृत्यु के भय से सर्वदा मुक्त हो जाता है महर्षि 18 अंको की प्रेरणा सम्भवतः यहीं से मिली हुई होगी। क्योंकि उन्होनें महाभारत ग्रन्थ को 18 पर्वात्मक ही रचा। और उसके महा संग्राम की अवधि 18 दिन तथा गीता रूप महायोग शास्त्र का ज्ञान और कर्म रूपी

तत्व का वर्णन भी गीता के 18 अध्यायों में कहकर वर्णित किया गया है। जिससे प्राणियों को परमपद का मार्ग सुनिश्चित रूप से प्राप्त हो सके।

1.3.3 गीता की श्लोक संख्या -

गीता की श्लोक संख्या को लेकर विद्वानों में प्राचीन काल से लेकर आज तक मतभेद विद्यमान है। आचार्य शंकर ने गीता पर अपना श्रीमदभगवद गीता शांकरभाष्य लिखा है और साथ ही श्लोंको की संख्या 700 मानकर गीता भाष्य की रचना की थी। परवर्ती भाष्यकार, टीकाकार और व्याख्याकारों ने शंकर के ही मत को स्वीकार किया है। महाभारत के भीष्मपर्व के 43 अध्याय के चौथे और पांचवें श्लोकों में वैशम्पायन ने भगवदगीता की प्रशंसा करते हुये कहा है-

'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपंचाशं सप्तषष्ठि च संजयः।।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीतायाः मानमुच्यते।'

अर्थात् गीता में श्री कृष्ण के द्वारा कथित श्लोंकों की संख्या 620 है, अर्जुन कथित 56 श्लोक है तथा संजय कथित 67 और धृतराष्ट्र कथित एक श्लोक है। इस प्रकार उपर्युक्त यदि सभी श्लोकों की संख्या परिगणित की जाय तो 745 हो जायेगी। आधुनिक विद्वानों में भी श्लोक संख्या को लेकर मतभेद उपस्थित है और आधुनिक लोग गीता के आकार को अपूर्ण मानते है। इस प्रकार कुछ लोग तो गीता की श्लोक संख्या 745 ही मानते किन्तु वर्तमान मे प्रचलित गीता की श्लोक संख्या 700 ही मानी जा रही है। महाभारत के भीष्मपर्व के 25 से 42 अध्याय की भगवदगीता भी 700 श्लोकों में पूर्ण है। कहीं-कहीं पर श्री भगवानुवाच, संजयउवाच, अर्जुनउवाच, धृतराष्ट्रउवाच आदि कुल 58 उक्तियों में श्लोक संख्या नहीं दी गयी हैं इसी प्रकार दुर्गा सप्तशती भी 700 श्लोंको में पूर्ण में है। उसमे मार्कण्डेयउवाच, वैश्यउवाच इत्यादि 56 उवाचात्मक वाक्यों को भी क्रमिक श्लोक संख्या के रूप में चण्डी के 700 श्लोंकों के अन्तर्गत लिया गया है।

महाभारत में वैशम्पायन की उक्ति के अनुसार गीता की श्लोक संख्या 745 होती है। और वह भी धृतराष्ट्रउवाच 9, अर्जुनउवाच-20, श्री भगवानुवाच-28 ऐसी कुल 58 उक्तियों को महाभारत के 700 श्लोंको के अन्तर्गत नहीं किया गया है, और इसी कारण गीता की श्लोक संख्या में कुछ भेद परिलछित होता है। यथार्थ में भी जो मूल महाभारत है उसमें भी 700 श्लोक ही प्राप्त होते हैं और मूल महाभारत श्लोकों के अवलम्बन से ही आचार्य शंकर ने अपने भाष्य की रचना की थी।

1.3.4 प्रमुख टीकाकार

गीता हिन्दू धर्म का प्राचीन ग्रन्थ है और यह प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत समावेशित है। इसकी प्रमाणिकता उपनिषदों और 'ब्रम्हसूत्र' के बराबर मानी गयी है। भारत में जब बौद्ध धर्म का हरास हो गया था उस समय विभिन्न धर्म और उसके धर्मावलम्बी अपने-अपने मत को उत्कृष्ट रूप प्रदान करने के लिए उठ खडे हुये जिनमें से प्रमुख-अद्वैवत वाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि प्रमुख थे। गीता की विभिन्न टिकायें आचार्यों द्वारा एक ओर अपने मत के समर्थन, प्रोत्साहन और वृद्धि के लिए लिखी गयी तथा दूसरी ओर दूसरे सम्प्रदायों के खण्डन के लिए लिखी गई है।

शंकराचार्य की टीका (ई0 सन् 788-820) इस समय विद्यमान टीकाओं में सबसे प्राचीन है इससे भी पूरानी अन्य टीकायें की जिनका नाम निर्देश शंकराचार्य ने अपनी भूमिका में किया है। परन्तु वे इस समय प्राप्त नहीं होती है। शंकराचार्य के दृष्टिकोण का विकास आनन्दगिरि ने जो सम्भवतः 13 वीं शताबदी में हुये तथा इनके बाद श्रीधर (1400ई0सन्) ने और मधुसूदन (16 वीं शताब्दी) ने तथा अन्य परवर्ती लेखकों ने किया। रामानुज ने (11वीं शताब्दी ई0) ने अपनी टीका में संसार की अवास्तविकता और कर्म त्याग के मार्ग के सिद्धान्त का खण्डन किया उसमें यमुनाचार्य द्वारा अपने 'गीतार्थ संग्रह' में प्रतिपादित व्याख्या का अनुसरण किया रामानुज ने गीता पर अपनी टीका में एक प्रकार का वैयक्तिक रहस्यवाद विकसित किया है और ये भगवान विष्णु को ही एक मात्र सच्चा देवता स्वीकार करते हैं।

मध्व ने (ई0सन् 1199-1276) तक भगवदगीता पर दो ग्रन्थ 'गीताभाष्य' और 'गीतातात्पर्य' लिखें उसमें गीता में से द्वैतवाद के सिद्धान्त को ढूंढ निकालने का प्रयास किया है। यह मानते हैं कि आत्मा और परमात्मा को एक तरह से तदनुरूप न मानकर भिन्न मानन चाहियें। 'वहतू है' अर्थात् 'तत्वमसि' का अर्थ करते हुये कहते हैं कि हमें मेरे तेरे के भेदभाव को त्याग देना चाहिये और समझना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु भगवान के नियन्त्रण के अधीन है।

नीम्बार्क (1162ई0सन्) में द्वैताद्वैत के सिद्धान्त को अपनाया और ब्रम्हसूत्र पर टीका लिखी इनके शिष्य केशव कशमीरी ने गीता पर एक टीका लिखी जिसका नाम ''तत्वप्रकाशिका'' है।

गीता पर अनेक टीका कारों ने अपने-अपने समय में बाल गंगाधर तिलक और अरविन्द, गांधी की टीकायें मुख्य है और सबके अपने-अपने विचार हैं।

सन्दर्भग्रन्थ—

यदीयं तदीयम् इति भेदम आपहाय सर्वम् ईश्वराधीनम् इति स्थितिः। (भागवत-तात्पर्य)। डा0 राधाकृष्णन लिखते हैं कि उपदेश देते समय कृष्ण के लिए युद्ध क्षेत्र में 700 श्लोकों को पढ़ना सम्भव नहीं हुआ होगा उन्होनें कुछ थोडी सी बातें कहीं होगी जिन्हों बाद के लेखको नें विस्तारित कर दिया।

''भगवदगीता उस महान आन्दोलन के बाद की, जिसका प्रतिनिधित्व प्रारम्भिक उपनिषद् करते हैं और दार्शनिक प्रणालियों के विकास और उनके सूत्रों में बंध जाने के काल से पहले की रचना है। इसकी प्राचीन वाक्य रचना और आन्तरिक निर्देशों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यह निश्चित रूप से ई0पू0 काल की रचना है इसका काल ई0पू0 5वीं शताब्दी कहा जा सकता है, हलांकि बाद में भी इसके मूल पाठ में अनेक हेर-फेर हुये हैं।''

1. हमें गीता के रचयिता का नाम मालूम नहीं है। भारत के प्रारम्भिक साहित्य की लगभग सभी पुस्तकों के लेखकों का नाम अज्ञात हैं यद्यपि गीता की रचना का श्रेय व्यास को दिया जाता है, जो महाभारत का पौराणिक संकलन कर्ता है। गीता के 18 अध्याय महाभारत के भीष्मपर्व के 23-40 तक के अध्याय हैं।

गार्वे मानतें है कि गीता पहले सांख्य योग सम्बन्धी ग्रन्थ था। जिसमें बाद में कृष्ण वसुदेव पूजापद्धति आ मिली और ई0पू0 तीसरी शताब्दी में इसका मेल-मिलाप कृष्ण को विष्णु का रूप मानकर वैदिक परम्परा के साथ बिठा दिया गया। मूल रचना ई0प0 200 में लिखी गयी थी और इसका वर्तमान रूप ई0 की दूसरी शताब्दी में किसी वेदान्त के अनुवायी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। गर्वे के सिद्धान्त को दार्शनिक लोग समान्यतया अस्वीकार करते हैं।

'कीथ' मानते है कि मूलतः गीता श्वेताश्वतर उपनिषद की तरह थी, बाद में उसे कृष्ण पूजा के अनुकूल बनाया गया होगा। हौल्टजमन गीता को सर्वेश्वरवादि कविता का रूप मानते हैं। जो बाद में विष्णु प्रधान हो गया है। रूडोल्पओटो के अनुसार ''मूलगीता महाकाव्य का एक शानदार खण्ड थी और उसमें किसी प्रकार का कोई सैद्धान्तिक साहित्य नहीं था जैकोबी का ओटो से मतैक्य है।''

अपने प्रयोजन के लिये हम गीता के उस मूलपाठ को अपना सकते है जिस पर शंकराचार्य की टीकाएं एवं भाष्य उपलब्ध है। क्योंकि गीता की सबसे पुरानी टीका शंकरभाष्य ही अत्यन्त प्राचीन रूप में उपलब्ध है।

प्रो0 काशीनाथ बाबू ने एक साम्प्रदायिक श्लोक के अधार पर श्री शंकराचार्य का जन्मकाल 845 विक्रमीसंवत (शक् 710) निश्चत किया है। अतः आचार्य शंकर के जन्म से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व ही गीता लगभग शक् 400 तक प्रकाश में आ चुकी थी। पाश्चात्य विद्वान तैलंग ने कालिदास और बाणभट्ट को गीता से परिचित बतलाया है। कालिदास कृत रघुवंश में (10-39) विष्णु की स्तुति में ''अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते्'' इस श्लोक को गीता के (3.22) नान-वाप्तवाप्तव्यं'' श्लोक से संभवतः ग्रहण किया गया होगा और बाणभट्ट के ''महाभारतमिवावानन्तगीताकर्णना नन्दितरं'' इस श्लेष प्रधान वाक्य में गीता की झलक दिखलाई पड़ती है। यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है जब एक 691 संवत (शक 556) के शिलालेख में कालिदास और भारवि का नाम उल्लिखित प्राप्त होता है। और बाणभट्ट हर्ष के समकालिन माने जातें है। इन प्रमाणो से गीता का शक् 400, 500 से कम से कम 200 वर्ष पहले ही महाभारत में भीष्मपर्व में होना निश्चित होता है।

भारतीय विद्वान यह मानते हैं कि गीता में परस्पर विरोधी लगनेवाली विचारधाराओं का विवेचन अवश्यक किया गया है। परन्तु समस्त तत्व बिखरे न होकर आबद्ध हैं। इससे सिद्ध होता है कि गीता की रचना एक बार ही हुई होगी।

गीताकार में भागवत धर्म के प्रभाव को बढ़ता देखकर उपनिषदों के सिद्धान्तों का नये भक्ति आन्दोलन के साथ समन्वित करने का प्रयास किया है। इसी कारण गीता में विभिन्न विचार धारायें मिलती हैं। डा0 राधाकृष्णन ने इसे 5वीं शताब्दी ई0पू0 की रचना माना है। जो सत्य के निकट सिद्ध होता है। गीता का प्रारम्भिक उपनिषदों ईश, केन, कठ से सम्बन्ध था और वेदों के प्रति भी दृष्टिकोण उपनिषदों के समान ही था। गीता में बौद्ध धर्म का परिचय न मिलना यह सिद्ध करता है कि उस समय प्रचार प्रसार नहीं रहा होगा। षड्दर्शनों में से केवल सांख्य और योग का ही विशद वर्णन मिलता है इससे यह स्पष्ट होता है कि गीता की रचना दार्शनिक सम्प्रदायों के अभ्युदय़ पूर्व ही हो चुकी थी।

1.3.5 गीता के अष्टादश अध्यायों का सार संक्षेप

सम्पूर्ण गीता ग्रन्थ अष्टादश अध्यायों में रचित है प्रत्येक अध्याय ही एक-एक योग हैं गीता के प्रथम अध्याय का नाम अर्जुन विषाद योग है। गीता की पृष्ठ भूमि युद्ध क्षेत्र है। भगवान कृष्ण अपनी अवतार लीला में अधर्म का नाश और धर्म उत्थान करने के लिए अवतरित हुये हैं। कौरव और पाण्डवों में राज्य के अधिकारी को लेकर युद्ध होना अवश्य सम्भावी हो गया है। कौरव पक्ष में 11 अक्षौहिणी और पाण्डव पक्ष में सात अक्षौहिणी सेना सुसज्जित होकर कुरूक्षेत्र के मैदान पर खडी है। शारीरिक बल प्रयोग से ही इस युद्ध का निपटारा होना है और दोनो तरफ

की सेनाओं के बीच में अर्जुन खडे होते हैं और जब नजर उठाकर देखते है तो सभी सगे सम्बन्धी दिखाई देते है और अर्जुन का मन क्षुब्ध हो जाता है कि भिक्षा वृद्धि करके जीवन यापन कर लूंगा लेकिन अपनो को नहीं मारूंगा तब भगवान श्री कृष्ण किंकर्तव्य विमूढ़ अर्जुन को गीता का उपदेश देते है जो अष्टादश अध्याय वाली श्री मदभगवदगीता में वर्णित है। अर्जुन का शरीर कांपने लगा, गला सूख गया, शरीर शिथिल होने से गाण्डीव धनुष हाथ से नीचे गिर पड़ा प्रश्न उठता है कि अर्जुन ने इस परिवर्तन के लिए उत्तर दायी कौन है। फिर यह भी सोचने पर विवश हो जाता है कि जब स्वयं भगवान श्री कृष्ण अर्जुन के सारथि है तो इस प्रकार की जड़ता और तामसिकता कैसे अर्जुन जैसे महावीर को आच्छादित कर लेती है। श्री कृष्ण अर्जुन को भरी बातों से ही समझाते हैं कि- ''तुम शोक करने के अयोग्य व्यक्तियों के लिये शोक कर रहे हो, और पण्डितों की तरह बात कर रहें हो। अतः युद्ध के लिए तुम दृढ़ प्रतिज्ञ होकर उठ खडे होओ।''

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृत निश्चयः।।

श्री कृष्ण के समझाने पर भी अर्जुन की दुर्बलता और कायरता कम होने का नाम नहीं ले रही हैं कैसा दुर्योग है। श्री कृष्ण को लगभग दो घण्टे तक 18 अध्याय वाली गीता का उपदेश देना पडा तथा अनेक प्रकार के वचनों का आश्रय लेना पड़ा इस अध्याय में देखेंगे कि श्री कृष्ण परमात्मा रूप होते हुये भी अर्जुन के मन के भी सारथि बन गये है और उनकों क्षत्रियोचित कर्तव्य याद दिलाकर कल्याण मार्ग में परिचालित किये हैं। यथार्थ में श्री कृष्ण 'भवरोग-वैद्य' थे गीता में अर्जुन के माध्यम से समूची मानव जाति की मनोवृत्तियों का विशलेषण हुआ है।

गीता के द्वितीय अध्याय का नाम 'सांख्य योग' है इसमें 72 श्लोक समाविष्ट है। सांख्य शब्द का अर्थ है ज्ञान और योग का अर्थ है कर्म ज्ञान और कर्म पर सम्मिलित रूप से विशेष चर्चा होने के कारण इस अध्याय का नाम सांख्य योग रखा गया है। अर्जुन का विषाद दूर करने के लिए इस अध्याय में विशेषतया श्री कृष्ण द्वारा आत्मतत्व का उपदेश दिया गया है आत्मा और शरीर की नित्यता-अनित्यता का वर्णन किया गया है। उसके पश्चात श्री कृष्ण ने निष्काम कर्म योग के सम्बन्ध में भी उपदेश दिये है। निष्काम कर्म योग नामक उपदेश यद्यपि अर्जुन को भले ही लक्ष करके प्रकट किया गया है। तब भी समस्त बुद्धिजीवी सदसद विवेकी मनुष्य जाति के लोग इनसे विशेष रूप से उपकृत होंगे ज्ञान ओर कर्म का विरोध सनातन युग से चला आ रहा है कि ज्ञान श्रेष्ठ है कि कर्म श्रेष्ठ है। इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर देने में इस अध्याय का महत्व पूर्ण योग दान है। निष्काम कर्म योग के साथ ज्ञान का मेल करके निष्काम भक्ति रूप से अमृत रस से सिंचित होकर यह अध्याय मंगल मय दीपशिखा की तरह मनुष्यों के जीवन को अवलोकित कर सुशोभित हो रही है निष्काम कर्म, भक्ति, ज्ञान तीनों के संयोग के परिणाम स्वरूप भी परम लक्ष्य 'स्थितप्रज्ञ' एवं आत्मस्वरूप साक्षात्कार रूपी अवस्था को प्राप्त होता है। इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। ब्राह्मी स्थिति ही मोक्ष है। ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् मनुष्य निष्काम भाव से अपने वर्ण और आश्रम के शास्त्रविहित कर्म करके अन्त में ब्रह्म निर्वाण या 'मोक्ष' को प्राप्त करता है। इस अध्याय में 20 वें श्लोक के बाद ही श्री कृष्ण अर्जुन संवाद आरम्भ होता है।

तृतीय अध्याय का नाम 'कर्मयोग' है। इसमें मात्र 43 श्लोक वर्णित है शोक मोह ग्रस्त अर्जुन के प्रश्न पूंछने पर श्री भगवान ने ज्ञान और कर्म का मेल करके इस अध्याय में विशेष रूप से कर्म माहात्म्य और स्वधर्म पालन का उपदेश दिया है। सन्यासियों के लिए ज्ञान योग और

अन्य के लिए कर्म योग का उपदेश दिये हैं। अनाशक्त भाव से ईश्वरार्पित बुद्धि से कर्म करना ही कर्मयोग है। कर्मयोगी फल सहित सभी कर्म श्री भगवान को अर्पित कर देता है। तथा कर्तृत्वभिमान का त्याग कर देता है। दोनों ही कठिन साधनायें हैं। श्री मदभगवदगीता मनुष्य मात्र के अनुभव पर आधारित ग्रन्थ है। मनुष्य ही परमात्मा प्राप्ति का एक मात्र अधिकारी है। इस प्रकरण में भगवान ने कहीं भी बुद्धि शब्द का प्रयोग नहीं किया है। क्योंकि नित्य और अनित्य, सत् और असत्, अविनाशी और विनाशी, शरीर और शरीर को अलग-अलग समझने के लिए 'विवेक' की ही आवश्यकता है। 'बुद्धि' की नहीं विवेक बुद्धि से परे है विवेक बुद्धि में प्रकट होता है, बुद्धि विवेक में नहीं कर्मयोग प्रकरण में बुद्धि के विशेषता बतलाई गयी है कि ''व्यवसायित्मका बुद्धिरेकेह'' अर्थात् बुद्धि में निश्चय कि प्रधानता होती है। इस तरह कर्मयोग में निश्यचयात्मिका बुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता बताने के बाद भगवान अर्जुन को समभाव पूर्वक कर्तव्य कर्म करने के लिए विशेष रूप से कहते हैं- **जैसे कर्मण्येवाधिकारस्ते' (2/47) 'योगस्थः कुरूकर्मणि (2/48) बुद्धौशरणमन्विच्छ (2/49), योगः कर्मसुकौशलम्(2/50)** आदि श्लोकों में भगवान अर्जुन को समभाव पूर्वक कर्तव्य कर्म करने के लिए प्रेरित करते है इसी अध्याय में जनकादि का उदाहरण सम्मुख रखकर अर्जुन को लोकसंग्रह का महत्व बतलाते है, इसकी सार्थकता सिद्ध करते है। समबुद्धि रूपी कर्मयोग के द्वारा परमेश्वर को प्राप्त हुये स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरूष के लक्षण, आचरण और महत्व का भी प्रतिपादन इसी अध्याय में किया गया है।

श्रीमद्भगवदगीता के चतुर्थ अध्याय का नाम 'ज्ञानयोग' है। इसमें 42 श्लोक वर्णित है इस चतुर्थ अध्याय में भगवान ने अपने अवतरित होने के रहस्य और तत्व के सहित कर्म योग तथा सन्यास योग का अर्थ इन सबके फलस्वरूप जो परमात्मा के तत्व यथार्थ ज्ञान है। उसका वर्णन किया है इसलिये इसका नाम ज्ञानकर्मसन्यासयोग भी कहा जाता है इसमें प्रारम्भ में कर्मयोग की प्रशंसा की गयी है इसी अध्याय में चतुर्थ वर्णों की उत्पत्ति, जन्म कर्मरूप लीलातत्व, कर्म अकर्म और विकर्म का विश्लेषण, ज्ञान क्या है, ज्ञान लाभ का उपाय, फल और अधिकारी का विचार, वर्ण भेद, कर्मभेद, ज्ञान लाभ के बहिरंग और अन्तरंग साधन आदि अनेक आध्यात्मिक विषयों का उपदेश दिया है। निष्काम कर्म योग के माध्यम से ही 'ज्ञानयोग' को प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि भगवान स्वयं कहते है- **''सर्वकर्माखिलंपार्थज्ञानंपरिसमाप्यते-** हे अर्जुन, समस्त कर्म ज्ञान उत्पन्न होने पर समाप्त हो जाते है कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान अलग-अलग न होकर परस्पर एक दूसरे के सहायक है। और अन्ततः श्री भगवान के स्वरूप परमधाम की प्राप्ति करा देते हैं। उस अध्याय में वर्ण विभाग का भी वर्णन किया गया है- 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'। मानव समाज को धर्म समाज परिवर्तित करने के लिए वर्ण विभाग की व्यवस्था की गयी इससे यह संकेत मिलता है कि श्री भगवान भी जिनके लिए कुछ भी अप्राप्त नहीं है वह भी र्निलिप्त होकर कर्म का सम्पादन करते है। इससे कर्म करने की पद्धति का यथार्थ संकेत मिलता है। इसके अनन्तर वाह्य कर्म, विविध लाक्षणिक यज्ञों की विशेषता, ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता, ज्ञान क्या है, ज्ञान लाभ का उपाय क्या है। इसके फल और अधिकारी का विचार आदि अनेक तत्वों की आलोचना इस अध्याय में की गयी है। यज्ञों का वर्णन करके इसके भेद बताये गये हैं तथा इसमें द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ को उत्तम बतलाया गया है।

29 श्लोक युक्त इस गीता के पंचम अध्याय में कर्म योग निष्ठा और सांख्य योग निष्ठा का वर्णन हुआ है। सांख्य योग को ही सन्यास नाम से अभिहित किया जाता है इसलिये अध्याय का नाम कर्म सन्यास योग रखा गया है। इसमें अर्जुन भगवान से पूछते हैं कि सांख्य योग और कर्म योग में

कौन श्रेष्ठ है। इसके उत्तर में भगवान स्पष्ट करते है कि दोनो ही श्रेष्ठ और कल्याण कारक है। परन्तु कर्म सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग भी श्रेष्ठ है इस अध्याय के 10वें और 11वें श्लोक में भगवत दर्पण बुद्धि से कर्म करने वाली की और कर्म प्रधान कर्म योगी की प्रशंसा करके कर्मयोगियों के कर्मों को आत्मशुद्धि में हेतु बतलाया गया है। आगे कहा गया है कि अज्ञान के द्वारा जब ज्ञान आवृत्त हो जाता है तब जीव को मोह माया घेर लेती है। इसलिये ज्ञान का महत्व बतलाया गया है और ज्ञान योग के एकान्त साधन का भी वर्णन किया गया है इस अध्याय में 22वें श्लोक में भोगों को दुःख का कारण और विनाश शील बतलाया गया है तथा विवेकी व्यक्ति को इससे आसक्त ना होंने की बात कही गयी है। योगी के विषय में कहा गया है जो काम क्रोध के वेग को सहन कर लेता है वही पुरूष योगी और सुखी है इस अध्याय में यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि कर्म, अकर्म, विकर्म सब कुछ छोडकर सन्यासी हो जाओं यथार्थ रूप में यह कहा है कि पूर्णतया कर्म फल का परित्याग करके कर्मयोगी या नित्य सन्यासी होने का ही आदेश दिया है। कर्म त्याग या स्वधर्म त्याग गीता का उपदेश नहीं है अपितु स्वधर्म पालन और कर्म फलत्याग गीता का उपदेश है क्योंकि कर्म त्याग करके संसार में रहना सम्भव नहीं है। केवल वैराग्य सम्पन्न व्यक्ति ही कर्म त्याग करके सन्यासी हो सकते हैं। श्री भगवान ने स्वयं कहा है कि- 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत' इत्यादि अर्थात किसी भी अवस्था में क्षण भर भी ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी कर्म बिना किये रह नहीं सकता है क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुण, राग, द्वेष आदि बाध्य करके कर्म कराते है। इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य यह है कि फलाशक्ति ही बन्धन का कारण है, फल का त्याग ही यथार्थ सन्यास और आसक्ति त्याग ही मोक्ष है। इसी प्रकार सत्य तक का निर्णय किया गया है।

गीता के षष्ठ अध्याय में 46 श्लोक है और इस अध्याय का नाम "ध्यानयोग" है। ध्यानयोग में शरीर,इन्द्रिय, मन और बुध्दि का संयम करना परमावश्यक है तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सबको आत्मा के नाम से कहा जाता है। और इस अध्याय में इन्हीं के विशेष संयम का वर्णन है इसलिये इस अध्याय का नाम "आत्मसंयमयोग" रखा गया है ध्यानयोग बहुत कठिन है। इसलिये इसके लिये विविध प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के माध्यम से ही ध्यानयोग के ब्राह्मी स्थिति की अवस्था प्राप्त होती है। इन योगांगो के माध्यम से तथा अभ्यास और वैराग्य का आलम्बन लेकर चंचल मन और इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है इस अध्याय में भगवान ने एक आशा की वाणी सुनाई है शुभ कर्म करने वालों को कभी दुःख नही होता है

"न हि कल्याणकृतकश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति" और भी "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" अर्थात धर्म कर्म का अति अल्प अनुष्ठित होने पर भी वह अन्त में हमें मृत्यु भय और नरक भय से मुक्त करके ब्रह्मपद की या चरम लक्ष्य की प्राप्ति करा देता है किन्तु वह धर्म कर्म निष्काम भाव से ही करना चाहिये इस अध्याय के 46वें श्लोक में योगी की महिमा बतलाकर अर्जुन को योगी बनने की आज्ञा दी गयी है और 46वें श्लोक में सब योगियों में से अनन्य प्रेम से श्रध्दा पूर्वक भगवान का भजन करने वाले योगी की प्रसंशा करके इस अध्याय का उपसंहार किया गया है निष्कामकर्मी, निष्कामयोगी, निष्कामज्ञानी और निष्कामभक्त सभी श्री भगवान के परमपद को प्राप्त होते हैं ऐसा कहकर भगवान ने ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति का समन्वय स्थापित किया है।

गीता के सप्तम अध्याय का नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' है इस अध्याय में कुल 30 श्लोक वर्णित है। इस अध्याय की संज्ञा से प्रतीत होता है कि जिस विशेष आयोग के आलम्बन से ज्ञान और विज्ञान का विकास होता है उसी का विस्तृत वर्णन किया गया है श्री कृष्ण ने आगे कहा है कि जो मनुष्य केवल इतना जान गया है कि 'ईश्वर है' वह ज्ञानी है और लकडी में आग है, इसको जो जाने वह भी ज्ञानी है किन्तु लकडी जलाकर रसोई पकाना और खाना तथा पूर्ण परितृप्त हो जाना, जिसको इसका ज्ञान होता है उसे विज्ञानी कहते हैं। अर्थात कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म को शब्द और अर्थ से जानने का नाम 'ज्ञान' है और ब्रह्म को विशेष रूप से जानकर उसमें निरन्तर विलास करना, ब्रह्मानन्द में डूबा रहना विज्ञान है उन्होंने विज्ञानी के लक्षण में बताया है कि विज्ञानी के 8पाश (बन्धन)खुल जाते हैं केवल काम क्रोध आदि का आकार मात्र रहता है विज्ञानी सदा ईश्वर का (ब्रह्म)दर्शन करता रहता है ये कभी नित्य आंखे खोलकर या लीलाभाव में भी दर्शन करते रहते हैं

जो योगी निरन्तर ईश्वर चिन्तन करते हुये श्री भगवान वसुदेव को विशेष रूप से जान सके है वही "युक्तम" है स्वरूप तत्व का वर्णन करते हुये भगवान कहते हैं कि मेरी दो प्रकृतियंा हैं अपरा और परा। अपरा प्रकृति आठ भागों में विभक्त है, जैसे बुध्दि, अहंकार, मन, क्षिति, अप, तेज, मरूत, व्योम और परा प्रकृति समस्त प्रपंच जगत को धारण करती है। इन दोनों प्रकृतियों के संयोग से इस संसार की सृष्टि होती है। भगवान ही इस संसार के मूल कारण हैं प्रलयकाल में स्थावर जंगम रूपी समस्त सृष्टि लय को प्राप्त कर भगवान में ही समा जाती है। इसी को छन्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है।

"तत् जलान् इति शान्त उपासीत्"(3/14/1)

गीता का अष्टम अध्याय 28 श्लोकों से सुशोभित है 'अक्षर' और ब्रह्म दोनों शब्द भगवान के सगुण और निर्गुण दोनो ही स्वरूपों के वाचक हैं। तथा भगवान का नाम ओम भी है, इसे भी अक्षर और ब्रह्म कहते हैं इस अध्याय में भगवान के सगुण निर्गुण रूप और ओंकार का वर्णन किया गया है इसलिये इस अध्याय का नाम "अक्षरब्रह्मयोग" रखा गया है इस अध्याय में परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन के प्रसंग में ब्रह्मतत्व, ब्रह्मोपासना और अन्तकाल में ईश्वरचिन्ता की विशेष रूप से आलोचना हुई है। भगवान ने ईश्वर परायण होने का उपदेश दिया है।

श्री भगवान ने समझाते हुये कहा है कि मृत्युकाल में व्यक्ति जिस भाव को स्मरण करके अपनी देह छोडता है उसी भाव को प्राप्त होता है अतः अन्तिम समय में जो मुझे याद करता है वह मुझे ही प्राप्त कर मुक्ति लाभ को प्राप्त कर लेता है अर्जुन के प्रति श्री भगवान का स्पष्ट आदेश है। 'मामनुस्मर युध्य च'- यह भाव केवल भगवान की भक्ति से ही होना संभव है। श्री कृष्ण ने ही कहा है- ''अन्य विषय की चिन्ता छोडकर जो भक्त सदा भगवान का स्मरण करता है उसे अनायास उनका लाभ होता है और उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता।'' उसके अनन्तर श्री भगवान ने कहा है- ''इन्द्रियसंयम के द्वारा प्राण को भ्रू-युगल के बीच में स्थापित करके मन को संयमित रखते हुये और समतत्व की चिन्ता करते हुये देहत्याग करता है तो परमगति प्राप्त होती है। अष्टम अध्याय का अन्तिमश्लोक विशेष भावपूर्ण और गंभीर है- 'वेदेषु यज्ञेषु' योग की महिमा सुनो। उत्तम रूप से वेद का अध्ययन करने से, यज्ञानुष्ठान, दान, तीव्र, तपस्या करने से पुण्य कल का उदय होता है और सुख की प्राप्ति होती है। इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य-सदा ईश्वर चिन्तन करना उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

गीता के नवमोऽध्याय का नाम 'राजीवद्याराज गुह्ययोग' है। इस अध्याय में भगवान ने जो उपदेश दिया है उसको उन्होने समस्त विद्याओं और समस्त गुप्त रखने योग्य भावों का राजा बतलाया है। इस अध्याय में 34 श्लोक है। इस अध्याय में विशेष रूप से 'ईश्वरीय योग- सामर्थ्य, भगवान के भक्त, देवी सम्पदा सम्पन्न और अभक्त आसुरी सम्पदा मुक्त, ईश्वर का विश्वानुगत् भाव, योगक्षेम और भगवदभक्ति के फल का स्वरूप, श्री भगवान भक्ति के लिये इच्छुक, ईश्वर में एकान्त शरणगति ही भक्ति लाभ का श्रेष्ठ उपाय आदि विषयों पर विस्तृत विवेचना हुई है। इस अध्याय में श्रेष्ठ विद्या और उसकी प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन वर्णित है। इस अध्याय के अन्त में भगवान कहते हैं कि मेरी शरणगति से स्त्री, वैश्य-शुद्र और चाण्डाल आदि किसी को भी परमगति की प्राप्ति संभव हो सकती है। 33वें और 34वें में पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तजनों की बड़ाई करके शरीर की अनित्यता स्पष्ट किया गया है।

गीता के 'दशमोऽध्याय' में प्रधान रूप से भगवान की विभूतियां का ही वर्णन है इसलिये इस अध्याय का नाम ''विभूतियोग'' रखा गया है। इस अध्याय में 42 श्लोक है। इस अध्याय में विशेष रूप से 'ईश्वरीय' विभूतियों का वर्णन किया गया है। श्री भगवान की बड़ी विभूति यह है कि वह विश्वानुगत होकर भी विश्वातीत है, निगुर्ण होते हुए भी सगुण की तरह प्रतीत होता है। एक होकर भी अनेक रूपों में प्रतीत होता है। वेदो में- 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता प्श्यत्यचक्षः स श्रुणोत्यकर्णः' कहा गया है। पुरूष सुक्त में 'सहर्षशीर्षा' पुरूष है। इस विभूति अध्याय के प्रारम्भ में ही भगवान ने स्वयं कहा है कि मेरा स्वरूप तत्व देवता भी नहीं जानते क्योंकि मैं उनका भी आदि कारण हूँ, सभी महर्षि, चतुर्दश मनु आदि समस्त भगवान से ही उत्पन्न है। अर्जुन के द्वारा पूछे जाने पर भगवान कहते हैं कि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है। मैं प्राणीवर्ग का आदि, मध्य और अन्त हूँ। आदित्यों में मैं विष्णु, ज्योतिषों में मैं सूर्य, नक्षत्रों में मैं चन्द्र, देवताओं में मैं इन्द्र, रूद्रों में मैं शंकर वायुओं में मैं मरीचि हूँ.....। इस प्रकार भगवान ने कृपा करके अर्जुन को निर्देशित कर जगतवासियों को स्वयं प्राप्ति का सुगममार्ग बता दिया है- जो लोग मुझमें चित्त अर्पण कर भक्ति से मेरी उपासना करते हैं वे मुझे पाने में समर्थ होते है। गीता के चालीसवें श्लोक में अपनी दिव्य विभूतियों के विस्तार को अनन्त बतलाकर इस प्रकरण की समाप्ति की है।

गीता के एकादशोऽध्याय का नाम 'विश्वरूप दर्शन योग' है। 55 श्लोकों में यह अध्याय समाप्त है। इस अध्याय में अर्जुन ने भगवान से कातर भाव प्रार्थना किये है कि हे भगवान आप अपने विश्वरूप का दर्शन मुझको करवा दें। इसलिये इस अध्याय में विश्वरूप का और उसके स्तवन का ही प्रकरण है। इसलिये इस अध्याय का नाम 'विश्वरूप दर्शन योग' रखा गया है। इस अध्याय में पहले से चौथे श्लोक में अर्जुन ने भगवान की और उनके उपदेश की प्रशंसा करके विश्वरूप के दर्शन् कराने के लिये भगवान से अनुनय-विनय की है। इसके बाद प्रसन्न होकर भगवान ने अपना ईश्वरीय रूप दिखलाया है। किन्तु स्थूल नेत्रों से भगवान के चिन्मय स्वरूप का दर्शन् नहीं हो सकता है केवल इससे सांसारिक पदार्थ ही देखे जा सकते है। इस कारण भगवान ने दिव्यचक्षु या भाव नेत्र अर्जुन को प्रदान किये थे। और इन दिव्य चक्षुओं से अर्जुन ने भगवान के विश्वरूप का दर्शन् किया जिसको देखकर लोग परमगति को प्राप्त होते हैं। दसवें से तेरहवें तक अर्जुन को कैसा रूप दिखलायी दिया, इसका वर्णन किया गया है। यह संसार ब्रह्म का विराट शरीर है वेद में **'सहस्रशीर्षा' पुरूषः सहस्राक्षः सहास्रपात्**.....। से वर्णन किया गया है। यह विश्वब्रह्माण्ड उन्हीं का विराट रूप है इसी कारण वह विश्वरूप है। इस प्रकार इस विराट रूपी भगवान का दर्शन् करने से-

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे।।

ऐसी अवस्था प्राप्त होती है। श्री भगवान ने अर्जुन को जिस दिव्य रूप का दर्शन् कराया था वह यथार्थ में ही अद्भुत, अनिर्वचनीय और अदृष्ट पूर्व है। वह विश्व रूप सभी ओर पूर्ण, सर्वव्यापी, आदि-अन्त-मध्य रहित तथा ज्योतिर्मय है फिर विश्व के जन्म-स्थिति लय भी उन्हीं में हो रहें हैं। भगवान के विश्वरूप को देखकर अर्जुन भय से कांपने लगे तब भगवान के शान्त मूर्ति धारण कर अर्जुन को आश्वासन देते हुये कहा- ''जिस विश्वरूप का तुमने दर्शन् किया है वह देवताओं के लिये भी दुर्लभ हैं। केवल एक निष्ठ भक्ति के बिना मेरा यह विश्वरूप कोई देख नहीं सकता है तुम मेरे प्रिय भक्त हो इसलिये मेरे इस विश्वरूप का दर्शन् तुमको प्राप्त हो सका। मैं ही तुम्हारा परमगति हूँ और समस्त कर्मो का कर्ता मैं ही हूँ और सारे कर्म मेरे ही हैं। ऐसा समझकर तुम अनासक्त चित्त से युद्धादि समस्त कर्म करते रहो'' यही श्री भगवान का उपदेश है। कुछ प्राप्त करना अभीष्ट हो तो मांगना अति आवश्यक होता है। जब तक अर्जुन ने पुरूषोत्तम के पास- 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं ऐश्वरम्' ऐसी प्रार्थना नहीं की थी तब तक भगवान ने अपना अव्यय आत्मास्वरूप प्रगट नहीं किया था।

गीता का द्वादश अध्याय 20 श्लोकों में ही समाप्त है। किन्तु यह अध्याय भक्ति साधन के पथ निर्देश के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग के साधनों सहित भगवान की भक्ति का वर्णन एवं भगवद् भक्तों का लक्षण बतलाया गया है। इस अध्याय का उपक्रम और उपसंहार भगवद् भक्ति में ही हुआ है। केवल तीन श्लोकों में ज्ञान के साधन का वर्णन हैं वह भी भगवद्भक्ति और ज्ञानयोग की परस्पर तुलना करने के लिये ही है। अतएव इस अध्याय का नाम ''भक्तियोग'' रखा गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन का प्रश्न है- सगुण-साकार, निर्गुण-निराकार के उपासकों में कौन सहज या श्रेष्ठ है ? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि यद्यपि दोनों ही मार्गों का उद्देश्य एक ही है तो भी सगुण ब्रह्मो पासना या भक्ति का मार्ग श्रेष्ठ है। इस भक्ति मार्ग के भी अनेक उपाय है उनमें भक्तियुक्त निष्काम कर्म ही श्रेष्ठ है। जो मनुष्य भक्ति मार्ग का अवलम्बन लेकर, इन्द्रिय संयम करते हुये तथा सर्वत्र समत्व बुद्धि युक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों में आत्म दर्शन करता है वे भी परमात्मा को प्राप्त करता है। इस अध्याय में विशेष रूप से भक्ति मार्ग का सहारा लेकर ईश्वरोपासना का उपदेश दिया गया हैं। इस कारण इस अध्याय का नाम भक्ति योग रखा गया है। भगवान ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके अनन्य भावों से मेरा ही चिन्तन करों और ऐसा करने पर भक्तों का उद्धार मैं स्वयं करता हूँ।

इस अध्याय के तेरहवें से उन्नीसवें तक भगवान ने अपने प्रिय ज्ञानी महात्मा भक्तों के लक्षण बतलाये है और बीसवें में उन ज्ञानी महात्मा भक्तों के लक्षणों को आदर्श मानकर श्रद्धापूर्वक वैसा ही साधन करने वाले भक्तों को अत्यन्त प्रिय बतलाया है।

गीता का त्रयोदश अध्याय 35 श्लोकों में वर्णित है। इस अध्याय का नाम ''क्षेत्रक्षेत्रज्ञ'' अथवा ''प्रकृतिपुरूष विभाग योग'' है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात शरीर और आत्मा दोनों अत्यन्त विलक्षण हैं। अज्ञान के कारण ही दोनों में एकता दिखाई देती है। क्षेत्र (शरीर) जड़, विकारी, नाशवान और क्षणिक है वहीं क्षेत्रज्ञ इसके विपरीत चेतन, अविकारी, निर्विकार नित्य और अविनाशी है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों के स्वरूप का भेद वर्णन किया गया है। इसलिये इसका नाम ''क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग'' रखा गया है। इस अध्याय के अन्तिम श्लोक के विषय में आचार्य शंकर ने लिखा है कि इस श्लोक से अध्याय का सारमर्म सूचित हुआ है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात्

शरीर और आत्मा के भेद दर्शन् से ही मुक्ति है। देहात्म अभेद ही सारे बन्धनों का कारण है और इसका भेद ही आत्मज्ञान है। ''जब तक देह बुद्धि हैं, तभी तक सुख-दुख जन्म-मृत्यु, रोग-शोक है ये सब देह को ही होता है आत्मा को नहीं। ''आत्मज्ञान'' की प्राप्ति होने के बाद सुख-दुख, जन्म-मृत्यु आदि स्वप्न की तरह मिथ्या प्रतीत होते है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह भेदज्ञान ही 'यथार्थज्ञान' है। वही परमेश्वर का ज्ञान ब्रह्मज्ञान है। योग मार्ग के अवलम्बन से ध्यान, धारणा और समाधि और अनात्मा के विचार द्वारा ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है और इसी से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

गीता का चतुर्दश अध्याय 27 श्लोकों में रचित है। इस अध्याय में प्रकृति के त्रिगुण (सत, रज,तम) के स्वरूप और उनके कार्य, कारण और शक्ति का वर्णन हुआ है। सांख्य में भी **''गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः''** कहा गया हैं। जीवात्मा को बन्धन और अज्ञान से आवृत्त करने का मुख्य कार्य में त्रिगुण ही करते हैं। इन त्रिगुणों से जब मनुष्य छूट जाता है तभी वह परमपद को प्राप्त होता है। सत, रज, तम इन तीन गुण और त्रिगुणों से अतीत त्रिगुणातीत अवस्था ही इस अध्याय में विशेष रूप से आलोचित हुये है। इस लिये इस अध्याय का नाम ''गुणत्रय विभाग योग'' है। तीन गुणों से अतीत होकर परमात्मा को प्राप्त मनुष्य के क्या लक्षण हैं ? इन्हीं त्रिगुण सम्बन्धी बातों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। श्री कृष्ण ने कहा है- ''मेरी एक निष्ठ भाव से भक्ति योग के द्वारा सेवा करने से ही त्रिगुणातीत होकर ब्रह्मभाव प्राप्ति होती है, क्योंकि मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ''। फिर आगे कहते हैं कि पराभक्ति और ब्रह्मभाव एक ही है। क्योंकि दोनों से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

यह सम्पूर्ण दृश्यमान- अदृश्यमान ब्रह्माण्ड प्रकृति का ही परिणाम है। प्रकृति और पुरूष के संयोग से ही सृष्टि का विकास होता है। परमेश्वर को प्राणियों का पिता और प्रकृति को माता कहा जाता है। 11वें से 13वें तक बढ़े हुये सत, रज, तम तीनों गुणों का क्रम से लक्षण बतलाया गया है। जिस मनुष्य में जो गुण ज्यादा मात्रा में होता है उसी के अनुरूप उसका स्वरूप निर्धारित होता है। सत्वगुण श्वेत रंग का होता है। और सुख्या उत्पन्न करता है। रजोगुण ऋणात्मक होता है। इसकी बृद्धि से लोभ, काम प्रवृत्ति, विषय-वासना आदि उत्पन्न होती है। यह लाल रंग का होता है। त्रयोगुण की वृद्धि होने पर विवेक का नाश, उद्यम का अभाव तथा बुद्धि का विपर्यय होता है। जिससे यह गुण ज्यादा होता है। उसे तामसिक प्रवृत्ति का मनुष्य कहते हैं।

सत्तवगुण से ज्ञान का उदय होता है रजोगुण से कर्म में प्रवृत्ति और त्रयोगुण से अज्ञान और बुद्धि-विषय होता है। तीनों गुणों के एकत्र होने पर जो गुण एक दूसरे को दबाकर प्रबल हो जाता है उसी गुण की प्रबलता मानी जाती है। श्री भगवान ने अर्जुन को निस्त्रैगुण्य होने का आदेश देकर नित्यसत्तवस्थ होने के लिये कहते हैं। इसका आशय यह है कि तीनों गुणों का समाहार होने से ही विशुद्ध सत्ता का उदय होता है।

इस अध्याय के अन्त में श्री भगवान ने जो त्रिगुणातीत अवस्था के लक्षण बतायें हैं वह अति दुर्लभ है। त्रिगुणातीत होना या मायातीत होना या ब्रह्मभाव प्राप्ति सब एक ही है इस प्रकार स्थित प्रज्ञ और त्रिगुणतीत एक ही अवस्था है। अनन्तर अन्तिम सत्ताइसवें श्लोक में ब्रह्म, अमृत, अव्यय आदि भगवान के स्वरूप होने से अपने को इन सबकी प्रतिष्ठा बतलाकर अध्याय का उपसंहार करते हैं। मनुष्य का स्वधाम है परमब्रह्म। त्रिगुणातीत न होने से ब्रह्मज्ञान नहीं होता है।

गीता का पंचदश अध्याय 20 श्लोकों में रचित है। इस अध्याय का नाम ''पुरूषोत्तम योग'' है। इस अध्याय में सम्पूर्ण गीता शास्त्र का भाव व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण जगत के

कर्ता-धर्ता-हर्ता, 'सर्वशाक्तिमान' सबके नियन्ता, सर्वव्यापी अर्न्तयामी, परमदयालु शरण लेने योग्य, सगुण परमेश्वर परम पुरूषोंत्तम भगवान के गुण -प्रभाव और स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसी अध्याय में क्षर पुरूष (क्षेत्र) अक्षर पुरूष (क्षेत्रज्ञ) और पुरूषोत्तम तीनों का वर्णन किया गया है। 'क्षर' और 'अक्षर' से भगवान किस प्रकार श्रेष्ठ है और सब में कैसे उत्तम है, क्यों पुरूषोत्तम कहे जाते हैं ? पुरूषोत्तम कहने के पीछे क्या माहात्मय है। इस सबका उत्तर इसी अध्याय में विस्तृत रूप से मिलता है। और इतना ही नहीं समस्त वेदों का अर्थ भी इस अध्याय में संक्षेप में बताया गया है। ''जो उन्हें जानता है, वही वेदज्ञ है'', 'समस्त वेदों का मैं ही प्रतिपाद्य अर्थ हूँ। श्री भगवान ने स्वयं कहा है- ''मैं क्षर से परे और अक्षर (कूटस्थ) से भी उत्तम हूँ। इसी कारण इस लोक तथा वेद में मैं पुरूषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।अस पुरूषोत्तम को जानने से ही मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। उसको यह ज्ञान हो जाता है। कि वह सगुण और निर्गुण भी है। साकार और निराकार भी है और जब भक्तों पर दुःख पड़ता है तब भगवान अतवार रूप में अवतीर्ण होते हैं। इस अध्याय में आगे यह कहा गया है कि यह पुरूषोत्तम तत्व अत्यन्त गोपनीय है और बिना ईश्वर की कृपा के कोई इसे समझ नहीं सकता है।

श्री भगवान कहते हैं कि- जीव मेरा ही सनातन अंश है। वह कर्म फल के अनुसार सत् या असत् योनियों में जन्म ग्रहण करके सुख-दुखादि भोगता है। जो ब्रह्मवित् है वह जानते हैं कि ब्रह्म त्रिगुण से परे है और इन त्रिगुणों से निर्लिप्त है। पुरूषोत्तम को श्रुतियां भी परम ब्रह्म, परम पुरूष और पूर्व भगवान मानती हैं। इनके दर्शन् से ही मनुष्य चिरमुक्त हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिख हैं-

''भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे पराडवरे।।

अर्थात् आत्म स्वरूप भगवान का दर्शन् करते ही आत्मज्ञानी का अहंकार रूप हृदयग्रान्थि छिन्न हो जाती है और समस्त संदेह दूर हो जाते हैं और जन्म-जन्मान्तर के समस्त कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते है। उस पुरूषोत्तम के सम्बन्ध में ऋग्वेद के पुरूषसुक्त का मंत्र है-

''सहस्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सह स्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठ दशांगुलम्।।''

श्रीमदभगवत् में भी इन्हीं पुरूषोत्तम की उपासना की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कहा गया है-

वसुदेव परा वेदा, वसुदेव परा मुखाः।
वसुदेव परा योगा , वसुदेव पर क्रियाः।।
वसुदेव परं ज्ञानं , वासुदेव परं तपः।
वसुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गतिः।।

इस प्रकार वासुदेव ही मनुष्यों की परम गति है। और यही समस्त वेदों का एक मात्र प्रतिपाद्य विषय है। गीता का षोड्श अध्याय 24 श्लोकों में समाप्त है। इस अध्याय में दैव तथा आसुरी सम्पत्तियों का विभाग किया गया है। इस कारण इस अध्याय का नाम ''दैवासुरसम्पद विभाग योग'' है। श्री भगवान ने पहले दैवीय सम्पदा के अन्तर्गत 26 सात्विक गुणों का वर्णन किया है जैसे- चिन्तशुद्धि, आत्मज्ञान में निष्ठा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, जीवों पर दया, लज्जा चंचलता का अभाव, क्षमा, धैर्य, शौच, अहिंसा, अहंकार, शून्यता आदि दैवी सम्पदाएं है। और जो लोग पूर्व जन्म के शुभ कर्मों के फलस्वरूप दैवी सम्पदा के अधिकारी पात्र होकर जन्में है वे ही इन 26 सात्विक गुणों के अधिकारी है। उसी प्रकार दर्प, दम्भ, अभिमान, क्रोध,

निष्ठुरता, अज्ञान आदि आसुरी सम्पदा लेकर जो जन्मे है वे ही दुःख सदैव भोगते रहते है। ये लोग दुर्गुण और दुराचार ज्यादा करते हैं। जो लोग दैवी सम्पदा से युक्त होते हैं वे मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होते रहते है और जो आसुरी सम्पदा से युक्त मनुष्य है उसके लिये संसार ही बन्धन का कारण है। आसुर प्रकृति वाले मनुष्यों को पुण्य-पाप-धर्म-अधर्म है तथा कामोपभोग को ही जीवन का परम पुरूषार्थ समझते है और प्राणियों का अनिष्ट करते हैं। इस प्रकार आसुर स्वभाव वाले लोग अधर्म का आचरण करके भूयशः अधोगति को प्राप्त होते है और उनकी मुक्ति का कोई उपाय नहीं रहता है। इस प्रकार अर्जुन को लक्ष्य करके भगवान मानों सम्पूर्ण सृष्टि को यह बता देना चाह रहें है कि काम, क्रोध, लोभ यह तीनों ही आसुरी स्वभाव का मूल कारण है। तथा सभी अनर्थों का यह मूल द्वार है। इसलिये काम, क्रोध, लोभ इन तीनों का परित्याग कर श्रेय मार्ग को अपनाना चाहिये और शास्त्र विहित कर्तव्य करके अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिये। इस प्रकार भगवान ने षोड्श अध्याय के पहले नवें अध्याय के बारहवें श्लोक में भी ''राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनी श्रिताः'' से आसुरी सम्पदा वालों का और तेरहवें श्लोक में दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः मां भजन्ते'' पदों से दैवी सम्पदा वालों का वर्णन किया है।

गीता का सप्तदश अध्याय मात्र 28 श्लोकों में ही रचित है। अर्जुन के प्रश्न करने पर श्री भगवान ने यहां विविध श्रद्धा का विशेष वर्णन किया है, इस कारण इस अध्याय का नाम ''श्रद्धात्रय विभाग योग' है। त्रिविध श्रद्धा के अतिरिक्त इसमें त्रिविध आहार, त्रिविध यज्ञ, त्रिविध तपस्या, त्रिविध दान आदि के विषय में विशेष रूप से आलोचना हुई है। इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने श्रद्धायुक्त पुरूषों की निष्ठा पूछी है, उसके उत्तर में भगवान ने तीन प्रकार की श्रद्धा बतलाकर श्रद्धा के अनुसार ही निष्ठा पूछी है फिर पूजा, यज्ञ, तप आदि में श्रद्धा का सम्बन्ध बताते हुये इसके अन्तिम श्लोक में श्रद्धारहित पुरूषों के कर्मों को असत् बतलाया गया है। सत्व आदि त्रिगुणों के भेद से मनुष्य की त्रिविध प्रकृति या अन्तःकरण वृत्ति उत्पन्न होती है। इस कारण प्रकृति भेद से उनकी श्रद्धा भी सात्विक, राजासिक और तामसिक होती है। सात्विक श्रद्धा से युक्त साधक देवताओं की पूजा करते हैं। राजसिक प्रकृति वाले मनुष्य कामना युक्त चित्त से यक्ष, राक्षस आदि की पूजा करते हैं। फिर तामसिक मनुष्य रोग मुक्ति आदि की कामना करके भूत, प्रेत आदि की उपासना करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि इस नियम का व्यतिक्रम कभी नहीं होता कि शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ कर्म का अशुभ फल प्राप्त होना अनिवार्य है। कर्म की गति अति दुर्ज्ञेय है। आचार्य शंकर ने अपने विवेक चूडामणि ग्रन्थ में लिखा है -

''नाभुक्तं श्रीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।''

अर्थात् जो शुभाशुभ कर्म किया गया है उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। भोग किये बिना शत् कोटिकल्प में भी कर्म का क्षय नहीं होता। इन कर्मों की त्रिविध स्थितियों का वर्णन शास्त्रों में भी मिलता है-

1-प्रारब्ध जिसका भोग चल रहा है।

2-क्रियमाण-जो भोगकाल में किया जा रहा है।

3- संचित- जो अभी फल देने में प्रवृत्त नहीं हुआ है। प्रत्येक जीव को इन तीनों कर्मों का क्षय भोग करके ही करना पड़ता है। श्रुति कहती है- पुण्या वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन'' (बृहदा 3/2/13)।

अर्थात् पुण्य कर्म से ही पुण्य की उत्पत्ति होती है और पाप कर्म से पाप की उत्पत्ति होती है। कर्म क्षय का एक उपाय भी है- श्री भगवान कहते हैं-

''ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरूते तथा।''

अर्थात् ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि (प्रारब्ध कर्म को छोडकर) समस्त शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर देती है। प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिये जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार भगवान केवल मनुष्य के कर्म फल भोग की व्यवस्था कर देते हैं जिससे वे अपने-अपने कर्मों का फल भोग करके मुक्ति के मार्ग में अग्रसर हो सकें।

गीता का अष्टादश अध्याय 78 श्लोको में रचित है यह गीता का अन्तिम महत्व पूर्ण अध्याय है। समस्त गीता में श्लोक संख्या की दृष्टि से यह अध्याय सबसे बडा है। इस अध्याय के 73 श्लोक तक श्रीमद भगवदगीता या श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद है। बाकी 5 श्लोक संजय के वाक्य है। इस प्रकार आलोचित विषय वस्तु की दृष्टि से भी श्रेष्ठ है। इस अध्याय में समस्त गीता शास्त्र की आलोचना का उपसंहार करके मानव जीवन का चरम आदर्श और मोक्ष लाभ कैसे हो सकता है इसका वर्णन किया गया है। इस कारण इस अध्याय का नाम ''मोक्षयोग'' है। अर्जुन सन्यास और त्याग के तत्व को पृथक-पृथक जानना चाह रहे है। इसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि काम्य कर्म का त्याग ही सन्यास है और सारे कर्मों के फल मात्र का त्याग ही यथार्थ सन्यासी है। कर्म फल त्याग करके स्वधर्म का अनुष्ठान ही मुख्य विषय है। श्री भगवान अपना अन्तिम उपदेश देते हुये कहते हैं

कि ''मन से समस्त धर्म-कर्म मुझमें सौंप कर सर्वदा मुझमें मन रखों और अपने अधिकार के अनुसार स्वधर्म का पालन करो, उसी से मेरी प्रसन्नता पाकर मुक्त हो सकोगे। क्योंकि बिना ईश्वर की कृपा के मनुष्य माया मुक्त हो ही नही सकता है। भक्त अर्जुन को श्री भगवान गीता का गुह्यतम् उपदेश देकर कहते हैं- ''तुम एक मात्र मेरी ही चिन्ता करो मेरी ही भक्ति करो, पूजा करो, मुझे ही नमस्कार करों। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम मुझे ही पाओगे। सब धर्मों का परित्याग कर तुम मेरी ही शरण लो, मैं माया-बन्धन से तुम्हें चिरकाल के लिये मुक्त करूंगा।'' श्री भगवान ने एक छोटी बात से सारे उपदेशों का उपसंहार कर दिया- अहं त्वाम्सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। यही शरणागति योग है। ''तुम केवल मेरी शरण लो, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूंगा।'' इस प्रकार श्री कृष्ण की करूणामय मूर्ति को देखकर अर्जुन का संदेह दूर हो गया है और उन्होने विनम्रता एवं कृतज्ञता के साथ कहा है- हे भगवान- '' मेरे अन्तर के सारे संदेह दूर हो गये हैं, मैं तुम्हारे आदेश का पालन करूंगा, तुम्हारी कृपा से मैं धन्य हो गया हूँ''। ब्रह्मज्ञान के बाद जो अवस्था प्राप्त होती है अर्जुन को सहज

ही प्राप्त हो गयी हैं।

अभ्यास प्रश्न ।

बहुविकल्पीय प्रश्न

सही विकल्प पर निशान लगायें-

प्रश्न 1- 'भवरोग वैद्य' किसको कहा गया है-

(अ) अर्जुन (ब) श्री कृष्ण

(स) आत्मा (द) मन

प्रश्न 2- गीता में कितने अध्याय है-

(अ) तीन (ब) पांच

(स) 24 (द) अष्टादश

प्रश्न 3- गीता पर सर्वाधिक प्राचीन टीका एवं भाग्य किसका है-

(अ) शंकराचार्य (ब) मध्वाचार्य

(स) निम्बार्क (द) श्री राधाकृष्णन

प्रश्न 4- गीता के प्रथम अध्याय का नाम क्या है-

(अ) सांख्य योग (ब) कर्मयोग

(स) अर्जुनविषादयोग (द) सन्यासयोग

प्रश्न 5- ''गीतार्थ संग्रह'' किसका ग्रन्थ है-

(अ) रामानुज (ब) शंकराचार्य

(स) यामुनाचार्य (द) आनन्दगिरि

प्रश्न 6- गीता को श्लोक संख्या वर्तमान में कितनी मानी गयी है-

(अ) 700 (ब) 645

(स) 250 (द) 620

प्रश्न 7- 'निष्काम कर्मयोग' का प्रतिपादन गीता के किस अध्याय में किया गया है-

(अ) द्वितीय (ब) तृतीय

(स) चतुर्थ (द) पंचम

प्रश्न 8- आत्मा और शरीर में 'नित्य' कौन है-

(अ) आत्मा (ब) शरीर

प्रश्न 9- ''ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन'' किस अध्याय में वर्णित है-

(अ) 15 (ब) 13

(स) 11 (द) 16

प्रश्न 10- गीता के त्रिविध मार्ग के अन्तर्गत कौन नहीं आता है-

(अ) ज्ञानमार्ग (ब) कर्म मार्ग

(स) भक्ति मार्ग (द) मोक्षमार्ग

प्रश्न 11- आचार्य शंकर किस मार्ग के पक्षपाती थे-

(अ) ज्ञानमार्ग (ब) कर्म मार्ग

(स) भक्ति मार्ग (द) योग मार्ग

प्रश्न 12- गीता के चतुदर्श अध्याय में श्लोकों की संख्या कितनी है ?

(अ) 35 (ब) 78

(स) 27 (द) 25

प्रश्न 13- गीता का 20 श्लोकों वाला सर्वाधिक छोटा अध्याय कौन सा है ?

(अ) पञ्चदश (ब) अष्टादश

(स) द्वादश (द) द्वितीय

प्रश्न 14- गीता के अन्तिम अध्याय का नाम क्या है ?

(अ) पुरूषोत्तम योग (ब) मोक्षयोग

(स) कर्मयोग (द) सन्यासयोग

प्रश्न 15- श्लोकों की दृष्टि से सबसे बड़ा अध्याय कौन सा है ?

(अ) द्वितीय (ब) अष्टादश

(स) षोडश् (द) प्रथम

प्रश्न 16- कर्म कितने प्रकार के होते है-

(अ) 2 (ब) 3

(स) 4 (द) 5

प्रश्न 17- अर्जुन युद्ध क्यों नहीं करना चाह रहे है-

(अ) पाप एवं अपयश के भय से (ब) कायरता से

(स) अहिंसा (द) पुण्य

प्रश्न 18- कर्मण्येवाधिकारस्ते या ---- यह उक्ति किसकी है-

(अ) अर्जुन (ब) श्री कृष्ण

(स) धृतराष्ट्र (द) संजय

प्रश्न 19- ''योगस्थः कुरू कर्माणि'' किस अध्याय में आया है-

(अ) द्वितीय (ब) तृतीय

(स) चतुर्थ (द) प्रथम

प्रश्न 20- हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग- किसके द्वारा कहा गया है-

(अ) अर्जुन (ब) श्री कृष्ण

(स) वेदव्यास (द) संजय

प्रश्न 21- ''योगः कर्मसु कौशलम्'' किस अध्याय में वर्णित है-

(अ) 2 (ब) 3

(स) 1 (द) 5

प्रश्न 22- ''योगक्षे वहाम्यहम'' यह किसकी उक्ति है-

(अ) अर्जुन (ब) श्री कृष्ण

(स) दुर्योधन (द) संजय

1.4 गीता का महत्व

गीता तात्पर्य -श्रीमदभगवदगीता विश्व के सबसे बडे महाकाव्य महाभारत के "भीष्मपर्व" का एक अंश है। भगवदगीता भगवान कृष्ण द्वारा कुरूक्षेत्र युध्द में दिया गया दिव्य उपदेश है जब अर्जुन मोहग्रस्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ कि स्थिति में पहुच चुके थे। इस प्रकार अर्जुन को केन्द्र में रखकर दिया गया यह भगवान का गीता अमृत रूपी वाणी से समन्वित उपदेश है। इस प्रकार श्रीमदभगवदगीता भगवान की साक्षात दिव्य वाणी होने से इसके श्लोकों को मंत्र का दर्जा प्राप्त है।-

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थोवत्सः सुधीभोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत"।।

अर्थात् यह गोपालनन्दन श्री कृष्ण के द्वारा अर्जुन को बछड़ा बनाकर उपनिषद रूपी गायों से दुहा गया अमृतमय दूध है जिसे सुधीजन पीते हैं। श्रीमदभगवदगीता संसार के अति महत्वपूर्ण ग्रन्थों में अपना विशेष स्थ्ज्ञान रखती है। श्रीकृष्ण भगवान स्वयं इसके वक्ता हैं और उनका कहना है 'गीता मे हृदयं पार्थ' अर्थात हे अर्जुन गीता मेरा हृदय है इस प्रकार गीता को 'सर्वशास्त्रमयी' कहा गया है क्योंकि सभी शास्त्रों में मंथन करके अमृतमयी गीता काउदय या प्रकटीकरण हुआ है। इसका दिव्य संदेश किसी जाति - विशेष सम्प्रदाय के लिये नही है बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के लिये

है जो सर्वभौम है। विभिन्न मत मतान्तरों को यदि ध्यान न दिया जाय तो अधिकांश विद्वान इस मत पर सहमत हैं कि गीता में 18अध्याय है और 700 श्लोक है इसके संकलनकर्ता स्वयं वेदव्यास जी हैं वेद भगवान के निःश्वास हैं किन्तु गीता भगवान की वाणी है निःश्वास तो स्ववभाविक होते हैं, इसमें कोई अतिरिक्त श्रम नहीं करना पड़ता है। किन्तु गीता को भगवान ने योग में स्थित होकर अपने श्री मुख से कही है अतेव गीता को वेदों की अपेक्षा भी श्रोष्ठ कहा गया है। प्रसथानत्रयी के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद आते हैं । इसमें गीता का महत्व और अधिक बढ़ जाता है कि गीता में ब्रह्मसूत्र और उपनिषद दोनों का ही तात्पर्य आ जाता है गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है इसमें सम्पूर्ण वेदों का सारसंग्रह किया गया है। स्वयं भगवान वेदव्यास ने कहा है कि -

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैःशास्त्रसंग्रहैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपदमाद्विनिःसृता।।(महा0 भीष्म0 43/1)

अर्थात् गीता का ही भली प्रकार से श्रवण मनन, किर्तन, पठन- पाठन, और धारण करना चाहिये, अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान के साक्षात् मुख-कमल से निकली हुई है। भगवान ने स्वयं गीता के विषय में कही है कि -मैं गीता के आश्रम में रहता हूँ, गीता मेरा श्रेष्ठ घर है। गीता के ज्ञान का सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ।

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम।

गीताज्ञानमुपश्रित्य त्रील्लोकान्पालयाम्यहम।।(वराहपुराण)

गीता की महिमा बतलाते हुये भगवान कहते हैं कि गीता गंगा से भी बढ़कर है शास्त्रों में गंगा स्नान का फल मुक्ति बताया गया है परन्तु गंगा में स्नान करने वाला स्वयं मुक्त तो हो सकता है किन्तु दूसरे को तारने की सामर्थ्य नही रखता है किन्तु गीता रूपी गंगा में गोता लगाने वाला स्वयं मुक्त तो होता ही है और दूसरे को तारने में भी सामर्थ्यवान होता है एक तरफ से उद्गम देखा जाय तो गंगा भगवान के श्री चरणों से निकली हुई है गंगा में जाकर जो स्नान करेगा गंगा उसी को मुक्त करती है किन्तु गीता धर धर में जाकर उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखलाती है इन्ही सब कररणों से गीता को गंगा से भी बढ़कर भगवान बतलाते हैं-

गंगा गीता च सावित्री सीता सत्या पतिव्रता।

ब्रह्मावलिर्ब्रह्मविद्या त्रिसंध्यया मुक्तिगोहिनी।।

गीता का महत्व बतलाते हुये कहा गया है कि गीता अर्धमात्रा, पिदानन्दस्वरूपिणी, भवरोगनाशिनी, भ्रान्ति का नाश करने वाली त्रिवेदमयी, परमानन्दस्वरूपिणी तत्वार्थ ज्ञान देने वाली है जो मनुष्य प्रतिदिन स्थिर चित्त से इन नामों का जप करता है , उसे इस लोक में नित्य ज्ञान की सिध्दि तथा जीवन का अन्त होने पर परमपद की प्राप्ति होती है सम्पूर्ण गीता का पाठ करनें में असमर्थ होने पर अर्ध्दांश का पाठ करना चाहिये

उसे गोदान का पुन्य फल मिलता है इसमें सन्देह नही है तृतीयांश का पाठ करने से गंगा स्नान का फल मिलता है जो व्यक्ति गीता के दो अध्यायों का पाठ करता है वह इन्द्रलोक जाता है और वहाँ एक ब्रह्म के कल्प तक निवास करता है अन्तिम में गीतार्थ का पाठ या श्रवण करने से महापापी भी मुक्तिभागी हो जाता है। आगे गीता की महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि-

गीता पुस्तक संयुक्तः प्राणास्त्याक्त्वा प्रयाति यः ।

बैकुण्ठ सम्वाप्नोति विष्णुना सह मोदते ।।

अर्थात जो व्यक्ति गीता की पुस्तक लिए हुए, प्राणत्याग कर देता है वह बैकुण्ठ धाम जाकर विष्णु के साथ आनन्द भोग करता है। इस प्रकार गीतासार ईश्वर साक्षात्कार का दर्शन् है। जिसे भी ईश्वर दर्शन् की इच्छा होगी, उसे गीता से बढ़कर कोई ग्रन्थ नहीं मिलेगा-

''गीताभाष्यं पुनः कृत्वा लभते मुक्ति मुत्तमाम'' ।।(वाराहपुराण)

गीताशास्त्र की एक अप्रतिम विशेषता है कि यह किसी वाद को लेकर नहीं चली है अर्थात् द्वैत, अद्वैत, विशिष्टताद्वैत, विशुद्धाद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि किसी भी वाद को या किसी के सिद्धान्त को लेकर नहीं चली है। गीता का मुख्य उद्धेश्य है कि व्यक्ति किसी भी वाद मत सिद्धान्त को मानने वाला क्यों न हो उसका प्रत्येक परिस्थिति में कल्याण हो जाय। वह किसी भी परिस्थिति परमात्म प्राप्ति से वंचित न रह जाय। क्योंकि मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जिसमें जन्म केवल अपने कल्याण के लिए ही हुआ है। गीता की अद्वैतवादी टीकाओं भगवदगीता को वस्तुतः गीतोपनिषद के रूप में ही स्वीकार किया है और श्रुति प्रस्थान का स्थान दे दिया गया है। अधिकांश आचार्य मानते है कि गीता में जहां-जहां श्रीभगवानुवाच् है वह श्रुति है, स्मृति प्रस्थान तो वह है ही। पुनः इन दोनों प्रस्थानों से बढ़कर उसी ब्रह्मसूत्र का भी प्रकार्य कर दिया है। अधिकांश अद्वैतवादी सन्यासी का गीता का ही अध्ययन करते है, जो गृहस्थ अद्वैतवेदान्ती है, वे भी भागवत्पुराण, रामायण, राम चरित मानस, दुर्गासप्तशती आदि ग्रन्थों की अपेक्षा गीता का ही स्वाध्याय करते है। इसलिए कहा जाता है कि गीता ने अद्वैतवेदान्त के प्रचार-प्रसार में जितना योगदान दिया है उतना किसी अन्य ग्रन्थ ने नहीं दिया है। इस प्रकार गीता का माहात्म्य प्रतिपादित करते है। स्वयं भगवान कृष्ण ने कहा है-

''जो कोई मेरे इस गीता रूप आज्ञा का पालन करेगा वह निःसंदेह मुक्त हो जायेगा।'' (गीता 3/31)

यही नहीं भगवान यह भी कहते है कि जो इसका अध्ययन भी करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊँगा। (गीता 18/70)

जब गीता का अध्ययन मात्र का माहात्म्य है तब जो मनुष्य इसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है और इसके आदर्श को जीवन में उतार कर चलता है, तब उसकी बात ही क्या? ऐसे भक्तों के लिए भगवान कहते है वह मुझे सबसे प्रिय होते है और ऐसे भक्तों के अधीन मैं स्वयं हो जाता हूँ।

इस प्रकार गीता भगवान का प्रधान रहस्यमय आदेश है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के उपदेश का कितना ही अंश श्लोकों में, पद्यों में कहा था और कुछ गद्यों में, पद्यों का अंश ज्यों का त्यों वेद व्यास जी ने रख दिया किन्तु गद्यात्मक भाग को स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया और इस सात सौ श्लोक और अठ्ठारह अध्याय वाली ग्रन्थ गीता को महाभारत के अन्दर मिला लिया, जो आज हमें इस अपने विशद् और मनोरम् कलेवर में प्राप्त होती है। इस प्रकार गीता शास्त्र ब्रह्म विद्या है। उसमें ब्रह्म विद्या के साध्य और साधन दोनों का वर्णन प्राप्त होता है जबकि और अन्य ग्रन्थों में या तो साध्य का या साधन का वर्णन होता है। इस दृष्टि से गीता सर्वशास्त्रमयी, सर्वधर्ममयी है। विश्व में गीता जैसा कोई ग्रन्थ नहीं है जिसमें सर्वधर्म का सार संग्रह हो, जिसमें ईश्वर और ईश्वर प्राप्ति दोनों के विधान किये गये है। इस दृष्टि से गीता के व्यवहारिक दर्शन् को भली भांति रेखांकित किया जा सकता है। इसमें कर्तव्य पालन पर बल दिया गया है, वर्णाश्रम व्यवस्था को ईश्वर प्राप्ति का केन्द्र बिन्दु माना गया है, जिससे परार्थवाद या परोपकार की प्रासंगिकता सिद्ध होती है। इस प्रकार गीतासार ईश्वर साक्षात्कार का दर्शन् है।

1.4.1 गीता का दार्शनिक तत्वविवेचन की दृष्टि से महत्व

गीता की ज्ञान मीमांसा में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीनों विषय महत्वपूर्ण है क्योंकि यही तीनों कर्म प्रवृत्ति हेतु है और इन तीनों के अभाव में कर्म सम्पन्न नहीं हो सकता है। जब मनुष्य को जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्ति होती है, तब यह त्रिपुटी एक हो जाती है तब मनुष्य में कर्म प्रवृत्ति का उदय नहीं होता है। इस प्रकार गीता का महत्व तत्व मीमांसीय दृष्टि से हो या ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से या आचार मीमांसा की दृष्टि से देखा जाय तो तीनों ही दृष्टि से गीता का वर्णय विषय महत्वपूर्ण हो जाता है। गीता के महत्व के अन्तर्गत निम्नलिखित दार्शनिक तत्व सिद्धान्त मुख्य है उन मुख्य बिन्दुओं पर हम प्रकाश डालेगें- जो इस ईकाई की विषयवस्तु होगी।

1- त्रिविधयोग- एवं 2 निष्कामकर्मयोग। 3- स्थितप्रज्ञ 4-आत्मा 5-ब्रह्म या परमेश्वर 6-जीव 7- वर्ण, धर्म या स्वधर्म 8- दैवासुर-सम्पद 9- मोक्ष

1.4.2 त्रिविधयोग

वास्तविक अर्थ में श्रीमद्भगवदगीता को 'योगशास्त्र' की संज्ञा दी गई है इसके प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में ''ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे'' ऐसा कहा गया है। अतः गीता का 'योग' सम्बन्धी विचार बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'योग' शब्द वस्तुतः सम्बन्धवाचक है अर्थात आत्मा का परमात्मा के साथ समन्वित सम्बन्ध को जो द्योतित करता है वह 'योग' है। 'योग' शब्द के अर्थ को तीन रूपों में देख सकते है-

1.**'युजिर् योगे' धातु से बना 'योग' शब्द जिसका अर्थ है समरूप परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध जैसे-'समत्वंयोगउच्यते' (2/48) आदि। यही अर्थ गीता में मुख्यतः से आया है।**

2.''युज् समाधौ'' धातु से योग शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ है- समाधि में स्थित चित्त की स्थिरिता।

3.'युज् संयमने'- धातु से बना 'योग' शब्द जिसका अर्थ है संयमन, सामर्थ्य और प्रभाव जैसे-'पश्य मे योगमैश्वरम् (9/5) आदि।

गीता में जहां भी योग शब्द आया है उसमें तीनों अर्थों में से एक अर्थ की मुख्यता और शेष दो अर्थों की गौणता है। जैसे 'युजिरयोगे' वाले 'योगशब्द' में समता (सम्बन्ध) की मुख्यता है परमात्मा आने पर स्थिरता और सामर्थ्य भी स्वतः आ जाती है।

पातंजल्ययोग दर्शन् में चित्त वृत्तियों के निरोध को 'योग' नाम से कहा गया है- ''योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'' (1/12) और उस योग का परिणाम बताया है- 'द्रष्टा की स्वरूप में स्थित हो जाना- 'तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (1/3) इस प्रकार पातंजल्ययोग दर्शन में जो 'योग' का परिणाम बतलाया गया है उसी को गीता में 'योग' के नाम से अभिहित किया गया है।

''योगशब्दस्य गीतायामर्थस्तु त्रिविधो मतः।
सामर्थ्ये चैव सम्बन्धे समाधौ हरिणा स्वयम्।।''

आत्मा का परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये तीन योग मार्ग बतलाये गये है- जिन्हें 1- कर्मयोग, 2- ज्ञान योग और 3- भक्तियोग से जाना जाता है। इन्हीं तीन योगों की त्रिपुटी गीता है। यद्यपि 'योग' की प्राप्ति के लिये भगवान ने मुख्य रूप दो निष्ठाएं बतायी गयी हैं- कर्मयोग और सांख्य योग। जैसा कि गीता में वर्णित है-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। (3/3)

अर्थात असत् से सम्बन्ध विच्छेद करना ही कर्मयोग है और सत् के साथ योग होना सांख्य योग है परन्तु ये दोनों निष्ठाएं साधकों की अपनी है- भक्तियोग साधक की अपनी निष्ठा नहीं है अपितु यह भगवद् निष्ठा है। जो भक्त भगवान के लिए स्वयं को समर्पित कर दे उसे 'भक्ति योग' कहते है। इन तीनों योगों को सिद्ध करने के लिये या मनुष्य को अपना उद्धार करने के लिए ईश्वर से तीन शक्तियों प्राप्त है-

1- कर्म करने की शक्ति (कर्म),2- जानने की शक्ति (ज्ञान),3- मानने की शक्ति (विश्वास)

करने की शक्ति निःस्वार्थ भाव से संसार की सेवा करने के लिए है जो 'कर्म योग' है। जानने की शक्ति से तात्पर्य है अपने स्वरूप को वास्तविक रूप में जानना और मानने की शक्ति से तात्पर्य है अपने को भगवान के लिए समर्पित कर देना भक्ति योग है। ये तीनों ही मार्ग परमात्मा प्राप्ति के स्वतंत्र साधन है और अन्य साधन इन तीनों के ही अन्तर्गत आ जाते है। इन तीनों का पृथक-पृथक वर्णन तो अन्य शास्त्रों में भी प्राप्त होता है किन्तु तीनों के समन्वय का गौरव गीता को ही प्राप्त है। इन तीनों योगों से कर्मों (पापों) का नाश सम्भव है-

कर्मज्ञान भक्तियोगाः सर्वेऽपि कर्मनाशकाः ।

तस्मात् केनापि युक्तः स्यान्निष्कर्मा मनुजो भवेत्।।

1 कर्मयोगः

'कर्मयोग' वह योग है जिसमें कर्म की ही प्रधानता होती है। इसको मुख्य रूप से मानने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी भी जो अपने ग्रन्थ 'गीता रहस्य' में गीता का मुख्य विषय कर्मयोग मानते है। ज्ञातव्य है कि सकाम और निष्काम के भेद से कर्म दो प्रकार के होते है। इनमें सकाम कर्म ही बंधन का कारण है जबकि निष्काम कर्म मोक्ष का कारण है। जो साधक केवल कर्तव्य कर्म यज्ञ की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए, लोक संग्रह के लिए सृष्टि चक्र की परम्परा चलाने के लिए ही कर्तव्य कर्म का पालन करता है, अर्थात कर्मों के लिए केवल दूसरों के लिए ही करता है अपने लिए नहीं वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है-

''यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्तेसर्वकिल्विषैः।'' (3/13)

2- ज्ञान योगः

'ज्ञान योग' को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानने वाले सर्वप्रमुख विद्वान आचार्य शंकर है। इनके अनुसार संसार को असार मानना तथा आत्मा को परमात्मा के रूप में समझना ही 'ज्ञानयोग' है। ज्ञानी के लिए जो कुछ भी दृश्य पदार्थ है वह मृग तृष्णा या रज्जू में सर्प की प्रतीति की भांति मिथ्या है। क्योंकि आचार्य शंकर का प्रमुख सिद्वान्त है-

''ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नाऽपरः'।

अर्थात ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या है। जीव तथा ब्रह्म एक ही है। सबकुछ ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म एक, अद्वैत तथा शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। ब्रह्म ही आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है। यही एकत्व की प्रतीति ही ''ज्ञानयोग'' है। गीता में कहा गया है कि-

''सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगमुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः'' ।। (गीता 6/29)

अर्थात समाधि योग में अवस्थित पुरूष सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन कर अविद्या से उत्पन्न शरीरादि की सीमा रहित आत्मा को सब प्राणियों में अवस्थित और सब प्राणियों को अभिन्न रूप में आत्मा में कल्पित देखते है। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुये आगे कहा गया है कि-

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति''।। (गीता 6/30)

अर्थात जो पुरूष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्म रूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक रूप से देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता है। गीता में ज्ञानयोगी को समदर्शी बताया गया है। ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। वैसी स्थिति ज्ञानयोगी की होती है। ज्ञानयोगी समस्त प्राणियों को समान भाव से देखता है-

''विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'' ।। (गीता 5/18)

अर्थात ज्ञानी लोग विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी और कुत्ते तथा चाण्डाल में भी समदर्शी ही होते है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान योगी का विषयभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि में एक मात्र सच्चिदानन्द परमात्मा की सत्ता है। अतः उसकी दृष्टि सर्वत्र समभाव वाली हो जाती है तथा परमात्मा में ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार जब देखता है तभी उसी क्षण वह सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है-

'यदा भूत पृथग्भावमेक्स्थमनुपश्यति।
तत् एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा''।। (गीता 13/30)

क्योंकि जैसे प्रज्वल्लित अग्नि ईधनों को जलाकर भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों का भस्म कर देती है-

'' यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरूतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकमाणि भस्मसात्कुरुते तथा'' ।। (गीता 4/37)

इसीलिए गीता में जोर देकर ज्ञान की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है और कहा गया है कि इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है- ''नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'' । इसी बात को उपनिषदों में भी कहा गया है कि ''ज्ञानात् ऋते न मुक्तिः'' अर्थात बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव नहीं है। गीता के 10/10 में कहा गया है कि जो भक्त सदा मेरी चिन्ता करते हुए श्रद्धा से मेरी अराधना करते है उन्हें मैं अपने सम्बन्ध का सम्यक ज्ञान प्रदान करता हू जिससे वो मुझकों प्राप्त कर सके- **''ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते''**। आगे 4/33) जो पुरुष जितेन्द्रिय, साधन परायण और श्रद्धावान होते है वह ज्ञान को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते है तथा ज्ञान प्राप्ति के बाद भगवत् प्राप्ति रूप परम आनन्द को प्राप्त हो जाता है- **''श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परा शांतिमचिरेणधि गच्छति''।।** (5/39) भक्तों में ज्ञानी भक्त को भगवान से श्रेष्ठ कहा है। (7/17) गीता के ज्ञानयोगी को 'स्थितप्रज्ञ' भी कहा गया है। क्योंकि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति केवल एक मात्र परमात्मा को ही सत्य मानता है और जागतिक पदार्थों को जो ब्रह्म से अतिरिक्त है, को मिथ्या मानता है। गीता की ज्ञानयोग की सबसे बड़ी विशेषताः यह है कि संसार का त्याग न करके संसार के प्रति आसक्ति कर त्याग करने की बात कहते है।

3- भक्ति योगः- भक्ति शब्द 'भज्' धातु से निष्पन्न है जो सेवा करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है अपने उपस्य देव की श्रध्दापूर्वक सेवा करना ही 'भक्ति' है।

जो संसार से विमुख होकर केवल भगवान की शरण में शरणागत हो जाता है , उसे भगवान सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर देते हैं। क्योंकि भगवान अर्जुन से कहते हैं कि तूँ सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर एक मेरी शरण हो जा ,मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूगाँ। तू चिन्ता मत कर -

सर्व धर्मान् परित्यज मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (गीता 18/66)

भक्तियोग को सर्वश्रेष्ठ साधन मानने श्री रामानुजाचार्य ने गीता में भक्तियोग का प्रतिपादन किया है भक्ति का तात्पर्य ध्यान, भजन, कीर्तन, मनन, उपासना आदि से है। परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का भाव मन में न लाना ही अनन्य भाव कहा जाता है। यही अनन्यभाव ही भक्ति योग है -

अनन्याश्चिन्तयतो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।(गीता 9/22)

अनन्य भक्ति को ही गीता में 'अनन्यचित्त' भी कहा गया है। इस अनन्यचित्त वाले व्यक्ति को ईश्वर की प्राप्ति दुर्लभ नही होती। जैसा की भगवान श्री कृष्ण कहते हैं -

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्यां सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (गीता 8/14)

अर्थात् जो व्यक्ति मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरूषोत्तम को स्मरण करता है। उस योगी के लिए मैं सर्वथा सुलभ हूँ अर्थात् उसे मैं सहजता से प्राप्त हो जाता हूँ आगे 18/65 में भगवान कहते हैं कि-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि में।। (गीता 18/65)

अर्थात्-तुम मुझमें हृदय अर्पण करो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो, मै सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, इससे मेरे प्रसाद लब्ध ज्ञान के द्वारा तुम मुझे ही पाओगे, क्योंकि तुम मेरे अति प्रिय हो इस प्रकार भक्ति द्वारा ही भक्त सभी सांसारिक अज्ञान जनित बन्धनों को तोडकर भगवान को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ईश्वर का सर्व श्रेष्ठ साधन भक्ति है ईश्वर के प्रति निष्काम भाव से अनन्य अनुराग को भक्ति कहा गया है। गीता मैं भगवान ने बारम्बार इस प्रकार आश्वासन दिये है- मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता है-

''न मैं भक्तः प्रणश्यति'' (गीता 9/31)

ज्ञान कर्म तथा भक्तियोग का समन्वय-

समस्त शास्त्रों के मन्थन से अमृत मयी गीता का आविर्भाव हुआ है। इस लिये गीता को 'सर्व शास्त्रमयी' कहा गया है। इसमें सभी मतों, दृष्टियों, सिद्धान्तों और विचारों का जो युक्ति युक्त समन्वय देखने को मिलता है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीनों मोक्ष के ही साधन बताये गये हैं। इनमें से किसी एक का आश्रय लेकर साधक आसानी से अपने साध्यों (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। जैसे वामदेव, शुकदेव, आदि ज्ञानियों ने ज्ञान रूपी साधन से ईश्वर रूपी साध्य को प्राप्त किया जनक आदि महा पुरूषों ने अपने निष्काम कर्म के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया तथा भक्त प्रह्लाद ने आदि ने भक्ति के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया अतः तीनों मार्ग समयक और उचित है। तीनों में से कोई किसी मार्ग को अपना सकता है। मार्ग भले ही अलग-अलग हैं

लेकिन तीनों का मन्तव्य एक ही है- ईश्वर प्राप्ति। किसी भी मार्ग का किसी के साथ कोई विरोध नहीं है। इन तीनों का समन्वय गीता के 9/34 में करते हुये भगवान कहतें है-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।

मामेवैष्यसि युक्त्वै वमात्मानं मत्पराणय।। (गीता 9/34)

अर्थात् मुझमें मन लगाने वाला होओ, मेरा भक्त बनो- (भक्तियोग), मेरा पूजन कर, तथा मुझे प्रणाम कर (कर्मयोग) इस प्रकार आत्मा को मुझमें निश्चय करके (ज्ञानयोग) मेरे परायण होकर तुम मुझको ही प्राप्त होगा। अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि भगवान के नामरूप, गुण आदि का श्रवण कीर्तन आदि भक्ति है, निष्काम भाव से यज्ञ आदि का अनुष्ठान करना निष्काम कर्म है और ईश्वर के विषय में यह जान लेना कि ईश्वर ही कर्ता, धर्ता विधाता है और एक मात्र यही सत्य है, सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, परम पुरूष पुरूषोत्तम है, यही ज्ञान है, इस प्रकार गीता में तीनों मार्गों का समन्वित प्रतिपादन देखने को मिलता है।

1.4.3 निष्काम कर्म योग

कर्म योग वह है जिसमें कर्म की प्रधानता होती है। सकाम और निष्काम के भेद से कर्म दो प्रकार के होते है- सकाम कर्म बन्धन के हेतु होते है तो निष्काम कर्म मोक्ष के हेतु होते है। गीता को मुख्य प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म है। यह वह कर्म है जिसमें कामनाओं का सर्वथा अभाव रहता है क्योंकि इसका उपदेश कर्म से पलायित अर्जुन को कर्मरत् करने के लिए उस समय दिया गया है। जब कुरूक्षेत्र में सगे सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन मोह ग्रस्त हो जाते हैं और किं कर्तव्य विमूढ़ की अवस्था को प्राप्त हो जाते है। इस प्रकार अर्जुन युद्ध नहीं करने का निश्चय करते है। ऐसे समय में गीता का उपदेश श्री कृष्ण के द्वारा दिया गया है। कर्मयोगी कर्म फल के प्रति अनासक्त होता है क्योंकि आसक्त कर्म जीव को बन्धन में डालतें है जिससे मनुष्य विभिन्न योनियों में भटकता हुआ अधोगति को प्राप्त होता है निष्काम कर्म योगी अनासक्त भाव के कारण सुख, दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय सबमें समभाव रहता है यथा-

सुख-दुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापं वाप्स्यसि।। (गीता 2/38)

अर्थात् अर्जुन को जय-पराजय, लाभ-हानि आदि से ऊपर उठकर क्षत्रिय धर्म रूपी स्वकर्तव्य पालन का उपदेश देते है। आसक्ति के कारण ही अर्जुन के मन भया रूढ़ वैराग्य उत्पन्न हुआ। ऐसा वैराग्य स्वभाविक न होकर बन्धन का हेतु बन रहें थ। इसी लिये श्री कृष्ण ने निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। क्योंकि इस प्रकार के कर्मों का कोई शुभा-शुभ फल नहीं होता है। अतः व्यक्ति ऐसे कर्मों की माध्यम से जन्म और मृत्यु के चक्र को तोडकर सदा के लिये अपने को परमेश्वर में विलीन कर लेता है यही निष्काम कर्म ही 'कर्मयोग' है।

गीता के द्वितीय अध्याय के 47 श्लोक में निष्काम कर्म की व्याख्या करते हुये भगवान श्री कृष्ण ने कहा है-

कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्म फलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

अर्थात् '' तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलो में कभी नहीं इसलिये तुम कर्मों के फल का हेतु मत बन तथा कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति न होवे''

यहां निष्काम कर्म के बन्धन में एक स्वाभाविक प्रश्न मन में उठता है कि कोई भी मुर्ख व्यक्ति भी किसी प्रयोजन के बिना कार्य में प्रवृत्त नहीं होते है- '' प्रयोजनमनूदिश्य मन्दोंऽपि न प्रवर्तते'' इस न्याय के अनुसार निष्काम कर्म तो असम्भव है। क्योंकि यदि कोई कामना ही नहीं होगी तो हम कर्म क्या करे ? क्योंकि कर्तापन और आसक्ति, निष्काम कर्म के दो अंग बताये गये है इन दोनों का अभाव असम्भव है अतः निष्काम कर्म भी असम्भव है। इस समस्या का समाधान करते हुये स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने कहा है-

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।। (3/26)

अर्थात् कर्तापन का अभाव तभी सम्भव है, जब व्यक्ति यह भलि-भांति समझ ले कि इसका कर्ता मैं नहीं हूँ कर्म तो प्रकृति की गुणों द्वारा किये जाते हैं। अतः जो ज्ञानी व्यक्ति है वह यह जानता है कि सभी कर्म प्रकृति जनित गुणो द्वारा ही किया जाता है अर्थात् समस्त मनुष्य प्रकृत जनित गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करने के लिये बाध्य होता है- **''कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैगुणैः''** (गीता 3/5)। इसलिये जो ज्ञानी मनुष्य होता है वह यह जानता है कि जो कर्ता कर्म का अभिमान वह केवल अज्ञानता के कारण है। इस प्रकार निष्काम कर्म ही वास्तविक कर्म योग है। गीता में निष्काम कर्म का उद्देश्य दो रूपों में बताया गया है- (1) आत्मशुद्धि और (2) ईश्वर के प्रयोजन को पूरा करना। पहला कर्म केवल योगी करता है। अपने समूह के लिये जिसका वह अंग होता है लेकिन दूसरे के अनुसार ईश्वर के लिए कर्म किया जाता है। और जिसका फल ईश्वर को अर्पित किया जाता है। परस्पर एक दूसरे के प्रति कर्तव्य का बोध है। और दूसरे में लोक की सेवा वह ईश्वर के लिए करता है परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि कर्म चाहे कर्तव्य के लिये किया जाय या ईश्वर सेवा के लिए वह सम्पूर्ण अर्थों में निष्काम नहीं कहा जा सकता है। गीता में भी निष्काम का अर्थ लक्ष्यविहीनता न होकर कर्म फल के प्रति आसक्ति से विरत होने में है। गीता अपने सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों में लक्ष्य विहीन न होकर निष्काम कर्म योग का अनुपालन करती है। इस लिये श्री कृष्ण अर्जुन को अपने दायित्व निर्वाह करने का तथा सामाजिक दायित्व के रूप में स्वधर्म पालन करने का तथा निष्काम कर्म योगी बनने का उपदेश देते हैं। निष्काम कर्मयोगी के विषय में गीता में कहा गया है कि जो कर्म योगी अपने स्वधर्म का पालन निष्काम या अनासक्त भाव से करता है वह सांसारिक भव बन्धन से मुक्त हो जाता हैं। इस प्रकार गीता के 'ब्राह्मी' स्थिति को प्राप्त हो जाता है। गीता के निष्काम कर्म का उपदेश कर्तव्य के लिये कर्तव्य करने जैसा है। (क्नजल वित क्नजल) व्यक्ति की श्रेष्ठता फल प्राप्ति में नहीं है बल्कि फल त्याग में है, कर्म करने की कुशलता भी योग है- 'योगः कर्मसु कौशलम्' वर्ण व्यवस्था के किसी भी वर्ण का शूद्र व्यक्ति क्यों न हों यदि वह स्वधर्म का पालन कर्तव्य निष्ठ भाव से करता है तो वही स्थिति वह भी प्राप्त करेगा। जिस स्थिति को ब्राह्मण प्राप्त करता है। क्योंकि वर्ण व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति के गुण और कर्म के अनुसार ही है- ''चार्तुवर्णयं मया सृष्टम गुणः कर्म विभागशः'' इस प्रकार निष्काम रूप में कह सकते है कि गीता कर्मयोग नैषकर्म्य या कर्म निषेध नहीं है किन्तु कामना का त्याग है, अर्थात् कामना के त्याग से तात्पर्य कर्म फल के त्याग से है। गीता 18/2 में कहा गया है ''काम्यानाम कर्मणा न्यासं सन्यासं कवयो विदुः'' इस प्रकार निष्काम कर्म अकर्मण्यता की शिक्षा नहीं देता है अपितु कर्म फल के त्याग की शिक्षा देता है, तथा सिद्धि असिद्धि समस्त स्थितियों में कर्तापन के अभिमान से रहित समत्व बुद्धि को उत्पन्न करता है-

''सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते''। (गीता 2/48) इस प्रकार कह सकते है कि निष्काम कर्म ईश्वरार्थ कर्म है और ईश्वरार्थ कर्म ही अनासक्त कर्म है। जो बन्धन का बाधक तथा मोक्ष का साधक है गीता में वर्णित है-

'' ब्रह्मण्यधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोतियः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।'' (गीता 5/10)

1.4.4 स्थित प्रज्ञ

जिसकी प्रज्ञा या बुद्धि आत्मा या ईश्वर में प्रतिष्ठित है वह 'स्थित प्रज्ञ' है। भगवान कहते है कि जब निष्काम कर्म योगि की बुद्धि मोह या अज्ञान रूपी पाप को छोड देगी तब सुनने योग्य और सुने हुये विषयों तुम्हें वैराग्य प्राप्त होगा अर्थात् वे विषय तुम्हारे सामने निरर्थक प्रतीत होंगें। इसके पश्चात् तुम्हारी बुद्धि समाधि में स्थित हो जायेगी और इसके बाद भी समबुद्धि की योगावस्था को प्राप्त हो जाओगें। अर्थात् बुद्धि तत्व ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जायेगी इस प्रकार जिसे कुछ भारतीय दर्शनों में ''जीवनमुक्त'' नाम से जाना जाता है। वही गीता में ''स्थित प्रज्ञ'' है। इस प्रकार स्थित प्रज्ञ गीता में समत्व योगी को या समाधि में पहुंचे साधक के लिए प्रयुक्त हुआ है। ''स्थित प्रज्ञ'' की अवस्था निष्काम कर्म योगी की चरमावस्था का समन्वित रूप होता है यह कर्म का अपितु कर्म फल का त्याग करता है। वह संसार का नहीं अपितु संसार के प्रति अपनी आसक्ति का त्याग कर देता है। ''स्थित प्रज्ञ'' प्राप्त व्यक्ति सब प्राणियों में ईश्वर को और ईश्वर में सब प्राणियों को देखता हुआ सर्वेश्वरवादि हो जाता है। स्थित प्रज्ञ रूपी समाधि में पहुंचना ब्रह्म ज्ञानी के ही वश की बात है।

'स्थिर बुद्धि' और स्थित प्रज्ञ दोनो को कुह लोभ भ्रम से एक मान बैठतें है किन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर है गीता में भेद करते हुये स्पष्ट रूप से कहा गया है- कि स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण तो नहीं करता है अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख कर लेता है। किन्तु उन विषयों से रागात्मक निवृत्ति नहीं मिल पाती है। जबकि स्थित प्रज्ञ व्यक्ति का राग परमात्मा का साक्षातकर
करके निवृत्त हो जाता है-

''विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टता निर्वतते।। (गीता 2/59)

इस प्रकार विषयों से इन्द्रियों का हटा लेना ही केवल स्थित प्रज्ञ का लक्षण नहीं हो सकता है। बल्कि रागात्मक विकारों से मुक्त होकर शुद्ध बुद्धि रूप आत्म प्रकाश में प्रतिष्ठित होना ही प्रज्ञा कहलाती है। ऐसी प्रज्ञा से युक्त व्यक्ति मन की अपनी चंचलता को वश में करके 'स्थित प्रज्ञ' हो जाता है।

स्थित प्रज्ञ की अवस्था ध्यान जन्य समाधि की अवस्था से भिन्न है क्योंकि स्थित प्रज्ञ की अवस्था जग्रता अवस्था की सहज समाधि की अवस्था है। जबकि ध्यान जन्य समाधि की अवस्था में एकाग्रता की स्थिति सप्रयास प्राप्त की जाती है और इस अवस्था में मन की वृत्तियों में भी परिवर्तन होता रहता है जबकि स्थित प्रज्ञ की अवस्था जाग्रत अवस्था होते हुये भी ईश्वर ने समाधिस्थ होने के कारण स्थिर होती है गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन के द्वारा 'स्थित प्रज्ञ' का लक्षण जानने की जिज्ञासा (उत्सुकता) बढ़ जाती है और वह भगवान से पूंछते है कि-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।

अर्थात् अर्जुन ने पूछा कि हे केशव समाधि युक्त स्थित प्रज्ञ व्यक्ति का क्या लक्षण है, स्थित बुद्धि होने पर वह किस प्रकार की बातें करता है, किस तरह रहता है, और किस तरह विचरण करता है ?

इस प्रकार अर्जुन द्वारा स्थित प्रज्ञ का लक्षण पूछे जाने पर श्री कृष्ण ने स्थित प्रज्ञ की निम्नलिखित लक्षण बताये है-

1. स्थित प्रज्ञ सभी प्रकार की सात्विक, तामसिक और राजसिक कामनाओं वासनाओं पर विजय प्राप्त किये रहता है तथा आत्मा को वाह्य विषयों से हटाकर स्वरूपानन्द में संतुष्ट रहता है उसे स्थित प्रज्ञ कहते है।

प्रजहाति यदा कामानं सर्वान पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्यतदोच्यते।।

अर्थात् जो सभी प्रकार के विषय-चिन्तन को छोड़कर सदा श्री भगवान में चित्त को लगाये रखते है उनको ही ईश्वर के दर्शन् प्राप्त होते है।

2. स्थित प्रज्ञ भक्त को काम-क्रोध आदि विकार ग्रस्त नहीं कर पाते हैं केवल नाम-मात्र के ही रह जातें हैं जैसे- जली हुई रस्सी में ऐंठन दिखता है, रस्सी का आकार तो है किन्तु फूंक देने से वह उड़ जाती है। इसी प्रकार ईश्वर को प्राप्त कर लेने से और उसमें समाधिस्थ होने से ज्ञान-विचार नहीं रह जाता है। ब्रह्म ज्ञान होने पर संसारसक्ति नहीं रह जाती है क्योंकि ईश्वर के समीप जितना अधिक पहुंच जायेंगे उतनी ही अधिक शान्ति मिलेगी।

3. विभिन्न प्रकार के दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता है, सुखों में भी जो आंकाक्षा रहित है तथा जो भय-क्रोध से रहित है, ऐसे व्यक्ति को 'स्थित प्रज्ञ' मुनि कहते है। (गीता 2/56)।

अतः सुख-दुःख, आसक्ति भय, क्रोध आदि के पीछे कामना या वासना ही है। वासना रहित होने से 'स्थित प्रज्ञ' की अवस्था प्राप्त होती है।

4. स्थित प्रज्ञ अनीह होने से राग, द्वेष और क्रोध से मुक्त होता है।

5. स्थित प्रज्ञ सभी विषयों से अनासक्त होकर ईश्वर में लीन होता है।

6. स्थित प्रज्ञ व्यक्ति का मुख्य लक्षण यह होता है कि वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में किये रहता है अर्थात् जितेन्द्रिय बन जाता है। जिस प्रकार कछुआ विविध अंगों को अपने अन्दर समेट लेता है उसी प्रकार जब यह जितेन्द्रिय योगी इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया अपने भीतर लौटा लेता है तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित मानी जाती है-

यदा संहरते चायं कुर्मोऽगंनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (गीता 2/58)

स्थित प्रज्ञ प्राप्त साधक इन्द्रियों को विषय भागों से हटा तो लेता है और शब्दादि विषय दूर हो जाते है किन्तु उसकी रस या आसक्ति रह जाती है स्थित प्रज्ञ का यह रस भी परमात्मा का साक्षात्कार करने से निवृत्त हो जाता है- (गीता 2/59) भगवान अर्जुन को समझाते हुये आगे कहते हैं कि कुन्ती पुत्र अर्जुन निश्चय ही बलवान इन्द्रियां यत्नशील विवेकी पुरूष के भी मन का बल पूर्वक हरण कर लेती है- 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभमं मनः' अन्तिम श्लोक जो स्थित प्रज्ञ से सम्बन्धित है उसमें भगवान कहते हैं कि मेरे एकान्त भक्त या आत्मनिष्ठ योगी को उन इन्द्रियों को संयत करके समाहित होकर अवस्थित रहना चाहिये क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। (गीता 2/61) स्थित प्रज्ञ व्यक्ति में सम्पूर्ण भोग विषय उसी प्रकार

विकार उत्पन्न नहीं कर पाते जिस प्रकार चलायमान नदियां सागर में गिर कर भी सागर को चलायमान नहीं कर पाती हैं। स्थित प्रज्ञ पुरूष सभी कामानाओं को त्याग कर ममता रहित और अंहकार रहित, स्त्रीहा रहित हुआ, वर्तता हुआ शान्ति को प्राप्त करता है। 'स्थित प्रज्ञताः' की स्थिति ब्रह्म को प्राप्त हुये पुरूष की स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त होकर पुनः मोहित नहीं होता है। और अन्तकाल में ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के रूप में- याज्ञवल्क्य, जनक, कबीर, नानक, तुलसी, शंकराचार्य, स्वामी रामकृष्ण परमहंष आदि स्थित प्रज्ञ कहे जाते है।

स्थित प्रज्ञ प्राप्त सिद्ध पुरूषों का कोई स्वार्थ नहीं होता है उनका कार्य लोकसंग्रह या लोककल्याण के लिये होता है, ब्रह्म ज्ञान के बाद कोई ज्ञानतव्य, कोई पातव्य और कोई कर्तव्य से शेष नहीं रह जाता है। लोक कल्याण की कामना से कोई कर्म नहीं करता अपितु उसके द्वारा सम्पादित कार्यों से स्वतः लोक कल्याण होता है।

1.4.5 गीता में आत्मतत्व

गीता में आत्मतत्व को मुख्य रूप से प्रतिपादित किया गया है। गीता में आत्मतत्व के लिये नित्य, अविनाशी, अज, अव्यय, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य आदि पद प्रयुक्त हुये है। 'नित्य' उसे कहा जाता है जिसकी सत्ता त्रैकालिक हो। त्रिकाल से तात्पर्य भूत, वर्तमान और भविष्य से है। क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो तीनों कालों में नित्य रह सके अतः आत्मा ही नित्य सिद्ध होती है। 'अविनाशी' से तात्पर्य है जिसका विनाश न हो अर्थात् विनष्ट न हो। शरीर नश्वर है आत्मा नित्य है, शरीर नष्ट हो जाता है और पंच महाभूतों में विलीन हो जाता है किन्तु आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती रहती है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने जीर्ण वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्रों को पहन लेता उसी प्रकार आत्मा भी पुरानी शरीरों को छोडकर नये शरीर को धारण करती है-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय।
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा।
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (2/22)

'आत्मा को सत् भी कहा गया है क्योंकि जो सत् उसी का भाव है और जो असत् है उसका भाव नहीं हो सकता है और जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता-

'नासतो विद्यते भाव ना भावो विद्यते सतः' (गीता 2/16)

अर्थात् सत् वही हो सकता है जो त्रिकाला बाध हो अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य में जो तीनों कालों में सदा सर्वदा नित्य एक रस और अपरिवर्तन शील रहे यह लक्षण शुद्ध आत्मतत्व या ब्रह्म का है। और वही 'सत' है।

गीता में भगवान श्री कृष्ण ने आत्मा के स्वरूप के विषय में कहा है कि आत्मा सदैव एक रूप है। उसमे कभी विकार उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये आत्मा को अविकारी कहा जाता है। आत्मा देह आदि उपाध्यों से युक्त होता है जो औपाधिक है वास्तविक नहीं। जीवात्मा पहले कुमारावस्था पुनः युवावस्था और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। अर्थात् पहले स्थूल शरीर को प्राप्त करता है और पुनः सूक्ष्म शरीरों में प्रवेश करता है। विनाश तो शरीर का होता है आत्मा का नहीं जिस तरह जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जीव हमेसा सत्य एवं नित्य

रहता है। उसी तरह आत्मा की सत्यता एवं नित्यता है। अर्थात् उत्पत्ति एवं विनाश देह आदि का होता है, आत्मा का नहीं है।

''देहिनोऽस्मिन यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
यथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।। (2/13)

भगवान आत्मा का स्वरूप समझाते हुये कहते है कि यह दृष्टिगोचर होने वाला जगत अविद्या से उत्पन्न है यह जिस अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, सद्रूप, ब्रह्म से व्याप्त है उसे सत् कहते हैं कोई भी इस नित्य आत्मा का विनाश करने में समर्थ नहीं होता।

''अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।। (2/17)

आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी दिखायी पड़ता है किसी की पृथक सत्ता नहीं है। ब्रह्म या आत्मा ही एक मात्र सत् है, सुख-दुःख आदि अन्तः करण के धर्म है आत्मा के नहीं मन, बुद्धि, चित्त्, और अंहकार इन चार वृत्तियों की समष्टि अन्तःकरण है। और इसी से सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है जो हम यह समझते है कि हम सुखी या दुःखी है इस भ्रम का कारण है 'अज्ञान' अर्थात् सत् और असत् वस्तुओं के ज्ञान का अभाव मैं चेतनमय, ज्ञान स्वरूप आनन्दमय आत्मा हूँ इस सत् तत्व को भूलकर जीव, शरीर, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार आदि को अपना स्वरूप समझता है, फलस्वरूप उसे जीवन भर दुःख ही भोगना पड़ता है।

गीता के अनुसार यह आत्मा अविनाशी एवं अतुलनीय है जो व्यक्ति इसे अर्थात आत्मा को मारने वाला जानता है तथा जो व्यक्ति इसे मृत समझता है वे दोनो ही नहीं जानते है यह न मरता है और न ही मारा जाता है-

''य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। (गीता 2/19)

आत्मा को गीता में शरीरी, देही, भी कहा गया है। और आगे भगवान अर्जुन को यह उपदेश देते हैं कि शरीरी नित्य है शरीर नाशवान है इसे जानकर स्वधर्म पालन के लिए हे अर्जुन ! तुम युद्ध करो, यथार्थ में किसी की मृत्यु नहीं होती है केवल अवस्थान्तर होकर सब कुछ आत्मा में लीन हो जाता है। आत्मा सर्वव्यापी है और परमसूक्ष्म है, इस कारण वह हत्या नहीं कर सकता और न हत् ही होता है-

''न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (2/20)

इसलिये हे अर्जुन! इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, त्रिकाल में परिणाम शून्य, जन्मरहित, क्षयशून्य जानता है। हे पार्थ, वह व्यक्ति किस प्रकार किसका वध कराता है या किसका वध करता है ? इस प्रकार इस अग्रिम श्लोक में भगवान आत्मा का ही प्रकारान्तर से वर्णन करते हुये कहते हैं कि-

''नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।। (2/23)

अर्थात् इस आत्मा को नहीं काट सकते हैं अग्नि इस आत्मा को नहीं जला सकती तथा जल इसे गीला नहीं कर सकता वायु इस आत्मा को नहीं सुखा सकती है। इस प्रकार यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, निश्चल, और सनातन है- ''नित्यः सर्वगतः स्थानुरचलोऽयं सनातनः।'' आत्मा के स्वरूप के विषय में और वर्णन किया गया है कि यह आत्मा वाणि से व्यक्त नहीं किया

जा सकता, मन से इसका विचार नहीं किया जा सकता और यह आत्मा विकार रहित कहा जाता हैं। अतः इसे इस प्रकार का जानकर हे अर्जुन! तुम्हें शोक करना नहीं चाहिये और आगे भगवान कहते है कि हे अर्जुन यदि तुम यह मान भी लो कि यह आत्मा सदा उत्पन्न और मरणशील है तो भी तुमको इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है मृत व्यक्ति का पुर्नजन्म लेना निश्चित है। इस कारण ऐसे अवश्य समभावी विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। (गीता 2/27)

भगवान शरीरी या आत्मा के विषय में अर्जुन को साधारण दृष्टि से समझाते है कि हे अर्जुन सभी प्राणी जन्म के पूर्व अव्यक्त या अज्ञात थे, बीच में कुछ समय के लिये दिखाई पड़ रहें है और जो विनाश के बाद अज्ञात हो जायेंगे उनके लिए शोक करना अनुचित है जिन सगे सम्बन्धियों के लिए तुम चिन्ता कर रहें हो व जन्म के पूर्व तुम्हारे कौन थे और मृत्यु के बाद इनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेंगा, उसे तुम नहीं जानते यह जो कुछ समय के लिए तुम्हारा इनके साथ परिचय हुआ है मानों रात भर के लिए धर्मशाला के यात्रियों के मिलन की तरह है। प्रातः काल होते ही सब लोग उस धर्मशाला को छोडकर अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चले जायेंगे। अतः इस संसार में यह मेरा पुत्र है पत्नी है, पति है, ऐसा सम्बन्ध मानकर मोहित होकर शोक करना उचित नहीं है-

'' अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।

अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना।। (गीता 2/28)

भगवान आगे कहते है कि हे अर्जुन यह आत्मा सबके शरीर में सदा अवध्य है, इसलिये तुम्हें किसी भी प्राणी के निधन से शोक करना उचित नहीं। इसलिये हे अर्जुन अपने क्षत्रिय धर्म को देखकर अपने स्वधर्म से विचलित होना शोभा नहीं देता है, क्योंकि धर्म युद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय के लिये कुछ भी कल्याणकारी नहीं है। इसलिये अपने स्वधर्म का पालन करते हुयें तुम्हें युद्ध करना चाहिये क्योंकि यदि युद्ध नहीं करोगे तब आपकी अपकीर्ति पूरे विश्व में फैल जायेगी जो मृत्यु से भी बढ़कर दुख दायी होती है- और आगे समझातें हुये कहते है कि युद्ध करने से क्या लाभ है ? यदि युद्ध में मारा जायेगा तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि युद्ध में जीत जायेगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इसलिये हे अर्जुन युद्ध से विचलित न होकर युद्ध के लिये कृत निश्चय करके उठ खड़े होओ। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर फिर तुम युद्ध के लिये सन्नद्ध हो जाओ इस प्रकार कर्तव्य कर्म करने से तुम्हें पाप स्पर्श नहीं करेगा। इस प्रकार भगवान ने गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा की अमरता से सम्बन्धित मुख्य उपदेश दिये है। इस प्रकार आत्मतत्व बड़ा ही गहन है और अत्यन्त मूढ़ विषय है जो व्यक्ति अज्ञानी है, मोह, माया से ग्रस्त है उसे आत्मतत्व समझ में नहीं आता है।

1.4.6 ब्रह्म या परमेश्वर

गीता की तत्व विवेचन में ब्रह्म या परमात्मा का महत्वपूर्ण एवं विशद् वर्णन किया गया है गीता ब्रह्म की सगुण निर्गुण दोनो रूपों को मानती है। और यह भी मानती है कि दोनों रूप एक ही अभिन्न तत्व के है ब्रह्म जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, वह शूद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द स्वरूप है। वह निर्विकल्प, निरूपाधि और विश्वातीत

भी है। ब्रह्म अर्न्तयामी के रूप में सारी प्रकृति और समस्म प्राणियों में वास करता है। जिस प्रकार सूत में मणि पिरोई रहती है उसी प्रकार मणियों की तरह यह समस्त जगत मुझमें अनुस्यूत है। ब्रह्म या ईश्वर ही विश्वात्मा होते हुये भी वह विश्व में सीमित नहीं है, वह विश्वातीत भी है, अज्ञानी लोग भी मेरा अक्षय, सर्वश्रेष्ठ महानभाव अर्थात् स्वरूप न जानकर अव्यक्त, संसार से परे मुझे मनुष्य रूप में आविर्भूत समझते हैं। ब्रह्मनिर्विकार, निराकार, निर्गुण, निविशेष है। वह अपनी माया की सहायता से भी संसार के कल्याण के लिए लीलावश सविशेष गुणमय, साकाररूप धारण करते है और संसार में अवतीर्ण होते है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता में वर्णन कहते हुये कहते है कि हे अर्जुन इस पूरे श्रृष्टि में मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। मैं जल में रस, चन्द्र सूर्य में ज्योति, समस्त वेदों में ओंकार स्वरूप, आकाश में शब्द और मनुष्यों में पुरूषाकार हूँ, जीव में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है वही ब्रह्म रूप से इस समस्त वाह्य जगत में भी व्यापत है। अखण्डचिदानन्द स्वरूप परमतत्व को आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म या ईश्वर स्वतः शुद्ध चैतन्य एवं स्वयं प्ररकाश है। गीता में श्री भगवान ने क्षर, अक्षर पुरूषोत्तम इन तीन प्रकार के पुरूषों का उल्लेख किया है। जहां सांख्य दर्शन पुरूष को एक मानता है। वही गीता में पुरूषनाना है। और उनके साथ प्रकृति नाना मानी गयी है जैसे- 'क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत''। तथापि वेदान्त के एकात्मवाद के समान गीता में भी एकात्मवाद समर्थित हुआ है जैसे-

मन्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रं मणिगणा इवं ।। (गीता 7/7)

हे अर्जुन और जो कुछ समस्त प्राणियों का बीज कारण है, वह मै ही हूँ मेरे अतिरिक्त इस चराचर जगत में कोइ ऐसी वस्तु नहीं है जो मेरे बिना रह सके इस प्रकार सब कुछ ब्रह्म है- ''सर्वखल्विदं ब्रह्म'' यह श्रुति वाक्य समर्थित होता है जो वेदान्त दर्शन का मुख्य आधार स्तम्भ है। ब्रह्म ही समस्त भूतों और प्राणियों की स्थिति है तथा ब्रह्म में ही सब कुछ लय प्राप्त हो जाता हैं। अतः ब्रह्म को अलग कर देने से ब्रह्माण्ड की कोई यथार्थ सत्ता ही नहीं रह जायेगी। ब्रह्म आत्मा रूप से रहने के कारण ही सब प्राणी जीवित है। जैसे- कुम्हार घट का निमित्त कारण है और मिट्टी घट का उपदान कारण है। उसी प्रकार ब्रह्म भी निमित्त और उपदान कारण हैं। गीता के सातवें अध्याय के छठें श्लोक में भगवान कहतें है कि चेतन और अचेतन स्वरूप समस्त भूत इन दो प्रकार की प्रकृतियों से उत्पन्न इसे धारणा करों अथार्थ जानलो मै ही समस्त जगह की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ-

एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।

योग दर्शन कहता है कि- ''क्लेश कर्म विपाकाश यैर परामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वरः'' अर्थात् क्लेश, कर्म विपाक और आशय ये चारो जीव मात्र में सतत् वर्तमान रहते है। इनके ही द्वारा पुरूष भोक्तृत्व रूप को प्राप्त होता है। ये चारो जिसमें नहीं होते है। अथवा जिसे स्पर्श नहीं कर पाते वहीं ईश्वर है। जीव के साथ ईश्वर का इतना ही भेद है जीव के कर्म होते है। अतएव उस कर्म के संस्कार भी होते है। ईश्वर का कोई कर्म नहीं होता है। अतएव उनका कोई संस्कार नहीं होता है इस कारण ईश्वर स्वभावतः चिरमुक्त है। ईश्वर को ''पुरूषविशेष'' भी कहा गया है। इसका कारण यह है कि पुरूष तीन प्रकार के होते हैं-

1- क्षर पुरूष 2- अक्षर पुरूष और पुरूषोत्तम है। पुरूषोत्तम ही ईश्वर है वह अन्य दो पुरूषों से विशेष या विलक्षण है-

उत्तमः पुरूषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रय भाविश्य तिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। (गीता 15/17)

अर्थात् उन क्षर और अक्षर से भिन्न एक उत्तम पुरूष है जिन्हें 'परमात्मा' कहते हैं। जो अक्षर ब्रह्म सर्वज्ञ, नारायण तीनों लोकों में अपनी शक्ति से प्रविष्ट होकर उनका पालन करते हैं। भगवान आगे कहते है कि क्योंकि मैं क्षर से परे और अक्षर से भी अतीत तथा श्रेष्ठतम हूँ। इस कारण लोक व्यवहार या पुराण आदि में और वेदों में मैं पुरूषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ-

यस्मात्क्षमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः।। (गीता 15/18)

गीता परमेश्वर की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है। (1) अपरा (2) परा। 'अपरा' प्रकृति को 'क्षेत्र और 'क्षर' 'पुरूष' भी कहा गया है इसे जड़ प्रकृति भी कहते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान हैं। 'परा प्रकृति' के अन्तर्गत चेतन जीव आते है। इसका अन्य नाम क्षेत्रयज्ञ और 'अक्षर' पुरूष भी है। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।' (15/16)। इस प्रकार संसार में दो प्रकार के पुरूष है। 1- विनाशशील 2- अविनाशी। उनमें जीव-जगत विनाशशील है और कूटस्थआत्मा अविनाशी कहलाता है। जीव चैतन्य रूप होने से उत्कृष्ट या पराप्रकृति या विभूति है। जीव 'कूटस्थ' और 'अक्षर' है। भगवान जीव को अपना अंश कहते है- 'ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः।' (गीता 15/7) क्षर पुरूष (जड़ प्रकृति) और अक्षर पुरूष (जीव) इन दोनों के ऊपर उत्तम पुरूष या पुरूषोत्तम है- (गीता 15/17) यह पुरूषोत्तम ही परमतत्व है जो जड़ प्रकृति और चेतन जीव दोनों से ऊपर की कोटि का है और यह इन दोनों की 'आत्मा' भी है। और यह दोनों में अन्तर्यामी रूप में रहकर दोनों का नियमन करता है फिर भी इसे विश्वतीत पुरूषोत्तम कहा गया है। इस प्रकार गीता भी सगुण ईश्वर और निगुर्ण ब्रह्म का अत्यधिक सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है जिसका वर्णन श्रुतियों एवं वेदों में भी किया गया है। सगुण ब्रह्म ही सोपाधिक और सविकल्पक होकर ईश्वर बन जाता है। ईश्वर ही समस्त विश्व के कर्ता-धर्ता, नियन्ता और आराध्य है और पर ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकल्पक, निरूपाधिक, निष्प्रपञ्च, अनिर्वचनीय और अपरोक्षानु-भूतिगम्य है। निर्गुण ब्रह्म का केवल निषेध मुख ''नेतिनेति'' से ही वर्णन सम्भव है। तैत्तरीय उपनिषद में कहा गया है- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत प्रयन्त्याभिसं विशन्ति ..... तद् ब्रह्म''- अर्थात् ''ब्रह्म वह है जिससे इस जगत के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते है। जिसमें स्थित और जीवित रहते है और जिसमे ंपुनः विलीन हो जाते है। निर्गुण ब्रह्म ही गीता दर्शन के अुसार कभी-कभी अपने आपको माया शक्ति द्वारा सीमित करके अवतार ग्रहण करता है। यही ईश्वर का सगुण स्वरूप होता है इस सम्बन्ध में स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि-

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत्।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानम सृजाम्यहम।। (गीता 4/7)

इस प्रकार सगुण ब्रह्म की उपाशना पर गीता में विशेष बल दिया गया है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना को महत्वहीन समझा गया है। पूर्ण विश्वास और श्रद्धा से की गयी किसी भी तरह उपासना ईश्वर प्राप्ति का यथोचित मार्ग है। इस प्ररकार गीता में ब्रह्म का ज्ञान करना ही परम साध्य तत्व माना गया है। ईश्वर प्राप्ति के लिए त्रिविध मार्ग निर्दिष्ट किये गये है। जो ज्ञान कर्म और भक्तियोग नाम से जाने जाते है। गीता वर्णित विश्व

रूप दर्शन का एक मात्र लक्ष्य ईश्वर साक्षात्कार है। गीता में ईश्वर जीव माया प्रकृति विश्व उत्पत्ति, विनाश, आत्मा तथा जरा-मरण आदि समस्त लौकिक तथा पारलौकिक दृष्टियों से वैज्ञानिक तथा मनो वैज्ञानिक रूप से सम्यक विवेचन किया गया है। यही कारण है कि भगवदगीता आज समस्त विश्व की प्रदर्शिका के रूप में प्रतिदिन आगे बढ़ रही हैं। और इसकी कीर्ति दिग-दिगान्तर तक व्याप्त है। गीता का अमर संदेश आज के अशान्त जगत में विक्षुब्ध मानव समाज को परम शान्ति प्रदान करने वाला है।

1.4.7 जीव

गीता में भगवान कहते हैं कि यह जीव जो है यह मेरा ही अंश है-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। (गीता 15/7)

अर्थात् मुझ परमेश्वर का ही अनादि एक अंश संसार में जीव बनकर प्रकृति अवस्थित होंकर मन के साथ पांच इन्द्रियों को आकर्षित करता है। परमेश्वर की दो प्रकृतियां है अपरा प्रकृति और परा प्रकृति। 'अपरा प्रकृति' जहां जड़ है इसमें सभी भौतिक पदार्थ विद्यमान होते है वहीं परा प्रकृति चेतन जीव है। इस चेतन जीव को 'अक्षर' और 'क्षेत्रज्ञ पुरूष भी कहते है 'जीव' ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है तो जगत स्थूल शरीर है। ईश्वर जीवों के और जगत की आत्मा है। इस सृष्टि से मेर सनतान अंश जीव रूप में प्रकृति में विद्यमान मन सहित छः इन्द्रियों को आकृष्ट करता है। जब जीव शरीर रूप को धारण करता है और पुनः उसका त्याग करता है तब जैसे वायु, अपने स्थल से गन्धों को साथ लिये चलता है यह जीव भी उसी प्रकार इन्द्रियों के वशीभूत हो जाता है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों तथा मन के योग से जीव विषयों का सेवन करता है। प्रत्येक अवस्था में स्थित इस जीव आत्मा को ज्ञानी लोग ही पहचान सकते हैं। मलिन अन्तःकरण युक्त अज्ञानी के लिए जानना असम्भव है।

यथा प्रकाशत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।। (गीता 13/35)

इस श्लोक का तात्पर्य है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त पृथ्वी को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा भी जीव के सम्पर्ण शरीर प्रकाशित करती है। भगवान ने गीता में जीव की मुख्य रूप से तीन गतियों का वर्णन किया है। 1- ऊर्ध्वगति 2- अधोगति 3-मध्यगति। जो मनुष्य सत्व गुण में स्थित रहने वाला है उसको ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है। (गीता 14/14, 18) तमोगुण की तात्कालिक वृत्ति के बढ़ने पर मरने वाला और तमोगुण में स्थित रहने वाला मनुष्य अधोगति में जाता है- (14/15, 18) रजोगुण के तात्कालिक वृत्ति के बढ़ने पर मरने वाला और रजोगुण में स्थित रहने वाला मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है- ''जीवात्मा'' किस भाव से सत्वादि गुणो से युक्त होकर शरीर में अवस्थित रहता है विषयों का भोग करता है या किस भाव से शरीर छोडकर चला जाता है उसे अज्ञानी लोग नहीं देख सकते हैं क्योंकि उनका मन विषयों के आकर्षण से बर्हिमुख रहता है किन्तु इसके विपरीत ज्ञानियों का मन अर्न्तमुख रहता है। इसी कारण ज्ञानी लोग ही आत्मा का दर्शन कर पातें हैं भगवान जीवात्मा का वर्णन करते हुये कहते है कि इस संसार में दो प्रकार पुरूष है- विनाशशील और अविनाशी उनमें जीव, जगत विनाशशील है और इससे अलग कूटस्थात्मा अविनाशी है- 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरः उच्यते'। (गीता 15/16) वेदान्त दर्शन में जीव का वर्णन कुछ इस प्रकार किया गया है- शंकर के अनुसार

अनादि अविद्या के कारण आत्मा अनेक रूपों प्रतिभासित होने लगती है। इसी को अद्वैत वेदान्त में 'जीव' कहते है। जीव अपने ईश्वर से भिन्न कर्ता है या भोक्ता समझने लगता है। जबकि जीव और ब्रह्म में कोई तात्विक भेद नहीं है- 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' पर व्यवहारिक दृष्टि से जीव और ईश्वर अलग है क्योंकि जीव माया का कार्य है। माया के कारण ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है किन्तु गीता में भगवान जीव को अपना एक अंश स्वीकार करते है।

1.4.8- गीता में प्रतिपादित वर्ण धर्म या स्वधर्म-

समाज रूपी शरीर को सुचारू रूप से चलाने के लिए सृष्टि के प्रारम्भ में ही स्वर्ण धर्म की व्यवस्था स्वयं भगवान श्री कृष्ण वासुदेव द्वारा की गयी है। भगवान ने विविध गुण कर्मो के आधार पर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सुद्र इन चार वर्णों को अविभूत किया था- चातुर्य वर्णनम ''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।। (गीता 4/13) इसमें सर्व प्रथम वर्ण का धर्म बताया गया है- अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, क्षमाशीलता, धर्मार्थकष्ट अन्तः एवं वाह्य शुद्धि, वेदशास्त्र, ईश्वर, परलोक, श्रद्धा, आदि में अध्ययन-अध्यापन इत्यादि ब्राह्मण के स्वाभाविक धर्म हैं- शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिराज।

गीता में प्रत्येक वर्ण के कुछ विशेष वर्ण धर्म या कर्तव्य कर्म बताये गये हैं।

1-ब्राह्मण के कर्तव्य-

विराट पुरूष के मुख से उत्पन्न होने के कारण उसकी विशिष्टता स्वयं सिद्ध थी। प्राधान्यता ब्राह्मणों के छः कर्तव्य कर्म थे। 1- वेद पढ़ना, 2- वेद पढ़ाना, 3- यज्ञ करना, 4- यज्ञ कराना, 5- दान देना, 6- दान लेना

2-क्षत्रिय के कर्तव्य-

प्राचीन भारतीय समाज में क्षत्रियों कि स्थिति, ब्राह्मणों के बाद की थी देश और समाज की सुरक्षा का भार क्षत्रियों पर ही था। चारोवर्णों को संरक्षण प्रदान करना क्षत्रियों का प्रमुख कर्तव्य था। क्षत्रियों के कर्मो का उपदेश करते हुये गीता 18/43 में स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने कहा है-

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्।। गीता 18/43

3.वैश्य के कर्तव्य

व्यापारिक व्यवस्था और कृषि का समस्त भार वैश्यों के ही ऊपर निर्भर था। देश और समाज की आर्थिक स्थिति उसी के सत प्रयासों से सुद्रिण होती थी। वैश्य कर्म का उल्लेख करते हुये भगवान श्री कृष्ण ने स्वयंमेव कहा है कि खेती, गो पालन और क्रय विक्रय रूपी सद व्यवहार ही वैश्यों कके कर्तव्य कर्म हैं-

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।। गीता 18/44 पूर्वाद्ध।

4-शुद्र के कर्तव्य

प्राचीन भारत में सूत्रों की स्थिति अत्यन्त निम्न कोटि की थी विराट पुरूष के पैरों से इनकी उत्पत्ति बताकर समाज में इनकी निम्नतम अवस्था की घोषणा की गयी थी। ब्रह्मा ने सूत्रों को वृजवर्णों की सेवाशुश्रूषा के लिये उत्पन्न किया था, जो शुद्रों का स्वाभाविक धर्म का-

''परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।। गीता 18/44 उत्तरार्द्ध।

विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति, भुजा से क्षत्रिय की, जंघा से वैश्य की, चरणों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्.....।। ऋग्वेद/पुरूषसूक्त/10/90/12।।

1.4.8 गीता की दैवी और आसुरी सम्पत्ति -

दैवी और आसुरी इन दोनों शब्दों में देव नाम देवताओं का नहीं है। अपितु यह 'परमात्मा' का वाचक है और 'असुर' नाम राक्षसों का न होकर प्राणों में रमण करने वालों का है। देव अर्थात् परमात्मा के जितने वाचक गुण है वे सभी 'दैवी गुण' कहलाते हैं ये दैवीगुण परमात्मा की प्राप्ति कराने वाली पूज्य होने से 'दैवी सम्पत्ति' कही जाती है। इसी सम्पत्ति का आश्रय लेकर भक्त लोग भगवान का भजन करते हैं। अर्जुन को संदेह हो रहा था कि पता नहीं मेरे अन्दर सत्वगुण है कि नहीं। मैं इस सत्वज्ञान का अधिकारी हूँ की नही तब भगवान ने आश्वासन देकर कहा है कि- 'तुम भय को प्राप्त मत होओ' तुमनें दैवी सम्पद् का अधिकार लेकर जन्म लिया है इसलिये भगवत्प्रवणता तुम्हारे लिए स्वभाविक है दैवी सम्पद् का अधिकारी जिसको नहीं है वह साधन पथ में आना नहीं चाहता। आसुरं भावं (7/15) आसुरं (16/6), आसुर निश्चयान् आदि पद गीता में प्रयुक्त हुये हैं। 'असुर' से तात्पर्य- प्राणों में आसक्ति रखने वाला 'असु' का अर्थ है 'प्राण' प्राणों में ही जो रमण करने वाले है, प्राणों का भरण पोषण-रक्षा करना चाहतें है, पे असुर कहलाते हैं। और उन असुरों का जो स्वभाव है, उनके जो गुण है वे आसुरी गुण कहलाते है। आसुरी गुण से युक्त लोग चौरासी लाख योनियों में भटकते रहतें हैं और अधोगति को प्राप्त होतें है। गीता के षोड्श अध्याय में दैव तथा आसुरी सम्पत्तियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। गीता के अनुसार मनुष्य दो प्रकार की समपदा से युक्त होता है- दैवी और आसुरी संसार के प्रत्येक धर्म में इन दोनों शक्तियों का वर्णन किया गया है। इन दोनों शक्तियों वाले व्यक्तियों में वाद-विवाद और युद्ध चलता रहता है। देव असुर, राम-रावण, कृष्ण-कंस, खुदा और शैतान आदि दैवी और आसुरी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। भगवान ने बताया है कि जो दैवी सम्पदा से युक्त होते हैं। उनके अन्दर 26 सात्विक गुणों का विकास होता है। ये पूर्व जन्म के शुभ कर्मो के फलस्वरूप दैवी सम्पदा के अधिकारी होते है।

गीता में- दैवी सम्पदा सम्पन्न व्यक्तियों में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं- अभय, अन्तःकरण की स्वच्छता, तत्वज्ञान के लिये ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान, देवता और गुरूजनों की पूजा अग्निहोत्र यज्ञ आदि उत्तम कर्मो का आचरण एवं वेद शास्त्रों का पठन-पाठन, भगवान के नाम का कीर्तन, स्वधर्म का पालन, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दा का त्याग सब प्राणियों में दया, अनासक्त भाव, कोमलता निषिद्ध कुकर्म करने में लज्जा, चंचलता का अभाव, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य शौच, अहंकार शून्यता, लोभ शून्यता, चित्त शुद्धि आदि दैवी सम्पदायें हैं। इस दैवी सम्पदओं से युक्त व्यक्ति चिर शान्ति रूप मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी होता है। इसके विपरीत आसुरी सम्पदा प्राप्त व्यक्ति (पुरूष) के लक्षण निम्नलिखित प्रकार के होते हैं- पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कटुवचन, परनिन्दा, अज्ञानता, कर्तव्य भाव का अभाव अशुद्ध अन्तःकरण, मिथ्या भाषण, अनीश्वर वादी, भौतिक वादी, आसुरी सम्पदा लेकर जो लोग जन्में वे सदा दुःख ही भोगते रहते है। आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों को धर्म अधर्म का ज्ञान नहीं रहता है वे शौच सदाचार नहीं जानते, सत्य धर्म, शास्त्र ईश्वर आदि को भी नही मानते और कर्म उपभोग को भी जीवन का परम पुरूषार्थ समझतें हैं तथा काम क्रोध वशिभूत होकर समस्त प्राणियों का अनिष्ट करते हैं। इस प्रकार आसुरी प्रकृति वाले लोग अधर्म का आचरण करके बार-बार अधोगति को प्राप्त होते है।

उनकी मुक्ति का कोई उपाय नहीं रहता है। जो आसुरी गुणों से युक्त होते है उनको हिंसा करने, बलात्कार करने, लूट-पाट-चोरी, अपहरण करने में कोई डर नहीं लगता क्योंकि वे धर्म, कर्म, पाप, पुण्य को नहीं मानते हैं। ऐसे व्यक्ति दिन रात भोगवासना में लिप्त रहते हैं। और इनके अन्तःकरण में कुसंस्कार की प्रवृत्ति का जन्म होता रहता है। भौतिक सुख सुविधाओं के पीछे मदमत्त होकर भागते रहते है। धनमान और अहंकार आदि से युक्त होते है। आज समाज में जितनी भी विसंगतियां दिखाई पडती है वह सब आसुरी गुणों से युक्त व्यक्ति की देन है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति समाज के हित के विषय में न सोचकर, केवल अपने कल्याण के विषय में सोचते हैं। और इससे उनका मन कभी शान्ति को प्राप्त नहीं कर पाता है। भगवान कहते है कि इस प्रकार का बुद्धि का आश्रय करके विकृति मति छोटी बुद्धि वाले निष्ठुर कर्म कारी संसार का अहित करने वाले लोग इस जगत के विनाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ये लोग निरीश्वरवादी होते है। और सैकडों आशारूप रस्सियों से आबद्ध होकर काम परायण लोग विषय भोग के लिए असत् उपाय के आलम्बन से धन संग्रह करने की इच्छा करतें हैं। गीता में आगे वर्णन करते हुये कहा गया है कि-

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।। (गीता 16/14)

अर्थात् यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, अन्य शत्रुओं को भी मैं मार डालूँगा, मैं प्रभु, मैं ही भोगाधिकारी, मैं कृतार्थ, मैं बलवान और सुखी हूँ, आसुरी स्वभाव वाले लोग, शास्त्र विधि को छोडकर धार्मिक बनने का ढोंग रचते है- 'यजन्ते नामयज्ञेस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्' श्री कृष्ण कहते है कि हे अर्जुन! अज्ञानी लोग हर जन्म में आसुरी योनि प्राप्त होकर मुझ परमेश्वर को न पाकर उससे भी अधिक अधोगति या कृमिकीट आदि घृणित योनि प्राप्त करते हैं-

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। (गीता 16/20)

इस प्रकार भगवान समझाते हुये अर्जुन को उपदेश देते हैं कि काम, क्रोध, लोभ ये तीनों मनुष्य के परमशत्रु हैं जो मनुष्य को नरक के द्वार तक पहुंचा देते है। अतः आत्मा को अधोगति में न पहुंचाकर तीनों का त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार कहा गया है कि-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (गीता 16/21)

इसलिये हे अर्जुन इन तीनों के नरक के द्वारों से मुक्त होकर मनुष्य अपना कल्याण रूपी आचरण करता है तो वह श्रेष्ठ परमगति मोक्ष को प्राप्त होता है। इस कारण श्री भगवान ने अत्यन्त कृपा-परायण होकर अर्जुन को लक्ष्य करके जगतवासियों को सदउपदेश देते हुये कहतें है कि काम, क्रोध, लोभ आदि को वश में करके शास्त्रविहित कर्म करना हर एक मनुष्य का कर्तव्य है। स्वधर्म का पालन ही श्रेष्ठ उपाय है तथा धर्म अधर्म के निर्णय में शास्त्र ही प्रमाण है। इस कारण श्री भगवान इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में उपदेश की परिसमाप्ति करके कहा है कि हे अर्जुन तुम शास्त्रोक्त व्यवस्था जानकर स्वधर्माचरण रूप कर्म करने में प्रवृत्त हो जाओं। दैव-आसुरी सम्पदा का विश्लेषण करते हुये गीता के कर्मवाद को स्पष्ट किया जा सकता है। कर्मवाद यह मानता है कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसके अनुसार उसको फल मिलता है। दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति अच्छे कर्म करते है तो शुभ फल प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो अच्छा कर्म नहीं करते है अशुभ फल की प्राप्ति होती है। तथा ऐसे लोग निकृष्ठ योनियों में जन्म

लेकर अधोगति को प्राप्त होते रहतें है। जब विश्व में समाज में, आसुरी स्वभाव वाले ज्यादा अव्यवस्था फैलादेते है, अत्याचार, शोषण और अधर्म का सहारा लेकर अराजकता पैदा कर देते है तत्पश्चात् आसुरी स्वभाव की पराकाष्टा बढ़ जाती है। तब इस प्रकार की प्रवृत्ति वालों के विनाश के लिए स्वयं ईश्वर को अवतार लेना पड़ता है-

'' यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानम सृजाम्यहम् ।।'' (गीता 4/7)

1.4.9 मोक्ष

पुरूषार्थ सिध्दान्त में मनुष्य की सभी ईच्छाओं ,आवश्यकताओं और उद्देश्यों को चार वर्गो में विभक्त किया गया है -धर्म, अर्थ काम, मोक्ष,मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' है। मोक्ष प्राप्ति के लिये गीता कभी नही कहती है कि संसार त्याग करने से मोक्षप्राप्ति सम्भव नही है मोक्ष से तात्पर्य है 'आवागमन के बन्धन से तुक्ति पाना'।

गीता में यह अन्तिम निष्कर्ष के रूप में वर्णित है , कि ईश्वर के प्रतिपूर्ण समर्पण की भावना ही परमपद प्रदान कर सकती है ।गीता में कहा गया है-

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

अर्थात् "हे भारत ! तू सब प्रकार से उस परमात्मा की ही शरण में ही जा । उस परमात्मा का कृपा से ही तुम्हें परम शान्ति तथा सनातन परन धन प्राप्त होगा " ।

गीता के अन्तिम अध्याय का नाम ही 'मोक्षयोग' है भगवान ने कहा है त्रिविधत्याग और सन्यास मुख्य है । काम्यकर्म का त्याग ही सन्यास है और सारे कर्मो के फल मात्र का त्याग ही यथार्थ त्याग है जो कर्मफल त्यागी है वही यथार्थ सन्यासी है । देहधरीजीव देह में वर्तमान रहते सभी कर्मो का त्याग नहीं कर सकता है क्योंकि श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक वृत्ति भी कर्म है पूजा अर्चना भगवान का स्मरण मनन भी कर्म है स्वधर्म भी कर्म है इस कारण गीता कर्मत्याग का उपदेश नहीं देती है कर्मफल त्याग करके स्वधर्म का अनुष्ठान ही भगवान का स्पष्ट निर्देश है । भगवान कहते हैं कि जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते है और जो इसप्रकार नित्य मुझमे ही रत् रहते है उनके योगक्षेम का भर मैं स्वयं उठाता हूँ कहा भी गया है -

अनन्याश्चिन्तयतो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।(गीता 9/22)

इस प्रकार इस श्लोक में कहा गया है कि अपना आत्मसर्पण ईश्वर के सामने पूरी तरह से कर दो इस प्रकार मोक्ष, आत्मज्ञान के परमपुरूष के स्वरूप की अनुभूति है। ईश्वर या परमपुरूष नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। अविद्या के कारण ही जीव अहंकार और ममकार युक्त होकर स्वयं को शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता, भोक्ता मान बैठता है और जन्म मरण चक्र में संसरण करता रहता है। यही उसका 'बन्धन' है जब आत्मज्ञान द्वारा अविद्या निवृत्ति हो जाती है तो जीव नित्य, शुद्ध, ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी बन्धन से मुक्ति है। किन्तु वास्तव में जीव का न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष होता है। केवल अविद्या ही आती और जाती है। इसलिये बन्धन और मोक्ष परमार्थतः मिथ्या है। केवल व्यवहारिक सत्यता है। परमात्मा पूर्ण आत्मसर्म्पण चाहता है। और उसके बदले में हमें आत्मा की वह शक्ति प्रदान करता है जो प्रत्येक स्थिति को बदल देती है-

सर्व धर्मानः परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहमं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।(गीता 18/66)

अर्थात् सब व्यक्तियों को छोडकर तुम केवल मेरी शरण में आ जा, तू दुःखी मत हो मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा इस प्रकार सर्वज्ञ, समदर्शी क्षेत्रज्ञ ही इन्द्रियों को देखता है जैसे- सूर्य रश्मि द्वारा हमको स्पर्श करता है, इन्द्रिय शक्ति भी उसी प्रकार विषयों को स्पर्श करती है। मन के द्वारा इन्द्रियां रश्मियां सम्यक नियमित होने पर दीप में जैसे ज्वाला प्रकाशित होती है आत्मा भी उसी प्रकार देह घट में प्रकाशित होता है। पाप कर्म का क्षय होने पर जीव को ज्ञान उत्पन्न होता है-

यथादर्शतल प्रख्ये पश्यत्यात्मान मात्मनि।
इन्द्रियाणिन्द्रियार्थाश्च महाभूतादि पञ्च च।।
मनो बुद्धिमहंकामव्यक्तं पुरूषं तथा।
प्रसंख्यान परावाप्तौ विमुक्तो बन्धनैर्भवेत् ।।

अर्थात् जैसे दर्पण में अपने रूप का दर्शन किया जाता है उसी प्रकार जीव निर्मल बुद्धि में इन्द्रियां, इन्द्रियों के विषय, पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार प्रकृति तथा पुरूष को भी देखता है। तब प्रसंख्यानम या विवेक ज्ञान द्वारा देहन्द्रियादि से आत्मा का पार्थक्य निश्चय कर देह आदि बन्धन से विमूक्त होकर परमार्थ को प्राप्त होता है।

जीव को जब यह ज्ञान हो जाता है कि मैं परमज्योति स्वरूप ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की उपलब्धि प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। चतुर्विंश तत्व से पृथक होकर पंचविंश रूप में जो प्रसिद्ध पुरूष है वह विवेक विचार द्वारा प्रकृति से पृथक होकर केवल लाभ प्राप्त करता है। और षडविंश तत्व स्वरूप जो ब्रह्म है उसका साक्षात्कार करता है। गीता में वर्णित विश्वरूप दर्शन का एक मात्र लक्ष्य ईश्वर साक्षात्कार ही है। चाहे कर्मयोगी हो या ज्ञानयोगी अथवा भक्तियोगी सभी उस परश्रद्धेय की दृष्टि में एक हैं और मोक्ष प्राप्ति के योग हैं इस प्रकार भगवान ने यमं, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, और समाधि से अष्टांग योग विमूक्त के उपाय कहे गये हैं।

अभ्यास प्रश्न 2

बहुविकल्पीय प्रश्न

सही विकल्प पर निशान लगायें-

प्रश्न 1- ''पंचम वेद'' किस को कहा गया है-

(अ) ऋग्वेद (ब) सामवेद
(स) गीता (द) उनिषद्

प्रश्न 2- आसुरी सम्पदा युक्त मनुष्य को कौन सी गति प्राप्त होती है-

(अ) परमगति (ब) अधोगति
(स) कल्याणगति (द) शुभगति

प्रश्न 3- 'जीव' किसका अंश कहा गया है-

(अ) ईश्वर का (ब) जगत का
(स) माया का (द) ब्रह्म का

प्रश्न 4- आत्मा की विशेषता क्या नहीं है-

(अ) अव्यय (ब) सत्
(स) अविनाशी (द) व्यक्त

प्रश्न 5- अन्तःकरण की वृत्ति कौन नहीं है-

(अ) मन-बुद्धि (ब) अहंकार

(स) चित्त (द) भ्रम

प्रश्न 6- त्रिविध कर्मों की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आता है-

(अ) प्रारब्ध (ब) क्रियमाण

(स) शुभ-अशुभ (द) संचित

प्रश्न 7- नरक का द्वार कौन नहीं है-

(अ) मूढ़ (ब) काम

(स) लोभ (द) क्रोध

प्रश्न 8 - ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवों ब्रह्मैवनाऽपरः'' किसका सिद्धान्त है-

(अ) आचार्य रामानुज (ब) आचार्य शंकर

(स) वल्लभाचार्य (द) निम्बाकाचार्य

प्रश्न 9 - 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' किस अध्याय में वर्णित है-

(अ) प्रथम (ब) द्वितीय

(स) पंचम (द) तृतीय

प्रश्न 10 -अभ्यास और वैराग्य के द्वारा किसको वश में किया जा सकता है-

(अ) चंचलमन को (ब) बुद्धि को

(स) अहंकार (द) इन्द्रियों को

प्रश्न 11 -श्रद्धा कितनी प्रकार की होती है-

(अ) दो (ब) तीन

(स) पांच (द) चार

प्रश्न 12- 'कर्मयोग' को गीता का मुख्य दर्शन मानने वाले है-

(अ) शंकर (ब) रामानुज

(स) बाल गंगाधर तिलक (द) गांधी

प्रश्न 13- 'भक्तियोग' ही गीता का प्रमुख उपदेश है ऐसा कौन मानता है-

(अ) आचार्य शंकर (ब) रामानुज

(स) तिलक (द) विनोवाभावे

प्रश्न 14- 'निष्काम कर्म' से क्या तात्पर्य है-

(अ) आसक्त कर्म (ब) इच्छारहित कर्म

(स) कर्म फल त्याग (द) अकर्म

प्रश्न 15- 'अनीश्वरवादी दर्शन्' किसे कहा गया है-

(अ) सांख्य (ब) वेदान्त

(स) गीता (द) उपनिषद्

प्रश्न 16- स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्ष्य क्या होता है-

(अ) ईश्वर साक्षात्कार (ब) फलप्राप्ति

(स) ज्ञानप्राप्ति (द) कर्म प्राप्ति

प्रश्न 17- ज्ञानयोगी का मुख्य उद्देश्य क्या प्राप्त करना होता है-

(अ) मोक्ष (ब) कर्म फल

(स) विषयज्ञान (द) इन्द्रियज्ञान

प्रश्न 18- शरीर को 'क्षेत्र' कहा गया है तो आत्मा को क्या कहा गया है-

(अ) क्षेत्रज्ञ (ब) परमपुरूष

(स) परमात्मा (द) जीव

प्रश्न 19- ''ज्ञानात् ऋते न मुक्ति'' किसमें कहा गया है-

(अ) महाभारत (ब) गीता

(स) उपनिषद् (द) वेदान्त

प्रश्न 20- गीता में ज्ञानयोगी को क्या कहा गया है-

(अ) स्थितप्रज्ञ (ब) परमेश्वर

(स) जीवात्मा (द) क्षेत्रज्ञ

1.5 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान गये होगें कि गीता एक विश्व दर्शन है गीता का महत्व वेदों से भी अधिक है इसलिये गीता को 'पंचम वेद' भी कहते हैं। गीता के वचनों को श्रुति के समान प्रामाणित मानतें है। 'सत्यमेव जयते' का आशावादी संचार भक्तों में प्रस्तुत किया है। सत्य के साक्ष्य के रूप में गीता का प्रयोग वर्तमान में भी न्यायालय आदि में किया जाता है। जैसे- गीता पर हाथ रखकर जो कहूँगा/कहूँगी सत्य कहूँगा/कहूँगी हर तरह के लोगों के लिए अनेक प्रकार की नैतिक उपदेश गीता में प्राप्त होतें हैं। इस ग्रन्थ के अध्ययन से परम शान्ति एवं दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। इसके उपदेश को यदि मानव मात्र अपने आचरण में उतार ले और उसके अनुसार अपना जीवन यापन करे तो कहीं असन्तोष और दुःख नहीं रह जायेगा। भगवद्गीता का दार्शनिक विचार आज भी पूरे भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में प्रासंगिक है। क्योंकि यह कथा सागर है, इस पर शोध होते रहें है और आगे भी होते रहेंगे जितना अध्ययन करेंगें उतनी ही नवीनता भरे अर्थ दृष्टिगोचर होते है। भगवान अर्जुन को बार-बार यही समझाते हैं कि मृत्यु से भय करना सर्वथा अनुचित है यह उसका अज्ञान है। जो मृत्यु को सत्य मानता है भगवान श्री कृष्ण के उपदेशों के परिणाम स्वरूप अर्जुन का मोह नष्ट हो जाता है। और वह अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर हो जाते है। इस पर अर्जुन स्वयं कहते है कि- नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युता। (गीता 18/37)। इस प्रकार गीता में श्री कृष्ण अर्जुन संवाद को लक्ष करके मानव मात्र को सन्देश दिया गया है। अधर्म का नाश करो, और अपने कर्तव्य का पालन करों। इस प्रकार हम देखतें है कि गीता के मूलगत दर्शन के पीछे विद्वानो में मतभेद है। आचार्य शंकर ने जहां गीता का मुख्य उपदेश 'ज्ञानयोग' माना है और वह गीता के भाष्य में लिखतें है- ''केवलाद तत्वज्ञानादपि मोक्षप्राप्तिः न कर्म समन्वयात्'' इसके विपरीत रामानुज ने 'भक्तियोग' को गीता का मुख्य उपदेश स्वीकार किया है वहीं बाल गंगाधर तिलक ने अपने ग्रन्थ 'गीतारहस्य' में गीता का मुख्य उपदेश-'कर्मयोग' को प्रतिपादित किया है। महात्मा गांधी भी गीता का मुख्य उपदेश 'भक्तियोग' को स्वीकार करते है। लेकिन कर्मयोग के समन्वय को भी स्वीकार करते है। गीता का मूल सिद्धान्त न तो कर्म को त्याज्य करने की शिक्षा देता है और न ही कर्म फलासक्ति की इस प्रकार गीता कर्म त्याग का उपदेश न देकर कर्म फल त्याग का उपदेश देती है। इस प्रका मनुष्य को अपनी कर्तव्य का पालन चाहे वह उत्तम हो या अधम अवश्य करना चाहिये- क्योंकि गीता में कहा गया है- ''स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मों भयावहः (गीता 3/35) गीता दर्शन में धार्मिक

अन्धविश्वासों का पूरी तरह से खण्डन किया गया है। इसमें मानव जीवन की नित्य प्रति के आचार-विचार, जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, आत्माओं का परस्पर संबंध, आत्मा के अनश्वरता आदि मनो वैज्ञानिक विषयों का विशद विवेचन किया है गीता की सार्वभौमिकता का एक प्रामाणिक स्वरूप यही है कि गीता दर्शन के अध्ययन और अभ्यास के लिए सभी प्रमुख देशों में अथक प्रयत्न किया गया है। डा0 रिचर्ड गार्वे, वर्टेण्ड रसेल, लाइवनित्स, डेकार्ट आदि ने गीता को एक उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ स्वीकार किया है विश्व की प्रत्येक मानव की सम्पूर्ण समस्याओं का सूक्ष्म तथा युक्ति युक्त विवेचन जैसा गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र किसी दार्शनिक ग्रन्थ में दुर्लभ है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

1-स्थित प्रज्ञ- जिसकी प्रज्ञा (बुद्धि) आत्मा या ईश्वर में स्थित है वही 'स्थित प्रज्ञ' है। 'स्थित प्रज्ञ' की स्थिति प्राप्त होने पर ही क्रमशः ईश्वर के दर्शन् होते है।

2-ब्राह्मी स्थिति- इस पद से तात्पर्य है- ब्रह्मज्ञान में अवस्थान, समाधि में आत्मा से अभिन्न ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति। समाधि भी दो प्रकार की होती है- 1- सविकल्पक, 2- निर्विकल्पक सविकल्पक से ऊपर की सीढ़ी निर्विकल्पक है क्यों कि इसमें कुछ भी विकल्प शेष नहीं रहता है। इसमें ही आत्मा को ब्रह्मज्ञान की अपरोक्षानुभूति होती है। इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के बाद ही 'मोक्ष' या कैवल्य प्राप्त होता है।

3-शुभ और अशुभ कर्मों की त्रिविध स्थिति- जो शुभ कर्म (पुण्य कर्म) करता है उसका शुभ फल और जो बुरे कर्म करते हैं उनकों अशुभ फल मिलता है- त्रिविध स्थितियों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है-

1- प्रारब्ध- जिसका भोग चल रहा है।

2- क्रियमाण- जो भोग काल में किया जा रहा है।

3- संचित- जो अभी फल देनें में प्रवृत्त नहीं हुआ है। प्रत्येक जीव को इन तीन कर्मों का क्षय भोग करके ही करना पड़ता है।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न ;1 की उत्तरमाला

प्रश्न 1- (ब)	प्रश्न 2- (द)	प्रश्न 3- (अ)	प्रश्न 4- (स)	प्रश्न 5- (स)
प्रश्न 6- (अ)	प्रश्न 7- (अ)	प्रश्न 8- (अ)	प्रश्न 9- (अ)	प्रश्न 10- (द)
प्रश्न 11- (अ)	प्रश्न 12- (स)	प्रश्न 13- (अ)	प्रश्न 14- (ब)	प्रश्न 15- (ब)
प्रश्न 16- (अ)	प्रश्न 17- (अ)	प्रश्न 18- (ब)	प्रश्न 19- (अ)	प्रश्न 20- (ब)
प्रश्न 21- (अ)	प्रश्न 22- (ब)			

अभ्यास प्रश्न 2 की उत्तरमाला

प्रश्न 1- (स)	प्रश्न 2- (ब)	प्रश्न 3- (अ)	प्रश्न 4- (द)	प्रश्न 5- (द)
प्रश्न 6- (स)	प्रश्न 7- (अ)	प्रश्न 8- (ब)	प्रश्न 9- (ब)	प्रश्न 10- (अ)
प्रश्न 11- (ब)	प्रश्न 12- (स)	प्रश्न 13- (ब)	प्रश्न 14- (स)	प्रश्न 15- (अ)
प्रश्न 16- (अ)	प्रश्न 17- (अ)	प्रश्न 18- (अ)	प्रश्न 19- (स)	प्रश्न 20- (अ)

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गीतातत्व चिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन-अद्वैत आश्रम, 5 डिही एण्टाली रोड-कलकत्ता
2. भगवद्गीता - चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
3. श्री मद्भगवद् गीता - योगीराज श्री श्यामाचरणलोहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्र नाथ सान्याल।
4. श्री मदभगवद् गीता - साधक संजीवनी - स्वामी राम सुख दास।
5. 'गीता - स्वामी अड़गड़ानन्द।
6. श्री मदभगवद् गीता ' यथारूप - श्री श्रीमद ए0सी0 भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुवाद।
7. श्री मदभगवद् गीता त्रयी - भगवान श्री कृष्णचन्द्र वासुदेव।
8. श्री मदभगवद् गीता - तत्त्विवेचनी हिन्दीटीका - जयदयाल गोयन्दका गीता प्रेस गोरखपुर।
9. श्री मदभगवद् गीता - स्वामी अपूर्वानन्द - रामकृष्ण मठ- नागपुर।
10 . युगगीता - डॉ प्रणव पाण्डया
11. गीता रहस्य - लोक0 बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस पूना।

1.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. श्रीमद भगवद्गीता - तत्त्वविवेचनी (हिन्दी टीका) जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर।
2. गीता तत्त्वचिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन - अद्वैतआश्रम- कल।
3. श्रीमदभगवद्गीता - योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्रनाथ सान्याल।
4. गीता रहस्य - लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस, पूना।
5. भगवद्गीता- डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्- हिन्द पाकेट बुकस
6. गीता दर्पण- स्वामी रामसुखदास- गीता प्रेस।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1गीता का रचनाकाल निर्धारित कीजिये ?
प्रश्न-2 त्रिविध मार्ग क्या है, संक्षिप्त परिचय देते हुये इसमें समन्वय का प्रतिपादन कीजिये ?
प्रश्न-3 गीता का कौन सा एक अध्याय आपको सर्वाधिक रूचिकर लगा, उसका सारांश लिखिये?
प्रश्न-4 निष्काम कर्मयोग से क्या समझते है, इसका विस्तृत वर्णन कीजिये ?
प्रश्न-5 दैवासुर -सम्पदा से आप क्या समझते हैं - वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता क्या है?

इकाई -2 द्वितीय अध्याय श्लोक संख्या 1 से 24 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या

इकाई की रूपरेखा
2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 श्लोक संख्या 1 से 24 तक मूल पाठ, अन्वय, अर्थ एवं व्याख्या
2.4 सारांश
2.5 शब्दावली
2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.7 उपयोगी पुस्तकें
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने गीता के महत्व को जाना कि गीता मनुष्य को जीवन का सही अर्थ समझाती है। गीता हमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का पाठ पढाती है।

गीता के प्रथम अध्याय में यह तथ्य प्रस्तुत होता है कि जो अर्जुन कुरूक्षेत्र के मैदान में अपने ताऊ (धृतराष्ट्र) के पुत्रों (कौरवों) से उनकी अनीति के कारण न्याय पाने की इच्छा से बड़े ही उत्साह से युद्ध करने गया था वहां अपने ही परिवारीजनों, गुरूजनों व इष्ट मित्रों को दूसरी ओर युद्ध के मैदान में देखता है तो मोहवश नाना प्रकार के नीतियुक्त तर्क देकर अपने सारथी भगवान श्रीकृष्ण से युद्ध न करने की बात कहता है और हताश होकर रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है। अपने कर्तव्य से विमुख होने वाले लोगों को अर्जुन के माध्यम से तब योगेश्वर श्री कृष्ण ने गीता के माध्यम से जो तत्व ज्ञान व कर्तव्यबोध कराया था उसका शुभारम्भ गीता के द्वितीय अध्याय से होता है। प्रस्तुत इकाई में आप द्वितीय अध्याय सांख्ययोग के 1 से 24 तक के श्लोकों का अध्ययन करेगें।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप द्वितीय अध्याय के एक से चौबीस तक के श्लोकों का अन्वय सहित शब्दार्थ व भावार्थ तथा श्लोक का तात्पर्य भी समझा पायेंगे !

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- ❖ मोहग्रस्त अर्जुन की दशा का वर्णन कर सकेंगे।
- ❖ भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्या उपदेश दिया यह बता सकेंगे !
- ❖ क्षत्रिय का धर्म है युद्ध करना स्वधर्म रक्षा की व्याख्या कर सकेंगे।
- ❖ भगवान कृष्ण जैसे महान गुरू अर्जुन को सारथी के रूप में सहयोग के लिए समर्पित थे यह बता सकेंगे।
- ❖ आत्मतत्व का विश्लेषण कर सकेगे।

2.3 श्लोक संख्या 1 से 24 तक मूल पाठ,अन्वय, अर्थ एवं व्याख्या

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।। 1 ।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- तथा=उस प्रकार, कृपया= मोहयुक्त कायरता से, आविष्टम् =वशीभूत, अश्रुपूर्ण =आंसूभरे, आकुल= व्याकुल, ईक्षणम्= आंखों वाले, विषीदन्तम्=विषादयुक्त, तं= उस अर्जुन से, मधुसूदनः=मधुनामक दैत्य का वध करने वाले भगवान कृष्ण, इदम=यह, वाक्यम् =वाक्य, उवाच=बोले।

अनुवाद व भावार्थ - संजय बोले- तब उस प्रकार मोह से ग्रसित, कायरता के वशीभूत हुए तथा अश्रुभरे नेत्रों वाले विषादयुक्त व युद्ध से विरत उस अर्जुन से भगवान मधुसूदन ने यह वचन बोले।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। 2।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अर्जुन, विषमे= प्रतिकूल समय में, त्वा=तेरे को, कश्मलम्= मलिन करने वाला, इदम्=यह, अनार्य+जुष्टम् =अविवेकी, अस्वर्ग्यम् =स्वर्ग प्राप्ति में बाधक, अकीर्तिकरम्=अपयशकारक विचार कुतः=कहां से, सम+उपस्थितम्= उत्पन्न हो गया।

अनुवाद व भावार्थ - श्रीभगवान बोले- हे अर्जुन! इस समय जबकि अपने कर्तव्य पालन हेतु तुम युद्ध के मैदान में युद्ध करने पहुंचे हो और इस समय तुम्हें बड़े उत्साह के साथ युद्ध में तत्पर होना चाहिए था तुम्हारे मन में यह युद्ध से विरत होने की कायरतापूर्ण मलिनता अनुचित समय पर कहां से आ गई? तेरे जैसे श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर पुरूष के लिए ऐसा कायरतापूर्ण आचरण करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि न तो यह मृत्यु के बाद स्वर्ग प्रदान करने वाला ही है और नहीं तुम्हें यश ही दिलाने वाला है।

तात्पर्य - क्षत्रिय का धर्म है युद्ध करना, यदि युद्ध में जय होती है तो उसे यश मिलता है, राज्य भोग का सुख मिलता है और युद्ध में मृत्यु हो जाती है तो वह मृत्यु स्वर्ग प्रदान करने वाली होती है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।। 3।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- परन्तप = बड़ी से बड़ी कठिनाई को सहन करने की क्षमता वाले, पार्थ = अर्जुन, त्वयि =तुझमें, एतत्=यह, क्लैब्यं = कायरता, उपपद्यते=उत्पन्न हुई है, स्म = तुम, (उसे) मा= नहीं, गमः =प्राप्त होओ, क्षुद्रं=तुच्छ, हृदयदौर्बल्यं=हृदय की दुर्वलता को, त्यक्त्वा =त्याग कर, उत्तिष्ठ = उठो।

अनुवाद व भावार्थ - बड़ी से बड़ी कठिनाई को भी सहन करने की क्षमता वाले हे परन्तप अर्जुन! इस समय जो यह अनुचित समय पर तुममें कायरता का दोष उत्पन्न हुआ है, हृदय को दुर्बल करने वाली इस क्षुद्र कायरता को त्याग कर तुम उठो और युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ।

तात्पर्य- इस श्लोक में भगवान कृष्ण अर्जुन को एक ओर उसकी शूरवीरता व सहनशीलता की याद दिलाते हैं और दूसरी ओर उसे क्षुद्र, कायर, दुर्बलहृदय, आदि कह कर उसको झकझोरते हैं व उसके क्षत्रीय धर्म का कर्त्तव्य, बोध कराते हुए उसका दैहिक व पारिवारिक मोहभंग करने का प्रयास करते हैं।

अर्जुन उवाच
कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।4।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अरिसूदन मधुसूदन= शत्रुओं का दमन करने वाले मधूसूदन, अहम्=मैं, सङ्ख्ये= युद्धक्षेत्र में, पूजार्हाव,= दोनों पूजनीय, भीष्मम्=भीष्म पितामह पर, च = और, द्रोणं= द्रोणचार्य पर, कथम्=कैसे, इषुभिः= बाणों का, प्रतियोत्स्यामि =प्रयोग कर सकूंगा?

अनुवाद व भावार्थ- अर्जुन बोले- हे शत्रुओं का दमन करने वाले मधुसूदन। मैं इस युद्धके मैदान में, भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य जैसे दोनों हमारे अति पूजनीयों पर किस प्रकार अपने बाणों से आघात कर पाउंगा।

तात्पर्य- अपने पारिवारिक मोह व ममत्वय के कारण अर्जुन ने युद्ध करने के लिए स्वाभाविक ही जो अपनी असमर्थता दिखाई वह व्यवहारिक व धर्मानुकूल प्रतीत होती है लेकिन क्षत्रीय के लिए अन्याय के प्रति युद्ध करना ही उसका सर्वोच्च धर्म हुआ करता है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तुगुरूनिहैव भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।। 5।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- इह लोके = इस संसार में, महानुभावान् =महाअनुभवी , गुरून् = गुरूओं को, हत्वा =मार कर, रुधिरप्रदिग्धान्= खून से सने हुए, अर्थकामान् =धनसंपदा और इच्छाओं की पूर्ति करने वाले, भोगान्= भोगों को, भुंजीय = भोगने से, तु = तो, भैक्ष्यम्=भिक्षा वृत्ति से, भोक्तुं= जीवनयापन करना, श्रेयः =अच्छा है।

अनुवाद व भावार्थ - युद्ध न करने का औचित्य् समझाते हुए अर्जुन कहते हैं कि इस संसार में मेरे लिए अपने इन महान अनुभवी गुरुजनों की हत्या कर उससे प्राप्त होने वाली खून से रंगी हुई धन संपदा से अपनी सुखभोग की कामनाओं की पूर्ति करने से तो भिक्षा के अन्न से जीवनयापन करना अधिक कल्याणकारी होगा।

तात्पर्य- अपने पारिवारिक मोह व ममत्व के कारण व अपने पूज्यजनों व गुरूजनों की हत्या करने के बजाय भिक्षा के अन्न से जीवन यापन करने का जो तर्क दिया वह व्यवहारिक व धर्मानुकूल प्रतीत होता है लेकिन क्षत्रीय के लिए अन्याय के विरूद्ध युद्ध करना ही उसका सर्वोच्च धर्म हुआ करता है चाहे वह युद्ध अपने ही स्वजनों के साथ ही क्यों न करना पड़े।

न चैतद्विद्यः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।। 6।।

अन्वय सहित शब्दार्थ - न = नहीं , च= और, एतद= यह, विद्मः= जानते हैं, कतरत् =क्या(अनिश्चय) , गरीयो=श्रेष्ठ यत्=कि, नो=हम, जयेम=विजयी होंगे वा=या, न जयेयुः= नहीं विजयी होंगे। यान=जिन्हें, हत्वा्=मार कर, न=नहीं, जिजीविषामः=जीवित रहना चाहते हैं, ते=वे धार्तराष्ट्राः=कौरव, प्रमुखे=सम्मुख, अवस्थिताः=उपस्थित हैं।

अनुवाद व भावार्थ - जिनकी हत्या करके हम जीना नहीं चाहते, ऐसे जो हमारे ही आत्मीयजन हैं, वे धृतराष्ट्र के पुत्र व उनके पक्षधर कौरव, युद्ध के लिए हमारे सम्मुख आ खड़े हुए हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में समझ में नहीं आता कि हमारे लिए युद्ध करना उचित भी है या नहीं जबकि हमें यह भी पता नहीं कि हम इस युद्ध में जीतेंगे भी या नहीं।

तात्पर्य- प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अर्जुन की तरह इस प्रकार की ऊहापोह की विषम परिस्थिति यदा कदा आ ही जाती है जब व्यक्ति किंकर्त्तव्यंमूढ़ हो जाता है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 7।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- कार्पण्यदोषः = पारिवारिक मोह के कारण उत्पन्न कायरतादोष से, अपहत= हतोत्साहित, स्वभावः=मनस्थिति वाला, धर्मसम्मूढचेताः=धर्म के संबन्ध में विमूढ चित्त वाला, त्वां =तुमसे, पृच्छामि=पूछता हूं, यत्=जो, श्रेयः=श्रेयस्कर, स्यात्= होवे, तं=उस, निश्चितम्= उचित, तत्=वह, मे=मुझे, ब्रूहि=बताओ, अहम्=मैं, ते=आपका, शिष्यः =शिष्य हूं, त्वां =तुम्हारी, प्रपन्नम् =शरणागत हूं मां=मुझे, शाधि = सहारा दो।

अनुवाद व भावार्थ - वर्तमान परिस्थिति में पारिवारिक मोह के कारण उत्पन्न, कायरतादोषसे हतोत्साहित स्वभाव वाला, क्या धर्म है क्या अधर्म है - इस विषय में विमूढ़ चित्त वाला मैं, एक शिष्य, के रूप में आपकी शरणागत होकर आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए इस समय क्या, श्रेयस्कर है आप कृपया निश्चय करके वही मुझे बतायें तथा अपना शिष्य समझकर मुझे अपना सहारा दें।

तात्पर्य- विषम परिस्थिति में जबकि जीने मरने का प्रश्न उपस्थित हुआ हो तब व्यक्ति को जो भी उसे सबल सहारा दिखता है उससे सहायता की भिक्षा मांगता ही है। भगवान कृष्ण जैसे महान गुरू अर्जुन को सारथी के रूप में सहयोग के लिए समर्पित थे, उस समय उनसे बड़ा मार्गदर्शक गुरू और कौन हो सकता था? इसलिए अर्जुन उन्हे ही अपना गुरू मानकर उनके शरणागत होता है और उनका शिष्य बन कर उनसे उचित मार्गदर्शन हेतु प्रार्थना करता है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं- राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम ।8।

अन्वय सहित शब्दार्थ- न= नही, प्रपश्यामि= देख रहा हूं, मम= मेरे , अपनुद्याद्= प्राप्त हो जाने से, यत्=कि, शोकम्=शोक को, उच्छोषणम्= दूर करने वाला, इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों का, अवाप्य= न प्राप्त करके, भूमावसपत्नामृद्धं =भूमि व अन्य राज्य संपदा से समृद्ध, राज्यं=साम्राज्य को, सुराणाम् =देवताओं का, अपि =भी, च= और, अधिपत्यम्=शासन।

अनुवाद व भावार्थ - इस युद्ध में विजयी होने के बाद भले ही हमें न सिर्फ इस समस्त पृथ्वी का धन धान्य संपन्न राज्य ही बल्कि स्वर्ग में देवताओं पर भी शासन करने की शक्ति क्यों न मिल जाय, तो भी मुझे इस युद्ध के भयंकर परिणामस्वरूप आत्मीयजनों के विछोह से उत्पन्न सभी इन्द्रियों को संतप्त करने वाला जो असह्य शोक प्राप्त होने जा रहा है, उससे उबरने का कोई उपाय दिखने में नहीं आ रहा है।

तात्पर्य - सात्विक वृत्ति के सज्जन लोग अपने स्वजनों के हित व खुशी के लिए बड़ा सा बड़ा त्याग करने के लिए तैयार होते हैं चाहे उन्हें कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़ रहा हो। इसी सज्जनता के कारण अर्जुन अपने स्वजनों के साथ युद्ध नही करना चाहता है ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इतिगोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव । 9।

अन्वय सहित शब्दार्थ- परन्तप = महातपस्वी (धृतराष्ट्र), हृषीकेशं=भगवान कृष्ण से, एवम् = इस प्रकार, उवाच =कहकर, गुडाकेशः=निद्राजयीअर्जुन, न=नहीं, योत्स्य=युद्ध करूंगा, गोविन्दम् =गोविन्द से, इति=यह, उक्त्वा= कहकर, तूष्णीम् = चुप, बभूव= हो गया।

अनुवाद व भावार्थ -संजय धृतराष्ट से बोले- हे परंतप ! हृषीकेश कृष्ण से निद्राजयी अर्जुन यह (पूर्व श्लोक में कही गयी बात) कह कर मैं युद्ध नहीं करूँगा पुनः गोविन्द से यह कह कर चुप हो गया ।

तात्पर्य- विषादयुक्त व्यक्ति जो सात्विक हो और विद्वान भी, विषाद के समय अपनी जिद व अपनी समझ को ही उचित समझा करता है। ऐसे व्यक्ति को समझाना बड़ा कठिन हुआ करता है।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ।10।

अन्वय सहित शब्दार्थ- भारत=धृतराष्ट्रम, सेनयोरुभयोर्मध्ये=दोनों सेनाओं के बीच, तम =उस, विषीदंतम् =विषाद से भरे अर्जुन से, हृषीकेशः = भगवान कृष्ण , प्रहसन्निव = प्रहसन करते हुए (उसकी इन बातों को सुनकर हंसते हुए), इदम्= इस प्रकार, उवाच=बोले।

अनुवाद व भावार्थ - हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के बीच में इस प्रकार शोकसंतप्त हुए उस अर्जुन से, भगवान श्रीकृष्ण, हंसते हुए, मानो उसकी इस प्रकार की बातों की हंसी उड़ाते हुए, यह वचन बोले।

तात्पर्य - अर्जुन जैसा महान योद्धा व विद्वान व्यक्ति जो बड़े ही उत्साह से भरा हुआ युद्ध के लिए पूरी तैयारी करके युद्ध के मैदान में पहुंचा था और पहले से भलीभांति जानता भी था कि उसे अपने ही आत्मीयजनों व गुरूजनों से युद्ध लड़ना है और युद्ध करना एक क्षत्रीय का धर्म है, यह सब जानते हुए भी, अब मोहवश युद्ध न करने की बात कह रहा है जो हास्यास्पद है। इसलिए भगवान कृष्ण को अर्जुन पर स्वाभाविक हंसी आ गई।

(सांख्ययोग का विषय)

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।11।

अन्वय सहित शब्दार्थ- त्वम् = तुम, अशोच्यान= जिनके लिए शोक नहीं करना है, अन्वशोच =शोक करते हो, च=और, प्रज्ञावादांन = प्रज्ञावानों की तरह, भाषसे =बातें कर रहे हो, गतासून= जो मर चुके हैं, च=और अगतासून=जो अभी जीवित हैं, पण्डिताः =पण्डित लोग न=नहीं, अनुशोचन्ति = शोक करते हैं।

अनुवाद व भावार्थ - श्री भगवान बोले, हे अर्जुन! तू बात तो विद्वानों की तरह कर रहा है लेकिन जिनके लिए शोक नहीं किया जाता ऐसे मनुष्यों के लिए शोक कर रहा है। पण्डितजन, न तो उन लोगों के लिए शोक करते हैं जो इस संसार से विदा हो चुके हैं और नही उनके लिए शोक करते हैं जो जीवित हैं और आगे चलकर मृत्युं को प्राप्त हो जायेंगे।

तात्पर्य- विद्वान व्यक्ति वह है जो यह भली भांति समझता है कि यह समस्त संसार एक सपने की तरह अस्थाई है, यहां हर प्राणी को, चाहे वह अपना हो या पराया, पूज्य हो या सामान्य, एक न एक दिन मरना ही है चाहे उसका कारण कुछ भी क्यों न हो। ऐसा समझने वाला व्यक्ति कभी भी अपने व पराये जो भी हों उनकी मृत्यु पर शोक संताप नहीं किया करते।

अभ्यास प्रश्न 1

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर अति संक्षेप में दीजिए -

1- युद्ध करना किसका धर्म है ?

2- युद्धक्षेत्र में अर्जुन के सारथि कौन थे ?

3- अर्जुन किसके साथ युद्ध नही करना चाहता था ?

4- संजय युद्ध का वर्णन किसको सुना रहे थे ?

5- विद्वान व्यक्ति किस विषय पर शोक नहीं करते ?

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।12।

अन्वय सहित शब्दार्थ- न=नहीं, तु=तो, अहम्= मैं, न=नहीं, त्वं = तुम, न=नहीं, एव=ही, इमे=ये, जनाधिपाः = लोकनायक, नासं=नास को प्राप्त जातु= हुए, च=और, न=नहीं एव=ही, वयम सर्वे= हम सभी, अतः=अब, परम=मृत्यु के बाद, न=नही, भविष्यामः = होवेंगे

अनुवाद व भावार्थ - भगवान कृष्ण कहते हैं ऐसा नहीं है कि मैं, तुम अथवा ये बड़े बड़े लोकनायक व योद्धालोग, जो युद्ध के लिए सम्मुख उपस्थित हैं, इस जन्मं से पहले कभी नाश को प्राप्त् नहीं हुए थे अथवा अब मृत्यु के बाद आगे हम सब फिर नहीं होवेंगे।

तात्पर्य - सभी प्राणी इस जन्म से पहले भी हुए थे और इस जीवन की मृत्यु के बाद भी फिर से जन्म लेंगे।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।13।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यथा =जैसे, अस्मिन् =इस, देहे=शरीर में, कौमारं=कुमार अवस्था यौवनं=युवावस्था तथा जरा =वृद्धावस्था (एक के बाद एक आती रहती है) तथा=वैसे ही, देहान्तरप्राप्तिः=मृत्यु व मृत्यु के बाद देह की प्राप्ति (होतीहै) तत्र=ऐसा समझने पर, धीर=धैर्यवान या बुद्धिमान व्यक्ति, मुह्यति=मोह को प्राप्त न=नहीं होता।

अनुवाद व भावार्थ - जैसे प्रत्येक देहधारी के शरीर में क्रम से बाल्यकाल, युवावस्था और वृद्धावस्था आती है ऐसे ही इस शरीर की मृत्यु व उसके बाद दूसरे शरीर की प्राप्ति का क्रम भी चलता रहता है। इसलिए इस विषय में बुद्धिमान पुरुष मोहित नहीं होता और अपने कर्त्तव्य कर्म से विरत नहीं होता, अर्थात अज्ञान को प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य - बुद्धिमान व विवेकी पुरूष किसी के जन्म व मृत्यु की घटना को देख कर उनके मोह में सुखी दुखी नहीं हुआ करता क्योंकि प्राणियों का जन्म व उनकी मृत्यु ईश्वर की एक निरंतर चलने वाली लीला है जिसमें सिवाय ईश्वर के किसी और का कोई बस नहीं चलता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।14।

अन्वय सहित शब्दार्थ - कौन्तेय = कुंतीपुत्र अर्जुन, मात्रास्पर्शाः= इन्द्रियों का विषयों से संयोग, तु=तो, शीतोष्णसुखदुःखदाः = जाड़ा, गर्मी, सुखदुख देने वाले होते हैं, नित्या = सदैव, आगमापायिनः= आने जाने वाले हैं, भारत= हे अर्जुन, तान्= उनको तितीक्षस्व= तुम सहन करो।

अनुवाद व भावार्थ - हे कुंतीपुत्र ! इन्द्रियों का विषयों से सदैव होने वाला संयोग तो सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख प्रदान करने वाला होता ही है। (लेकिन यह सब विनाशशील होने के कारण अस्थाई हैं)। इसलिए हे भारत! सभी प्रकार की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों को तू सहन कर।

तात्पर्य - प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां किसी न किसी रूप में समय समय पर आती जाती रहती हैं, उन्हें आने जाने से रोक सकने में कोई भी समर्थ नहीं होता। इसलिए उनसे जूझते हुए, उनके परिणामों को सहन करना ही मनुष्य का एक मात्र कर्त्तव्य है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।15।

अन्वय सहित शब्दार्थ - पुरुषर्षभ= पुरूषश्रेष्ठ , हि =वस्तुतः , यं=जिस, धीरं=धैर्यशाली को , पुरुषं=पुरूष को, एते=यह (अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियां) न=नहीं, व्यथयन्ति=व्यथित करते, सः=वह, समदुःखसुखं= दुख व सुख को समान समझकर उसे, अमृतत्वाय=मोक्षसुख के लिए, कल्पते=समझता है।

अनुवाद सहित भावार्थ - हे पुरुषश्रेष्ठ! जिस धैर्यवान पुरुष को ये इन्द्रियों और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते, वह दुःख-सुख को समान समझता हुआ सदैव मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

तात्पर्य- अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों को पूरा करने में आने वाली कठिनाईयों व सुविधाओं तथा उनसे होने वाले सुख दुख को ईश्वर प्रदत्त् उपहार समझने वाले व्यक्ति को हर पल हर क्षण मोक्षसुख की अनुभूति होती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः 16।।

अन्वय सहित शब्दार्थ - न=नहीं, असतो =नाशवान (जड़ शरीर), भावो=स्थाई, विद्यते = रहता है, न=नहीं, सतः=सत्य, (आत्मा तत्व), अभावो=नाश, विद्यते=विद्यमान रहता है, तत्वदर्शिभिः= तत्वनदशिर्यों द्वारा, अनयोः=इन दोनों (जड़ शरीर व चैतन्य आत्मा) को, अन्ततः =अन्तर्दृष्टि से, ऐसा ही दृष्टः= देखा जाता है।

अनुवाद व भावार्थ - विनाशशील शरीर सदैव नहीं रहता और उसमें रहने वाले अविनाशी आत्मतत्व् का कभी नाश नहीं होता। तत्वज्ञानी पुरुषों द्वारा विनाशशील शरीर व अविनाशी आत्मतत्व दोनों को अपनी अन्तर्दृष्टि से ऐसे ही देखा जाता है।

तात्पर्य- गीता के इस सांख्य योग नामक अध्याय में मुख्य रूप से आत्मा तथा आत्मज्ञानी स्थितप्रज्ञ (समाधिस्थ) व्यक्ति की विशेषतायें बताई गई हैं। सांख्ययोगी जिसे ज्ञानयोगी भी कहा जाता है, आत्मा व शरीर को किस दृष्टि से देखता है इस श्लोक में बताया गया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।17।

अन्वय सहित शब्दार्थ - अविनाशि= स्थाई ईश्वर तत्व, तु=तो, तत्= उसे, विद्धि=जान, येन=जिसके द्वारा, इदम्=यह, सर्वम् =सब कुछ, ततम् = विस्तार (सृष्टि) हुआ है। अस्या =इस, अव्ययस्य =अविनाशी का विनाशम्=नाश, न=नहीं, कश्चित=कुछ भी, कर्तुम्=करने के, अर्हति=योग्य है।

अनुवाद व भावार्थ - जिसमें यह सम्पूर्ण विनाशशील भौतिक जगत स्थित है उस चैतन्य अव्यय ईश्वर तत्व को तू अविनाशी जान। उस अविनाशी तत्व का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। ऐसे ही इस पूरे विनाशशील शरीर में जो अविनाशी आत्मतत्व समाया हुआ है उसका नाश करने की शक्ति किसी में भी नहीं है।

तात्पर्य- इस शरीर में स्थित जो आत्म तत्व है, उसका नाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।18 ।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अनाशिनः=नाशरहित, अप्रमेयस्य=अद्वितीय, नित्यस्य= नित्य (आत्मा) के,शरीरिणः=शरीर,अन्तवन्तव=नाशवान, उक्ताः=कहे गये हैं। इमे=ये, युद्ध के लिए आये,देहा=शरीरधारी, तु=तो, अन्तवन्तम=नाशवानहैं, तस्मात्=इसलिए, भारत=अर्जुन, युध्यस्व,=युद्ध करो।

अनुवाद व भावार्थ - नित्यस्वरूप, अद्वितीय, जीवात्मा द्वारा धारण किए गये सभी शरीर नाशवान कहे जाते हैं। हे भारत ! तेरे युद्ध न करने पर भी यह सभी देहधारी (कौरवपक्ष के योद्धा) एक न एक दिन मृत्यु को अवश्य प्राप्त होंगे ही। इसलिए युद्ध कर ।

तात्पर्य- यहां पर आत्मा की नित्यता व शरीर की अनित्यता पर विशेष बल देते हुए कत्तर्व्य कर्म के प्रति तत्पर होने की प्रेरणा दी गई है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।19।

अन्वय सहित शब्दार्थ- य = जो, एनम्=इस आत्मा को, हन्तारं=हत्या करने वाला, वेत्ति=जानता है, च=और यः=जो, एनम्=इसे, हतम्=मरा हुआ, मन्यते=मानता है , उभौ=दोनों, तौ=तो, न=नहीं, विजानीतः=जानते हैं, न=नहीं, अयं=यह, हन्ति=मारता है, न=नहीं हन्यते=मारा जा सकता है ॥

अनुवाद व भावार्थ- जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही सही नहीं जानते हैं क्योंकि वास्तविकता यह है कि न तो आत्मा को कोई मार सकता है और न आत्मा् मारी ही जा सकती है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।20।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अयम्=यह (आत्मा), न=नही, जायते=जन्म लेता है, न=नहीं, म्रियते=मरता है, वा=या, कदाचित्- कभी भी, न=नहीं, भविता= हुआ, न=नहीं, भूत्वो=जन्म,लेकर, भूयः=हुआ है। अयम्=यह (आत्मा), अजो= अजन्मा है, नित्यः= नित्य है, शाश्वतः= शाश्वत है, पुराणो=सबसे पुराना है, शरीरे=शरीर के, हन्यमाने=मारे जाने पर, न=नहीं, हन्यते=मारा जाता है।

अनुवाद व भावार्थ- यह आत्मा न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है तथा यह न जन्म लेकर फिर उत्पोन्न होने वाला ही है क्योंकि यह आत्मा अजन्मा, नित्य, सनातन और सबसे पुराना है, शरीर के मारे जाने पर भी यह आत्मा मारा नहीं जाता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।21 ।

अन्वय सहित शब्दार्थ- पार्थ=अर्जुन, य=जो, एनम्=इस आत्मा को, अविनाशिनम्=अविनाशी, अजन्मा=अजन्मा, अव्ययम्=अव्यय, नित्य=नित्य , वेद=जानता है, स पुरूष = वह पुरूष, कथं=कैसे, कं =किसको, घातयति=मरवाता है, कम्=किसको, हन्ति= मारता है।

अनुवाद व भावार्थ- हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?

तात्पर्य- जब व्यक्ति आत्मतत्व की यह महिमा जान लेता है कि वह अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय है तब यह भी समझ लेता है कि वह या कोई और न किसी को मार सकता है न मरवा सकता है। केवल शरीर का नाश हो सकता है आत्मा का नहीं और विनाशशील हाने के कारण, शरीर का नाश तो, एक न एक दिन अवश्य होना ही है उसे भी कोई रोक नहीं सकता। इसलिए, जब तक विनाशशील शरीर अस्तित्व में है तब तक उससे अपने कर्त्तव्य कर्मों का यथासमय किया जाना ही धर्म है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा- न्यन्यानि संयाति देही । 22 ।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यथा =जैसे, नरः= मनुष्य, जीर्णानि=फटे पुराने, वासांसि=वस्त्रों को, विहाय=त्याग कर, अपराणि=अन्य=, नवानि = नये वस्त्रों को, गृह्णाति =गृहण करता है, तथा =वैसे ही, देही =देहधारी जीव, जीर्णानि =पुराने, शरीराणि=शरीरों को, विहाय=त्याग कर, अन्यानि=अन्य, नवानि= नये शरीरों को, संयाति=ग्रहण कर लेता है।

अनुवाद व भावार्थ- जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही शरीरधारी जीवात्मा अपने पुराने अथवा जीर्ण शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को ग्रहण करता रहता है।

तात्पर्य- देही का देह धारण करना और उसे त्यागना एक निरंतर चलने वाली प्रकिया है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः । 23।

अन्वय सहित शब्दार्थ- एनम=आत्मा को, न=नही, शस्त्राणि=शस्त्र, छिन्दन्ति=छेदन कर सकते हैं, न = नही, एनम् = आत्मा को, पावकः=अग्नि जला सकती है, न =नही, एनम्=आत्मा को, आपः=जल, क्लेदयन्ति = गीला कर सकता है, च = और, न = नही, मारुतः = वायु, शोषयति =सुखा सकता है ॥

अनुवाद व भावार्थ- इस आत्मा का शस्त्र छेदन नहीं कर सकते, इसको आग जला नहीं सकती, इसको जल गीला नहीं कर सकता और न वायु ही इसे सुखा सकती है क्योंकि यह आत्मा, इन सबके प्रभाव से अछूता है।

तात्पर्य - आत्मा एक ऐसा विलक्षण तत्व है जिसे तीक्ष्ण शस्त्र , प्रचण्ड अग्नि, तरल जल व वेगवान वायु अपने-अपने प्रचण्ड प्रभावी बल से प्रभावित नहीं कर सकते।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः । 24 ।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अयम=यह आत्मा, अच्छेद्यो = छेदा नहीं जा सकता, अयम=यह आत्मा, अदाह्य = जलाया नहीं जासकता, अक्लेद्यो=गीला नहीं किया जा सकता, च =और, एव =ही, अशोष्य=सुखायी नहीं जा सकती, अयम्= यह आत्मा, नित्यः=हमेशा विद्यमान है, सर्वगतः=सर्वत्रव्याप्त, स्थाणुः= स्थिर है,अचल=चलायमान नही है, सनातनः=अनादि अनंत है

अनुवाद व भावार्थ- इस आत्मा का छेदन नहीं किया जा सकता, इसे जलाया नहीं जा सकता, इसे गीला नहीं किया जा सकता, और इसे सुखाया नहीं जा सकता क्योंकि, यह आत्मा अविनाशी है, सर्वत्रव्याप्त है, स्थिर है, अचल है साथ ही अनादि और अनंत है।

तात्पर्य - गीता के सांख्य योग नामक इस अध्याय के 24वें व 25 वें दो मंत्रों में आत्मा की बारह विशेषतायें बतायी गई हैं। पाठक कृपया अगले मन्त्र के तात्पर्य को पढ़ें।

अभ्यास प्रश्न 2

निम्नलिखित में सत्य असत्य बताइए -

1 - देही का देह धारण करना और उसे त्यागना एक निरंतर चलने वाली प्रकिया है।

2 - आत्मा को शस्त्र से काटा जा सकता है ।

3 - आत्मतत्व अविनाशी है ।

4 - धैर्यवान पुरुष को इन्द्रियों और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते ।

5 - आत्मा को जल से गीला किया जा सकता है ।

2.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपने जाना कि युद्ध क्षेत्र में अपने पूज्यनीय और बन्धु-बान्धवों को देख कर अर्जुन युद्ध करने से मना कर देते हैं वह कहते हैं कि अपने गुरूजनों को मार कर उनके रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूपी भोगो को ही तो भोगूंगा मोहवश नाना प्रकार के नीतियुक्त तर्क देकर अपने सारथी भगवान श्रीकृष्ण से युद्ध न करने की बात कहता है और हताश होकर रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है। अपने कर्तव्य से विमुख अर्जुन को तब योगेश्वर श्री कृष्ण ने गीता के माध्यम से जो तत्व ज्ञान व कर्तव्यबोध कराया था उसका शुभारम्भ गीता के द्वितीय अध्याय से होता है। यह अध्याय सांख्ययोग के नाम से प्रसिद्ध है ।

2.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
आकुल	व्याकुल
ईक्षणम्	आंखों वाले
सनातनः	अनादि, अनंत
मारुतः	वायु
हन्तारं	हत्या करने वाला
सुराणाम्	देवताओं का
देही	देहधारी जीव
शस्त्राणि	शस्त्र

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1- 1- क्षत्रिय का 2- भगवान श्रीकृष्ण 3- सम्बन्धियों के साथ 4- धृतराष्ट्र को 5- मृत्यु पर

अभ्यास प्रश्न 2- 1- सत्य 2- असत्य 3- सत्य 4- सत्य 5- असत्य

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गीतातत्व चिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन-अद्वैत आश्रम, 5 डिही एण्टाली रोड-कलकत्ता
2. भगवद्गीता - चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
3. श्री मद्भगवद् गीता - योगीराज श्री श्यामाचरणलोहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्र नाथ सान्याल।
4. श्री मदभगवद् गीता - साधक संजीवनी - स्वामी राम सुख दास।
5. गीता - स्वामी अड़गड़ानन्द।
6. श्री मदभगवद् गीता ' यथारूप - श्री श्रीमद ए0सी0 भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुवाद।
7. श्री मदभगवद् गीता त्रयी - भगवान श्री कृष्णचन्द्र वासुदेव।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

1. श्रीमद भगवद्गीता - तत्त्वविवेचनी (हिन्दी टीका) जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर।
2. गीता तत्त्वचिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन - अद्वैतआश्रम- कल।
3. श्रीमदभगवद्गीता - योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्रनाथ सान्याल।
4. गीता रहस्य - लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस, पूना।

5. भगवद्गीता- डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्- हिन्द पाकेट बुकस
6. गीता दर्पण- स्वामी रामसुखदास- गीता प्रेस।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1- कर्तव्यविमुख अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण ने क्या उपदेश दिया ?

इकाई - 3 द्वितीय अध्याय श्लोक संख्या 25 से 49 तक

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 श्लोक संख्या 25 से 49 तक मूल पाठ,अन्वय, अर्थ एवं व्याख्या
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 उपयोगी पुस्तकें
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने जाना कि मोहग्रस्त अर्जुन के द्वारा युद्ध करने से मना कर दिये जाने पर तब योगेश्वर श्री कृष्ण ने गीता के माध्यम से जो तत्व ज्ञान व कर्तव्यबोध कराया था उसका शुभारम्भ गीता के द्वितीय अध्याय से होता है।

प्रस्तुत इकाई में आप द्वितीय अध्याय के 25 से 49 तक के श्लोकों का अध्ययन करेगें जिसमें भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि आत्मा अविनाशी है इसलिए उसके किसी शरीर में कुछ समय के लिए आने व चले जाने पर हर्ष या शोक करने की कोई आवश्यकता नही है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह बता पायेगे कि आत्मा क्या है युद्ध करना अर्जुन का धर्म है, अस्तु युद्ध करने से वह किसी प्रकार के पाप का भागी नहीं होगा।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- ❖ आत्मा की बारह विशेषताओं को बता सकेगें,
- ❖ जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है इस शाश्वत सत्य को समझा पायेगें,
- ❖ श्लोको की व्याख्या कर सकेगे,
- ❖ यह बता सकेंगे कि धर्म का पालन न करने से इस लोक में अपयश प्राप्त होता है,

3.3 श्लोक संख्या 25 से 49 तक मूल पाठ,अन्वय, अर्थ एवं व्याख्या

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि। 25।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अयम्=यह आत्मा , अव्यक्त=वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता, अचिन्त्य=बुद्धि से चिंतन नहीं किया जा सकता, अयम्=यह आत्मा अविकार्यः=विकार रहित, उच्यते=कहा जाता है। तस्मात्= इसलिए, एवं=इस प्रकार विदित्वा=जानकर एनम् =इसको, अनुशोचितुम् =शोक करने के योग्य, न=नहीं, अर्हसि=हो।

अनुवाद व भावार्थ- इस आत्मा, को न तो वाणी से व्यक्त किया जा सकता है, न यह आत्मा बुद्धि के चिंतन में आ सकता है, यह पूर्ण रूप से विकार रहित कहा जाता है। इसलिए हे अर्जुन! आत्मा को इस प्रकार अति विशिष्ट जानते हुए तुझे शोकाकुल होने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य- गीता के सांख्य योग नामक इस अध्याय के 24 वें व 25वें दो मंत्रों में आत्मा की बारह विशेषतायें बतायी गई हैं। वे बारह विशेषतायें हैं- 1. अच्छेद्य, 2.अदाह्य, 3.अक्लेद्य, 4.अशोष्य, 5.नित्य, 6.सर्वगत, 7.स्थाणु, 8.अचल, 9.सनातन, 10.अव्यक्त, 11.अचिन्त्य और 12.अविकार्य। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी आत्मा की इन बारहों विशेषताओं को तत्व से समझने के उपरांत तदनुसार संसार में जीते हुए सदव्यवहार करना ही पूरे सांख्य योग का सार प्रतीत होता है। अपनी आत्मा की इन बारह विशिष्टताओं को तत्व से समझने के बाद व्यक्ति का शोकाकुल, शंकाकुल अथवा चिंताकुल होने की संभावना पूर्णरूप से क्षीण हो जाती हैं।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।26।

अन्वय सहित शब्दार्थ- महाबाहो=बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन, च=और, अथ=अब, एनम्=इस आत्मा को, नित्यजातं = हमेशा जन्म लेने वाला, वा=या नित्यं मृतम्=हमेशा मरने वाला,

मन्यसे=मानते हो, तथापि=तो भी, त्वं=तुम, एवम् = इस प्रकार, शोचितुम =शोक करने के, न=नहीं, अर्हसि = योग्य हो।

अनुवाद व भावार्थ- हे महाबाहो ! यदि तुम इस आत्मा को सदा जन्मने वाला तथा सदा मरने वाला भी मानते हो तो भी तुम्हें इस प्रकार विषाद नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य- जब व्यक्ति आत्मा् को जन्म लेने वाला अथवा मरने वाला नहीं मानता तब किसी के शरीरांत होने पर उसे विषाद नहीं होता।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि । 27। ।

अन्वय सहित शब्दार्थ - जातस्य = जन्म लेने वाले की, हि=निश्चय ही, ध्रुवो=अवश्य, मृत्युः=मृत्यु होती है, मृतस्य=जिसकी मृत्यु हो चुकी, जन्म=जन्म होना, च =और, तस्मात् = इसलिए, अपरिहार्य= निश्चित होने से, अर्थे =कारण, न=नहीं, त्वम्=तुम शोचितुम् =शोक करने को, अर्हसि=योग्य हो।

अनुवाद व भावार्थ- जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हो गई उसका जन्म भी निश्चित है। इसलिए जब किसी के जन्मने व मरने को कोई रोक नहीं सकता तो तुझे इस प्रकार युद्ध में किसी के मारे जाने पर शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ।28।

अन्वय सहित शब्दार्थ- भारत =अर्जुन, आदीनि=जन्म् से पहले, भूतानि=प्राणी, अव्यक्त= अदृश्य , व्यक्त = दृष्ट, मध्यानि= मध्य में, निधनानि=मृत्यु के बाद, एव=ही, अव्यक्त=अदृष्ट्, तत्र=तब का=क्या परिवेदना= परेशानी या दुख है।

अनुवाद व भावार्थ- हे अर्जुन! सभी प्राणी जन्म से पहले अदृष्ट होते हैं, और मरने के बाद भी वह अदृष्ट हो जाते हैं, केवल कुछ समय के लिए बीच में ही दृष्ट् रहते हैं, फिर ऐसी स्थिति में किसी के मरने या मारे जाने पर दुःखी होने की क्या बात है?

तात्पर्य- जब यह निश्चित है कि हर जीव जन्म से पहले दिखाई नहीं पड़ता और मृत्यु के बाद भी वह दिखायी नहीं देता केवल बीच में ही कुछ अनिश्चित समय के लिए दिखाई देता है तो उसके जन्मने व मरने पर दुखी होने की क्या आवश्यकता है क्योंकि उसका मृत्यु को प्राप्त होना तो निश्चित ही है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनंमन्यः श्रृणोतिश्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् । 29।

अन्वय सहित शब्दार्थ- कश्चित् =कोई, एनम् = इस आत्मा को, आश्चर्यवत् =आश्चर्य की तरह, पश्यति = देखता है, च = और, अन्य,= अन्यत कोई, एनम्=इस आत्मा के बारे में, आश्चर्यवत् = आश्चर्य की तरह, वदति= बताता है, च =और, अन्य,=अन्यत कोई, एनम्=इस आत्मा् को, आश्चर्यवत्=आश्चर्य की तरह, श्रृणोति=सुनता है, एनम्=इस आत्मा को, श्रुत्वापि =सुनकर, अपि=भी, कश्चित् कोई, न = नही, वेद =

जानता है।

अनुवाद व भावार्थ- यह आत्मतत्व ऐसा विलक्षण है कि इसे कोई तो आश्चर्य की भाँति देखता है, दूसरा कोई व्यक्ति इस आत्मतत्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है, कोई अन्य

व्युक्ति आश्चर्य की भाँति इसके बारे में सुनता है और सुनने के बाद भी कोई इसको ठीक से जान नहीं पाता।

तात्पर्य- आत्म तत्व् को तत्व से समझना साधारण काम नहीं है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।30।

अन्वय सहित शब्दार्थ - भारत=अर्जुन, अयम्=यह, देही=शरीरधारी (आत्मा्), सर्वस्य=सभी के, देहे = शरीरोंमें, नित्यम्=हमेशा रहने वाला, अवध्ये=नहीं मारा जा सकने वाला है, सर्वाणि भूतानि==सभी जीवों की यही स्थिति है, तस्मात्= इसलिए, त्वं=तुम, शोचितुम्=शोक करने के, अर्हसि=योग्य, न= नहीं हो।

अनुवाद व भावार्थ- हे भारत ! सभी प्राणियों के शरीरों में रहने वाली यह आत्मा नित्य (हमेशा जीवित रहने वाली) व अवध्या (अविनाशी) होती है क्योकि सभी प्राणियों का शरीर विनाशशील होता है और उसमें वास करने वाली सभी की आत्मा अविनाशी होती है, इस कारण किसी की मृत्यु होने पर तू शोक करने योग्य नहीं है।

तात्पर्य- आत्मा अविनाशी है इसलिए उसके किसी शरीर में कुछ समय के लिए आने व चले जाने पर हर्ष या शोक करने की कोई आवश्यकता नही है क्योंकि ऐसा होना निश्चित है, उसे रोक सकने की किसी को भी सामर्थ्य नही है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।31।।

अन्वय सहित शब्दार्थ - स्वधर्मम् =अपने धर्म को, अपि=भी, आवेक्ष्य= देख व समझकर, विकम्पितुम्=कम्पा्यमान (चिंतित) होने, न=नहीं, अर्हसि=योग्य हो । च=और, क्षत्रियस्य् =क्षत्रिय के लिए, धर्म्यात् =धर्मपूर्ण, युद्धात्=युद्धसे, श्रेयः=श्रेष्ठ, अन्यत् = और कुछ, न =नही, विद्यते=होता है।

अनुवाद व भावार्थ - हे अर्जुन ! अपने क्षत्रीय धर्म को ध्यान में रखते हुए भी तुझे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त युद्ध करने से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।

तात्पर्य- अन्याय के विरूद्ध युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। अन्या्यी चाहे अपने परिवार व नाते रिश्तेदारी का ही क्यों न हो, न्याय प्राप्त करने के लिए, उससे भी युद्ध करना क्षत्रिय के लिए परम कल्याणकारी धर्म है चाहे उसमें अपनी अथवा उस परिवारीजन की मृत्यु ही क्यों न हो।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्। 32।

अन्वय सहित शब्दार्थ- च=और, पार्थ! ईदृशम्= इस प्रकार का, यदृच्छया=बिना इच्छा किए स्वतः, उपपन्न्म्=उपलब्ध हुआ, युद्धम्=युद्ध, स्वर्गद्वारम्=स्वर्ग के द्वार को, अपावृतम् =खोलने वाला है, सुखिनः= सुखी, सौभाग्यशाली, क्षत्रियाः =क्षत्रिय लोग, लभन्ते =प्राप्त करते हैं।

अनुवाद व भावार्थ- हे पार्थ! बिना अपनी इच्छा के स्वतः उपलब्ध हुए और स्वर्ग का द्वार खोलने वाले, इस प्रकार के युद्ध के अवसर सौभाग्यशाली, क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

तात्पर्य - न्याय पाने के लिए स्वतःप्राप्त युद्ध के अवसर सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होते हैं। ऐसा कह कर भगवान कृष्ण, जीवन के यथार्थ का बोध कराते हुए, अर्जुन को उसके धर्मकार्य हेतु प्रोत्साहित करते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि । 33।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अथ= अब, चेत् =यदि, इमम् = इस, धर्म्यम् = धर्मयुक्त , सङ्ग्रामं = युद्ध को, न = नहीं करिष्यसि = करोगे, ततः = तब, स्वधर्मं =अपने धर्म को, च = तथा, कीर्तिम् = कीर्ति को, हित्वा = नाश कर, पापम् = पाप को, अवाप्स्यसि = प्राप्त करोगे।

अनुवाद व भावार्थ - हे अर्जुन ! अब यदि इस धर्मयुक्त युद्ध को तुम नहीं करोगे तो तुम एक ओर तो अपने धर्म से च्युत होकर अपयश के भागी बनोगे और दूसरी ओर पाप के भी भागी बनोगे।

तात्पर्य - अपने धर्म के अनुसार आचरण न करने वाले व्यक्ति को इस लोक में अपयश मिलने से घोर मानसिक कष्ट भोगना पड़ता है तथा परलोक में पाप का भागी होने से नाना प्रकार के नरक के कष्टों को भोगना पड़ता है।

अकीर्तिं चापि भूतानिकथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्ति-र्मरणादतिरिच्यते ।34।

अन्वय सहित शब्दार्थ- च=और, भूतानि=लोग, ते=तेरी, अकीर्तिं=अपयश को, अपि=भी अव्ययाम्=हमेशा कथयिष्यन्ति=कहते रहेंगे, सम्भावितस्य=सम्मानित व्यक्ति के लिए, अकीर्ति=अपयश - मरणात् =मृत्यु से भी, अतिः=अधिक, इच्यते=मानी या कही जाती है।

अनुवाद व भावार्थ- अर्जुन! युद्ध से विरत होने से इस प्रकार जो तेरी अपकीर्ति होगी, लोग उसकी चर्चा हमेशा करते रहेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए उसका अपयश मरण से भी बढ़कर दुखदायी कहा जाता है।

तात्पर्य - भगवान कृष्ण अर्जुन को उसे स्वतःप्राप्त धर्मयुद्ध को न करने से इस लोक और परलोक दोनों में होने वाले कष्टों से अवगत कराते हुए युद्ध के लिए प्रेरित कर रहे हैं।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् । 35।

अन्वय सहित शब्दार्थ- महारथाः =महारथी लोग, येषां=जिनके लिए, त्वं=तुम, बहुमतो=बहुत सम्मानित भूत्वा=होकर, त्वां=तुमको, भयात्=भय से, रणात्=युद्ध से, उपरतम्=विरत, मंस्यन्ते=मानेंगे, च=और, लाघवम्=न्यूनता को, यास्यसि=प्राप्त होओगे।

अनुवाद व भावार्थ- हे अर्जुन! अपनी शूरवीरता के कारण जिन महारथियों की दृष्टि में तुम बहुत सम्मानित रहे हों अब युद्ध से पलायन करने पर वह महारथी लोग तुम्हें भय के कारण युद्ध से भागा हुआ क्षुद्र मानेंगे और इस प्रकार उनकी द्रष्टि में तुम्हारे लिए कोई सम्मान नहीं रह जायेगा।

तात्पर्य- किसी भी महारथी योद्धा के लिए प्राणप्रण से अपने सम्मान की रक्षा करना उसका परम धर्म है।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।36।

अन्वय सहित शब्दार्थ- तव =तुम्हारे, अहिताः = शत्रु, तव = तेरी, सामर्थ्यम् =तेरी शक्ति की, निन्दाः = निन्दाकरते हुए, बहून् = बहुत सारे, अवाच्यवादांन् =न कहने योग्य बातें, वदिष्यन्ति = कहेंगे, च = और, ततः = तब, किम् = क्या, दुःखतरं =उससे भी ज्यादा दुखनु = नही होगा।

अनुवाद व भावार्थ - हे अर्जुन! तेरा अहित चाहने वाले शत्रुलोग तेरी सामर्थ्य की निंदा करते हुए तेरे संबंध में बहुत से अपशब्द बोलेंगे। तब तेरे लिए क्या यह और भी अधिक दुःख की बात नहीं होगी।

तात्पर्य- भगवान कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि युद्ध के मैदान में पूरी तैयारी के साथ पहुंचने के उपरान्त मोहवश युद्ध से विरत होना उसके लिए बहुत बड़े संताप का कारण बनेगा।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।37।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- कौन्तेय = कुंतीपुत्र अर्जुन! हतो=मारे जाओ, स्वर्गम् = स्वर्ग को, प्राप्स्यसि = प्राप्त करोगे, वा = या, जित्वा = युद्ध जीतने पर, महीम = राज्य का, भोक्ष्यसे = सुख भोगोगे, तस्मात् = इसलिए, उत्तिष्ठ =उठो, युद्धाय =युद्ध के लिए, कृतनिश्चयः = दृढ़निश्चयी होओ।

अनुवाद व भावार्थ- हे कुंतीपुत्र ! यदि तू युद्ध में मारा गया तो तुझे स्वर्ग के सुख भोगने को मिलेंगे और यदि युद्ध जीत गया तो यहां पृथ्वी! में उपलब्ध साम्राज्य का सुख भोगेगा। इसलिए तू उठ और युद्ध के लिए दृढ़निश्चयी बन।

तात्पर्य- भगवान कृष्ण, जिन्हें अर्जुन अपना गुरू मान चुके हैं, के आदेशानुसार अर्जुन के लिए युद्ध करना ही सर्वोच्च कर्त्तव्य है, चाहे उसे मृत्यु मिले और चाहे हार या जीत।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।38।

अन्वय सहित शब्दार्थ- सुखदुःखे=सुख दुख में, लाभालाभौ = लाभ और हानि को, जयाजयौ = विजय और हार को, समे = समान, कृत्वा = करके, ततः =ऐसी स्थिति में, युद्धाय=युद्ध के लिए, युज्यस्व= तत्पर हो जाओ, एवं = इस प्रकार, न=नहीं, पापम् =पापको, न=नहीं, अवाप्यसि=प्राप्त होओगे।

अनुवाद व भावार्थ- अर्जुन! तू सुख-दुख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझते हुए तेरा जो धर्मयुक्त निर्धारित कर्म है और इस समय युद्ध करना ही अपना परम कर्त्तव्य समझते हुए युद्धकर्म के लिए तत्पर हो जा।

तात्पर्य - युद्ध करना अर्जुन का स्वधर्मकर्म है, अस्तु युद्ध करने से वह किसी प्रकार के पाप का भागी नहीं होगा।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्यागे त्वाम् श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि । 39।

अन्वय सहित शब्दार्थ- पार्थ=पृथापुत्र, एषा = यह, साङ्ख्ये बुद्धिः = ज्ञानयोग की बात, ते = तेरे लिए, अभिहिता = कही गयी, बुद्ध्या = बुद्धि से, युक्तः = साथ होकर, योगे = कर्मयोग, श्रृणु = सुनो, यया = जिसके द्वारा, कर्मबन्धं = कर्म के बन्धन को, प्रहास्यसि = समाप्त कर सकेगा।

अनुवाद व भावार्थ- हे पृथापुत्र ! यह आत्मा् के विषय में जो बोध तुझे मैंने दिया यह ज्ञानयोग है। अब तू मुझसे कर्मयोग के विषय में सुन जिससे बोधयुक्त हुआ तू कर्मों के बंधन से अर्थात पाप -पुण्य के भय से मुक्त हो जायेगा।

तात्पर्य - जब तक ज्ञानयोग से अपनी अविनाशी आत्मा के बोध से युक्त होकर संसार में अनासक्तं कर्मयोग से जीवन नहीं जिया जायेगा तबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।40।

अन्वय सहित शब्दार्थ - इह =इस (अविनाशी आत्मा के बोध के साथ अनासक्त कर्म करने के) अभिक्रमः=प्रयत्न में, नाशः= हानि, न=नहीं, अस्ति = है, अस्य=इस, धर्मस्य=धर्म का, स्वल्पम्=अंशमात्र पालन, अपि=भी, महतो=महान, भयात् =भय से, त्रायते=रक्षा करता है। प्रत्यवायो=उल्टा फल, न=नहीं, विद्यते=होता है।

अनुवाद व भावार्थ - इस जीवन में अपनी आत्मा के अविनाशी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए विनाशशील शरीर द्वारा अनासक्त भाव से किये गये स्वधर्मरूप कर्म का अंशमात्र पालन भी महान से महान भय से रक्षा करता है। साथ ही ऐसे स्वधर्मरूप निष्काम् कर्म का कोई कष्ट कारी उलटा फल भी नहीं भोगना पड़ता। जबकि अहं भावना से किये गये प्रत्येक अच्छे बुरे कर्म का फल भोगना ही पड़ता है।

तात्पर्य - अनासक्त भाव से किया गया थोड़ा सा भी स्व धर्म कर्म मोक्षदायक होता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्। 41।

अन्वय सहित शब्दार्थ- कुरुनन्दन = अर्जुन, इह=इस लोक में, व्यवसायात्मिका=निश्च्यात्मिका, बुद्धिः= बुद्धि, एकः=एक ही, अव्यवसायिनाम्=अनिश्चित लोगों की बुद्धि, ही=निश्चित ही, बहुशाखा=अनेक धाराओं वाली, च=और, अनन्ताः=अन्तहीन।

अनुवाद व भावार्थ- हे कुरूनन्द,न ! अनुकूल व प्रतिकूल दोनों प्रकार की परिस्थितियों में समता का भाव रखने वाले आत्मज्ञानी कर्मयोगी की बुद्धि विवेकपूर्ण व अपने लक्ष्यं के प्रति निश्चयात्मिका होती है, जबकि अनेक धाराओं में बंटी अस्थिरबुद्धि वाले विवेकहीन मनुष्यों के जीवन का कोई निश्चित लक्ष्य न होने से उनकी बुद्धि कभी समाप्त न होने वाली कामनाओं में उलझी रहती है।

तात्पर्य- स्थिरबुद्धिवाला समत्व योगी ही सर्वोच्च सुख के लक्ष्य - मोक्ष को पाने में सफल हो सकता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।42।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।43।

अन्वय सहित शब्दार्थ- पार्थ= हे अर्जुन! कामात्मानः=सांसारिक कामनाओं से युक्त , वेदवारताः=वेदों द्वारा बताई गई सकाम कर्मकाण्डीय पूजा में ही लगे रहने वाले, वादिनः=वाचक या वेदों के कर्मकाण्डक भाग की महत्ता पर बोलनेवाले, अविपश्चितः=अल्पज्ञानी लोग, भोग=विषयसुख, ऐश्वर्य=उच्च=सम्मान, गतिंप्रति=स्थिति की ओर, क्रियाविशेषबहुलां=विशेष

प्रकार के बहुत सारे धार्मिक अनुष्ठान की क्रियाओं को करने वाले, स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्=अगले जन्म् में स्वर्ग आदि शुभ कर्मफलप्रदान करने वाले, याम=जिन, इमाम=ऐसे, पुष्पिताम्=खुशहाली प्रदर्शित करने वाले, वाचं= वचन, न=नहीं, अन्यत्=अन्य , अस्ति=है, इति=यही, प्रवदन्ति=बोलते हैं।

अनुवाद व भावार्थ- हे अर्जुन! इस जन्म में भोग (विषय सुख) व ऐश्वर्य (उच्च सम्मान युक्त प्रशासकीय शक्ति) तथा अगले जन्म में स्वर्ग आदि शुभ कर्मफल के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्राप्ति करने योग्य नहीं है, ऐसे भौतिक खुशहाली प्रदर्शित करने वाले, इन वचनों को बोलने वाले, सांसारिक कामनाओं से युक्त , वेदों के कर्मकाण्ड भाग की महिमा का गुणगान करने वाले व वेदों द्वारा बताये गये सकाम कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों की ओर प्रेरित करने वाले अल्पज्ञानी लोग, विशेष प्रकार के वैदिक अनुष्ठानों की क्रियाओं को करना ही परम कर्त्तव्य है, ऐसा बोलते हैं।

तात्पर्य- भौतिक सुखों की प्राप्ति ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानने वाले लोग उनकी प्राप्ति हेतु वैदिक कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों को ही सबसे बड़ा धर्म समझते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।44।

अन्वय सहित शब्दार्थ- भोग= विषयभोग, ऐश्वर्य = उच्चसम्मान युक्त् प्रशासकीय शक्ति, प्रसक्तानां=आसक्त लोगों को तया= उससे, अपहृतचेतसाम्= जिनकी सुमति देने वाली चेतना का हरण कर लिया गया है, व्यवसायात्मिका= अनेक प्रकार के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लगी बुद्धि, समाधौ = समाधि को, न=नहीं, विधीयते=अपनाते हैं।

अनुवाद व भावार्थ- जो लोग सांसारिक विषय भोगों तथा ऐश्वर्य प्राप्ति (उच्च सम्मान युक्त सामाजिक व प्रशासकीय शक्ति की प्राप्ति व उसके सुख भोग) में अत्यन्त आसक्त होते हैं और जिनका चित्त उन भोगों व ऐश्वर्य की प्राप्ति की प्रबल कामना द्वारा हर लिया गया है, उन पुरुषों की बुद्धि, जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात समाधि-प्राप्ति के लिए कभी भी प्रेरित नहीं होती।

तात्पर्य- मानव जीवन में समाधिलाभ (आत्मानुभव व उसमे स्थिति) सर्वोच्च उपलब्धि है लेकिन सांसारिक भोग और ऐश्वर्य के सुख में आसक्त लोग समाधि का महत्व नहीं समझते।

अभ्यास प्रश्न 1

निम्नलिखित श्लोकों का अर्थ लिखिए-

क- हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

ख- सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।45।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अर्जुन! वेदा= वेद, त्रैगुण्यविषया= सत, रज व तम इन तीन गुणों से युक्त विषयों की ओर प्रेरित करने वाले हैं, निस्त्रैगुण्यो= इन तीनगुणों से रहित, निर्द्वन्द्वो=दुख-सुख, हर्ष-शोक, हानि-लाभ यश-अपयश, अनुकूल-प्रतिकूल आदि द्वन्द्वों से अलग, नित्य=स्थिर, सत्वस्थो=बुद्धि में स्थित, निर्योगक्षेम=सांसारिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति तथा उनकी सुरक्षा की चिंता से रहित, आत्मवान्=केवल आत्मा में स्थित, भव =हो जाओ।

अनुवाद व भावार्थ- हे अर्जुन! वेद जिन सत, रज व तम इन तीनों गुणों वाले विषयभोगों का प्रतिपादन करते हैं तू उन विषयभोगों में आसक्तिरहित, उनके मिलने व न मिलने से उत्पन्न हर्ष-शोकादि द्वंद्वों से अलग, सांसारिक भोगपदार्थों व ऐश्वर्य की प्राप्ति (योग) की कामना से तथा प्राप्त हुए भोग व ऐश्वर्य की सुरक्षा (क्षेम) की चिंता से मुक्त होकर विशुद्ध आत्म स्थित वाला हो जा।

तात्पर्य- भोग और ऐश्वर्य सुख को सर्वोच्च लाभ समझने के बजाय आत्मदर्शन, आत्मस्थिति (ब्रह्म की प्राप्ति) को सर्वोच्च लाभ समझ कर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना ही मनुष्य् का सर्वोच्च धर्म है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।46।

अन्वय सहित शब्दार्थ- सर्वतः=सब ओर से, सम्प्लुतः=परिपूर्ण, उदक=सरोवर के होने पर, यावान=जितना, अर्थः= महत्व, उदपाने= कुएं का है, ब्राह्मणस्य=ब्रह्मज्ञानी के लिए, सर्वेषु=सभी, वेदेषु=वेदों को, विजानतः=जानने का, तावान=उतना ही महत्व है।

अनुवाद व भावार्थ- जैसे शुद्ध जलसे परिपूर्ण सरोवर के होते हुए बहुत कम जल वाले छोटे से कुएं से मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है (अर्थात कोई प्रयोजन नहीं रहता) वैसे ही ब्रह्म को तत्व से जानने वाले ब्राह्मण का भी समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

तात्पर्य- ब्रह्म को जानने के बाद वेदों के अध्ययन का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता क्योंकि वेदों के ज्ञान का सर्वोच्च लक्ष्य ही ब्रह्म की प्राप्ति है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।47।

अन्वय सहित शब्दार्थ - कर्मणि = कर्मों में, एव = ही, ते =तेरा, अधिकारः = अधिकार है, फलेषु = कर्म के फलों में कदाचन = कभी भी, मा=नहीं। मा= नहीं, कर्मफलहेतुः =वांछित कर्मफल के लिए, भूः=होवो, मा = नहीं ते =तेरी, अकर्मणि =कर्मों को न करने में, संगोः=भावना, अस्तु = होवे।

अनुवाद व भावार्थ- तेरा अधिकार तो कर्त्तव्य कर्मों को करने में ही है, कर्मों के फलों में कभी नहीं (क्योंकि कर्म का फल दैव के अधिकार में होता है, कर्म करने वाले के अधिकार में नहीं। कर्म करने वाला मन के अनुकूल कर्मफल की अभिलाषा तो कर सकता है लेकिन कर्मफल उसके अनुकूल ही हो, यह उसके अधिकार में कभी नहीं होता)। इसलिए हे अर्जुन! तू तेरे मन के अनुकूल ही कर्मफल की प्राप्ति हो, ऐसी अभिलाषा से कर्म करने वाला मत बन। साथ ही तू अकर्मण्य (कर्म से विरत) भी मत हो (बल्कि बड़े ही उत्साह व कर्तव्य बुद्धि से अपना स्वधर्म कर्म अवश्य कर)।

तात्पर्य- मन में कर्मफल की अनुकूलता का लक्ष्य लेकर पूर्ण मनोयोग से स्वधर्म कर्म करना तथा कर्मफल चाहे मन के अनुकूल मिले अथवा प्रतिकूल, उसे सहर्ष स्वीकार करना ही कर्मयोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।48।

अन्वय सहित शब्दार्थ - धनंजय =अर्जुन, योगस्थः=योग में स्थित होकर, संगम्=आसक्ति को , त्यक्त्वा=त्याग कर, सिद्धयसिद्धयोः = सफलता व विफलता में, समो=समान भाव वाला, भूत्वा=होकर कर्माणि=कर्मों को, कुरु=करो, समत्वं=अनुकुल व प्रतिकूल परिस्थिति में समभाव का होना, योग=योग, उच्यते=कहा जाता है।

अनुवाद व भावार्थ- हे धनंजय! तू कर्मफल की आसक्ति को त्यागकर (अर्थात कर्म के लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता अथवा असफलता होनों ही स्थितियों में समान भाव वाला होकर) अपने स्वधर्म का पालन करते हुए कर्तव्य कर्मों को कर क्योंकि सिद्धि व असिद्धि में समभाव होकर जीना ही योग (जीवन की सर्वोच्च सुखद बौद्धिक स्थिति) है।

तात्पर्य- भगवान कृष्ण ने योग का अर्थ बताया है- सिद्धि व असिद्धि में समभाव होकर जीना और इसी को जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि माना है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।49।

अन्वय सहित शब्दार्थ - धनंजय! हि = निश्चिय ही, अवरं = मन के अनुकूल भोग व ऐश्वर्य रूप फलप्राप्ति की अभिलाषा से किये गये कर्म, बुद्धियोगात्= समत्वयोग की भावना से किए गये कर्म से, दूरेण= अत्यधिक दूरी के हैं अर्थात बहुत कम मूल्य, के हैं। कृपणाः= भोग और ऐश्वर्य की प्रबल अभिलाषा से कर्म करने वाले लोभी लोग, फलहेतवः= भौतिक भोग व ऐश्वर्य रूपी फलप्राप्ति के लिए ही कर्म करने वाले होते हैं बुद्धौ = समता में स्थित बुद्धि की, शरणम्= शरण में, अन्वच्छ=जाने को तत्पर होवो, इच्छा करो।

अनुवाद व भावार्थ - हे अर्जुन ! मन के अनुकूल भोग व ऐश्वर्य रूप फलप्राप्ति की अभिलाषा से किये गये कर्म, निश्चय ही, समत्वयोग की भावना से किए गये कर्म से बहुत ही कम मूल्य के हैं। भोग और ऐश्वर्य की प्रबल अभिलाषा से कर्म करने वाले लोभी लोग सदैव सांसारिक भोग व ऐश्वर्य रूपी फलप्राप्ति के लिए ही कर्म करते हैं और उनकी अभिलाषायें कभी पूर्ण नहीं होती, एक के बाद एक सांसारिक कामना व उसकी प्राप्ति के लिए दौड़भाग बनी ही रहती है। इसलिए तू समता में स्थित बुद्धि (समत्वबुद्धि) की शरण में होकर कर्त्तव्य कर्म करने के लिए तत्पर हो जा।

तात्पर्य - अपने जीविकोपार्जन व समाज के हित के लिए जो कर्म निर्धारित हैं उनको ईश्वर की सेवा समझ कर अवश्य करना और उनका फल मन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल चाहे जैसा भी मिले उसमें समत्वबुद्धि रखना ही जीवन का सर्वोच्च व सुखद धर्म है।

अभ्यास प्रश्न 2

सत्य असत्य बताइए-

1. समत्वबुद्धि रखना ही जीवन का सर्वोच्च व सुखद धर्म है।
2. कर्म का फल दैव के अधिकार में होता है, कर्म करने वाले के अधिकार में नहीं।
3. जीवन में आसक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है।
4. आत्मा को वाणी से व्यक्त किया जा सकता है।
5. जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है।

3.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान पाये कि आत्मा क्या है उस आत्मतत्व की बारह विशेषतायें क्या है । वे बारह विशेषतायें हैं- 1. अच्छेद्य, 2.अदाह्य, 3.अक्लेद्य, 4.अशोष्य, 5.नित्य, 6.सर्वगत, 7.स्थाणु, 8.अचल, 9.सनातन, 10.अव्यक्त, 11.अचिन्त्य और 12. अविकार्य। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी आत्मा की इन बारहों विशेषताओं को तत्व से समझने के उपरांत तदनुसार संसार में जीते हुए सदव्यवहार करना ही पूरे सांख्य योग का सार प्रतीत होता है। अपनी आत्मा की इन बारह विशिष्टताओं को तत्व से समझने के बाद व्यक्ति का शोकाकुल, शंकाकुल अथवा चिंताकुल होने की संभावना पूर्णरूप से क्षीण हो जाती हैं। इसके साथ ही यह भी जाना कि व्यक्ति को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए तथा समत्वबुद्धि रखना ही जीवन का सर्वोच्च व सुखद धर्म है।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
हि	निश्चिय ही
अविकार्यः	विकार रहित
नित्यजातं	हमेशा जन्म लेने वाला
नित्यं मृतम्	हमेशा मरने वाला
अवाप्स्यसि	प्राप्त करोगे
लाघवम्	न्यूनता को
त्रैगुण्य	सत, रज व तम यह तीन गुण
जातस्य	जन्म लेने वाले की

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1- उत्तर इकाई में ही देखें ।

अभ्यास प्रश्न 2- 1. सत्य 2. सत्य 3. असत्य 4. असत्य 5. सत्य

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गीतातत्व चिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन-अद्वैत आश्रम, 5 डिही एण्टाली रोड-कलकत्ता

2. भगवद्गीता - चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

3. श्री मद्भगवद् गीता - योगीराज श्री श्यामाचरणलोहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्र नाथ सान्याल।

4. श्री मदभगवद् गीता - साधक संजीवनी - स्वामी राम सुख दास।

5. गीता - स्वामी अड़गड़ानन्द।

6. श्री मदभगवद् गीता ' यथारूप - श्री श्रीमद ए0सी0 भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुवाद।

7. श्री मदभगवद् गीता त्रयी - भगवान श्री कृष्णचन्द्र वासुदेव।

3.8 उपयोगी पुस्तकें

1.श्रीमद भगवद्गीता - तत्त्वविवेचनी (हिन्दी टीका) जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर।

2.गीता तत्त्वचिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन - अद्वैतआश्रम- कल।

3.श्रीमदभगवद्गीता - योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्रनाथ सान्याल।

4.गीता रहस्य - लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस, पूना।

5.भगवद्गीता- डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्- हिन्द पाकेट बुकस
6.गीता दर्पण- स्वामी रामसुखदास- गीता प्रेस।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समत्वं योग उच्यते की व्याख्या कीजिए।
2. आत्मा की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

इकाई - 4 द्वितीय अध्याय श्लोक संख्या 50 से 72 तक

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 श्लोक संख्या 50 से 72 तक मूल पाठ,अन्वय, अर्थ एवं व्याख्या
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 उपयोगी पुस्तकें
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने द्वितीय अध्याय के 25 से 49 तक के श्लोकों का अध्ययन किया जिसमें भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि आत्मा अविनाशी है इसलिए उसके किसी शरीर में कुछ समय के लिए आने व चले जाने पर हर्ष या शोक करने की कोई आवश्यकता नही है। युद्ध करना अर्जुन का धर्म है, अस्तु युद्ध करने से वह किसी प्रकार के पाप का भागी नहीं होगा।

प्रस्तुत इकाई में आप द्वितीय अंक के 50 से 72 तक के श्लोकों का अध्ययन करेगें और जानेंगे कि योग ही सभी कर्मों में कुशलतम कर्म है। समत्व बुद्धि से युक्त होकर कर्म करने से मानवजीवन के सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण होते हैं । इस इकाई के अध्ययन के प्श्चात् आप बता सकेगें कि कामनारहित, ममतारहित व अहंकाररहित व्यक्ति ही शाश्वत शांति का लाभ प्राप्त करता है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- ❖ श्लोकों की व्याख्या कर सकेंगे ।
- ❖ स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण होता है यह समझा सकेंगे ।
- ❖ स्थिरबुद्धि कौन कहलाता है यह बता पायेगे ।
- ❖ प्रतिष्ठित बुद्धि की व्याख्या कर सकेंगे ।
- ❖ स्थितप्रज्ञ व्यक्ति मृत्यु के बाद मुक्तिलाभ करता है यह समझा सकेंगे ।

4.3 श्लोक संख्या 50 से 72 तक मूल पाठ,अन्वय, अर्थ एवं व्याख्या

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् । 50।

अन्वय सहित शब्दार्थ- बुद्धियुक्तः=समत्वबुद्धि वाला व्यक्ति, जहाति=पार कर जाता है, इह=इस संसार को, उभे =दोनों अवस्थाओं में, सुकृत = पुण्य, दुष्कृते = पाप में, तस्मात् = इसलिए, योगाय =योग के लिए, युज्यस्व = प्रयत्न करो, योगः = समत्वतबुद्धि जिसे योग के नाम से जाना जाता है, कर्मसु=सभी कर्मों में, कौशलम् = कुशलता का परिचायक है।

अनुवाद व भावार्थ- कर्मफल (मन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल जैसा भी हो) में समबुद्धि रखने वाला व्यक्ति पुण्यकर्म या पापकर्म के विचार से ऊपर उठा हुआ होता है। उसका प्रत्येक कर्म योगसिद्धि (मानवजीवन की परमसिद्धि) के लिए ही होता है। इसलिए तू योग के लिए युद्ध (स्वधर्म पालन कर्म) कर क्यों कि योग के लिए कर्म करना ही कार्यकुशलता है अथवा योग ही सभी कर्मों में कुशलतम कर्म है।

तात्पर्य- योग ही सभी कर्मों में कुशलतम कर्म है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् । 51।

अन्वय सहित शब्दार्थ- कर्मजं =कर्म से उत्पन्न होने वाला, बुद्धियुक्ता =समत्वम बुद्धि वाले, हि=निश्चय ही, फलं =फल को, त्यक्त्वा=त्याग कर, मनीषिणः =मननशील मनीषी लोग ,

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः=जन्म मृत्यु के बंधन से मुक्तिपाकर, अनामयम्=स्वस्थ, रोग रहित, पदम्=ऐसे महान पद को, गच्छन्ति = चले जाते हैं अथवा पा जाते हैं

अनुवाद व भावार्थ- सांसारिक भोग व ऐश्वर्यरूप कर्मफल की अभिलाषा को त्यागकर व समत्व बुद्धि से युक्त होकर कर्म करने वाले मनीषीगण, निश्चय ही, जन्ममृत्यु के बंधन से मुक्त, निर्विकार परम पद को (मोक्षको) प्राप्त कर जाते हैं।

तात्पर्य- समत्व बुद्धि से युक्त होकर कर्म करने से मानवजीवन के सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च । 52।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यदा=जब, ते=तेरी, श्रोतव्यस्य= भविष्य में सुनने योग्यं, च=और, श्रुतस्य=अब तक सुने हुए (वेद शास्त्रों के ज्ञान द्वारा) मोहकलिलंबुद्धिः=मोह के दलदल में फंसी हुई बुद्धि, व्युतितरिस्येति=पार हो जायेगी, तदा=तब, निर्वेदं=वेदानुकूल कर्मकाण्डीय अनुष्ठान से वैराग्य को, गन्तासि=प्राप्त हो जायेगा।

अनुवाद व भावार्थ- अब तक सुने हुए और भविष्य में सुने जाने वाले वैदिक अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले सांसारिक भोगों व ऐश्वेर्य की अभिलाषाओं के मोह के दलदल में फंसी हुई तेरी बुद्धि, जिस समय समत्व योग के ज्ञान से, भलीभाँति उबर जाएगी, उस समय तू इस लोक और परलोक संबंधी सभी प्रकार के भोगों व ऐश्वर्यों की इच्छाओं से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।

तात्पर्य- भगवान कृष्ण् ने गीता के छठे अध्याय में मन की चंचलता को दूर कर योग में स्थित होने के लिए व्यक्ति की जीवनचर्या में अभ्यास व वैराग्य इन दो बातों का होना आवश्यक बताया है। इस मंत्र में वैराग्य की प्राप्ति हेतु भोग व ऐश्वर्य के प्रति आसक्त मन व बुद्धि द्वारा अनुकूल फल की प्राप्ति की कामना का त्याग कर, समत्व योग के अभ्यास का उपाय सुझाया गया है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि। 53।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यदा=जब, ते=तेरी, श्रुतिविप्रतिपन्ना = वेदशास्त्रों में वर्णित सांसारिक भोग व ऐश्वर्य संबधी बातों को सुनने के परिणामस्वरूप लोभ लालच से मलिन, बुद्धि = बुद्धि, निश्चला=निश्चल, स्थास्यति= हो जायेगी, तदा = तब, समाधवचला = अविचल समाधि से, योगम्= योग को, अवाप्सि = प्राप्त् हो जायेगा। अनुवाद व भावार्थ- वेद शास्त्रों के भाँति-भाँति के भोग व ऐश्वर्य प्राप्ति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब कर्मफल के संबन्ध में समत्वबुद्धिरूप समाधि से अचल हो जाएगी तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा अर्थात तेरा परमात्मा से स्थाई योग हो जाएगा।

तात्पर्य - जब भगवान से बार बार स्थिरबुद्धि, अचल बुद्धि, समाधिस्थ, योगस्थ, समाधिस्थ, आदि शब्दों को अर्जुन सुनता है और ऐसी बुद्धि को श्रेष्ठतम मानने लगता है तो वह स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ या स्थितधीः पुरुष के लक्षण और उसकी महिमा का वर्णन सुनाने के लिए भगवान कृष्ण से विनती करता है।

अर्जुन उवाच
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।54।

अन्वय सहित शब्दार्थ- केशव ! स्थितप्रज्ञस्य =स्थितप्रज्ञ के, समाधिस्थस्य = समाधि में स्थित व्यक्तादि के, का = कैसे, भाषा = लक्षण, स्थितधीः =स्थिर बुद्धि वाला, किं = क्या या कैसे, प्रभाषेत = बोलता है, किम् =कैसे आसीत = बैठता है, किम् = कैसे व्रजेत = चलता है,

अनुवाद व भावार्थ - अर्जुन बोले हे केशव! स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ व स्थितधीः कहलाने वाले पुरुष का क्या लक्षण है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?

तात्पर्य- जिज्ञासु प्रवृत्ति के व्यक्ति में हमेशा नित नये ज्ञान की प्राप्ति की पिपासा विद्यमान रहती है। अर्जुन पहले ही भगवान श्रीकृष्ण को अपना गुरू व स्वयं को उनका शिष्य घोषित करते हुए जो कुछ उसके लिए श्रेयस्कर हो उसका उपदेश देने को निवेदन कर चुके थे। भगवान श्रीकृष्ण के मुख से वह बार-बार स्थितप्रज्ञ, स्थितधीः समाधिस्थ, योगस्थ आदि गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को मानवजीवन के सर्वोच्च गुण, सर्वोच्च लाभ व सर्वोच्च आनन्द की स्थिति वाला व्यक्तित्व सुन चुके थे इसलिए अब वह इन गुणों से युक्त व्यक्ति के लक्षण व उसके व्यवहार के बारे में विस्तार से जानने की जिज्ञासा करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मनेवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।55।

अन्वय सहित शब्दार्थ- पार्थ=पृथापुत्र अर्जुन, यदा=जब, सर्वान्=सभी, मनोगतान्= मन में उत्पन्न होने वाले, कामान्=सांसारिक कामनाओं को, प्रजहाति=त्याग देता है, आत्मनि =अपनी, एव=ही, आत्मना=आत्मा से, तुष्टः=संतुष्ट तत्=वह, स्थितप्रज्ञः=स्थितप्रज्ञ, उच्यते=कहा जाता है।

अनुवाद व भावार्थ- श्री भगवान् बोले- हे अर्जुन! जब कोई व्यक्ति उसके मन में उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को भलीभाँति त्याग देता है और अपनी आत्मा से ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

तात्पर्य - भगवान श्री कृष्ण अब आगे के मन्त्रों में अर्जुन को स्थितप्रज्ञ, स्थितधीः, समाधिस्थ, स्थिरबुद्धि आदि गुणों से युक्त व्यक्ति के लक्षणों की जानकारी दे रहे हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते । 56।।

अन्वय सहित शब्दार्थ- मुनिः= जो मुनि, दुःखेषु= दुखों के आने पर, अनुद्विग्नमनाः=मन की उद्विग्नता से रहित, सुखेषु=सुखों में, विगतस्पृहः =उन सुखों के बने रहने की लालसा से रहित, राग=मोह, भय=डर, क्रोध=गुस्सा वीत=अलग, =स्थिर बुद्धि वाला, उच्यते =कहा जाता है।

अनुवाद व भावार्थ- जिस मुनिके मन में दुःखों की प्राप्ति होने पर अशांति नहीं होती, सुखों की प्राप्ति में जो सदा उन सुखों के बने रहने की लालसा न रखता हो, जिसका अपने शरीर या अन्य व्यक्तियों व वस्तुओं से किसी भी प्रकार का मोह नहीं हो, जो किसी भी बात, व्यक्ति या घटना से भयभीत नहीं होता हो, जिसे कभी भी क्रोध न आता हो, ऐसा मननशील व्यक्ति (मुनि) स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

तात्पर्य- इस मंत्र में भगवान ने अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में मन को संतुलित बनाये रखना तथा मोह, डर, तथा क्रोध से रहित होना स्थितधी के अर्थात स्थिर बुद्धि युक्त व्यक्ति के लक्षण बताये हैं।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। 57।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यः=जो, सर्वत्र = सब जगह, अनभिस्नेहः = मोह रहित हो, प्राप्य = प्राप्त् करके, शुभ = लाभप्रद, अशुभम् = हानिप्रद, न = नहीं, अभिनंदति = अभिनन्दन करता है, न = नहीं, द्वेष्टि = द्वेष करता है, तस्य = उसकी, प्रज्ञा = बुद्धि प्रतिष्ठिता = प्रतिष्ठित या स्थिर होती है।

अनुवाद व भावार्थ - जो व्यक्ति सब जगह और सब लोगों से मोह रहित हो, न लाभप्रद स्थिति होने पर उसका अभिनंन्दन करता हो और नहीं हानिप्रद परिस्थिति आ जाने पर उससे द्वेष करता हो, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित कहलाती है।

तात्पर्य - जिसकी बुद्धि अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में संतुलित रहती है वह प्रतिष्ठित बुद्धि होता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।58।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यदा =जब, संहरते =समेट लेता है, च = और, अयम् = यह, कूर्मोऽङ्गानि = कछुवे के अंगों की, इव = तरह सर्वशः = सब ओर से, इन्द्रियाणीनि = सभी इन्द्रियों को, इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रियों के विषयों से, तस्य =उसकी, प्रज्ञा =बुद्धि प्रतिष्ठिता = प्रतिष्ठित या स्थिर होती है।

अनुवाद व भावार्थ- जैसे थोड़ी सी भी आहट होने पर कछुवा सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही जब कोई व्यक्ति विभिन्न विषय भोगों के सम्मुख होने पर अपनी इन्द्रियों को उन विषयों से बिना किसी प्रकार के लालच के शीघ्र हटा लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

तात्पर्य - कछुवे की तरह अपनी इन्द्रियों के विषयों से हटा लेने वाले संयमी व्यक्ति की ही बुद्धि स्थिर हो सकती है असंयमी की कभी नहीं चाहे असंयमी व्यक्ति कितना ही बड़ा ज्ञानी व प्रतिष्ठा प्राप्त क्यों न हो। असंयमी व्यक्ति का ज्ञान व प्रतिष्ठा दिखावे की व अहंकार से भरे होते हैं जो उसके लिए व समाज दोनों के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते।।59।

अन्वय सहित शब्दार्थ- विषयाः=भोग की वस्तुऐं, विनिवर्तन्ते = निवृत हो जाते हैं, निराहारस्य = जो उन्हें नहीं भोगता देहिनः = शरीरधारी, रसवर्जं=विषयभोगके रस का त्याग, रसः=भोगेच्छा की लालसा, अपि =भी, अस्यि = इसके, परं = आत्मात या परमात्मा् को, दृष्टवा=देखकर, निवर्तते=निवृत हो जाता है।

अनुवाद व भावार्थ- अपनी इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले व्यक्ति के केवल उस समय विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उन विषयों में जिस रस की आसक्ति मन में बैठी होती है वह आसक्ति निवृत्त नहीं होती। कभी भी भोग की वस्तु के प्रस्तुत होने पर संबंधित इन्द्रिय उस विषय को भोगने के लिए तत्पर हो सकती है। मन में दृढता से जड़ जमाई हुई विषय-भोगों के रस की आसक्ति का त्याग तभी संभव हो पाता है जब व्यक्ति को सर्वरसों के परमश्रोत उस परमेश्व र के दर्शन का सर्वोच्च रस प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य - स्थितप्रज्ञ पुरुष ही परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है और तब ही उसकी विषयों से पूर्णरूप से आसक्ति निवृत्त हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः । 60।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यततः = यत्न करता हुआ, हि=निश्चय ही, अपि =भी, कौन्तेय= कुंतीपुत्र, पुरुषस्य = पुरूष के, विपश्चितः = विवेकी, इन्द्रियाणि = इन्द्रियां, प्रमाथीनि = प्रबलता से अपनी ओर खींचने वाली, हरन्ति=बस में कर लेती हैं, प्रसभं = बल पूर्वक मनः = मन को ।

अनुवाद व भावार्थ- हे अर्जुन! व्यक्ति के मन को प्रबलता से अपनी ओर खींचने वाली प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ, साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या बल्कि अपनी इन्द्रियों को सदैव अपने नियन्त्रण में रखने का भलीभांति प्रयत्न करने वाले विवेकी पुरुष के मन को भी बलात हर लेती हैं।

तात्पर्य- बिना प्रतिष्ठित प्रज्ञा के कोई भी विद्वान से विद्वान व्यक्ति भी विषयों के प्रलोभन से प्रबल इन्द्रियों को रोकने में समर्थ नहीं हो पाता ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । 61।

अन्वय सहित शब्दार्थ- तानि =उन, सर्वाणि=सभी, इन्द्रियाणि =इन्द्रियों को, संयम्य=नियंन्त्रित करके, मत्परः = मेरे परायण (मुझ में समर्पित), युक्त= जुड़ा हुआ, आसीत=होता है, हि = निश्चय ही, यस्य = जिसकी इन्द्रियाणि = इन्द्रियां, वशे =वश में हैं, तस्य=उसकी, प्रज्ञा = बुद्धि, प्रतिष्ठिता =भलीभांति स्थिर।

अनुवाद व भावार्थ- जो अपनी सभी इन्द्रियों को भलीभांति अपने नियंन्त्रण में करके मेरे आश्रित होकर मुझसे जुड़ा होता है उसकी इन्द्रिया निश्चय ही उसके वश में होती है और ऐसे व्यक्ति की बुद्धि भलीभांति स्थिर होती है।

तात्पर्य - हर समय आश्रित भाव से ईश्वर से जुड़े रहने वाले व्यक्ति की इन्द्रियां वश में होतीं तथा स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।62।

अन्वय सहित शब्दार्थ- विषयान=विषय भोगों को, ध्यायतः=चिंतन करता हुआ, पुंसः=पुरूष, तेषु=उनमें, संगः=समीप जाने की इच्छा् उपजायते=उत्पन्न होती है, संगात्= समीप जाने पर, कामः=भोग की प्रबल इच्छा, संजायते=उत्पन्न होती है,कामात=प्रबल भोग इच्छा से क्रोधः= गुस्सा, अभिजायते= उत्पन्न होता है ।

अनुवाद व भावार्थ- विभिन्न इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करने पर व्यक्ति की उन उन विषयों के समीप जाने की इच्छा होती है,विषय के समीप जाने पर संबन्धित इन्द्रिय उस विषय को भोगने की इच्छा करती है, उस विषय के भोगने का अवसर मिल गया तो उसे भोगने के बाद यदि वह विषयभोग हानिकारक रहा तो ग्लानि उत्पन्न होने से स्वयं पर क्रोध आता है, यदि उस विषय का भोग करने में कोई बाधा आ गई तो भी गुस्सा आता है।

तात्पर्य- विषय भोगों का चिंतन मनन व उनकी प्राप्ति के लिए लालच ही पतन का कारण है।

अभ्यास प्रश्न 1-

क- कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्

ख - ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति। 63।

अन्वय सहित शब्दार्थ- क्रोधात्= गुस्से से, सम्मोहः=अज्ञान का अंधकार, भवति=होता है, सम्मोहात् =अज्ञान के अंधकार से, स्मृतिविभ्रमः =विवेकहीनता होती है, स्मृतिभ्रंशाद= विवेकहीनता से, बुद्धिनाशः= बुद्धि द्वारा ज्ञानार्जन की क्षमता का नाश, बुद्धिनाशात्= बुद्धि की ज्ञानार्जन की क्षमता का नाश होने पर, प्रणश्यति =सर्वनाश (दुर्गति) को प्राप्त होता है।

अनुवाद व भावार्थ- जब व्यक्ति को क्रोध आता है तो क्रोध से तुरंत मन पर अज्ञान का अंधकार छा जाता है, मन पर अज्ञान के अंधकार छा जाने से विवेकहीनता आ जाती है, विवेकहीनता से सही गलत को समझने की क्षमता कम हो जाने पर बुद्धि द्वारा ज्ञानार्जन की क्षमता का ह्रास हो जाता है बुद्धि द्वारा ज्ञानार्जन की क्षमता का ह्रास होने पर व्यक्ति सर्वनाश (दुर्गति) को प्राप्त होता है।

तात्पर्य- भोग व एश्वर्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होने पर क्रोध आता है और क्रोध आगे चल कर सर्वनाश का कारण बनता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।64।

अन्वय सहित शब्दार्थ- रागद्वेषवियुक्तैः= काम व क्रोध से रहित होकर, विषयानिन्द्रियैश्चरन् =इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग करने पर भी, आत्मवश्यैः=मन व इन्द्रियों को बस में करने वाले, विधेयात्मा=विधिविधान से चलने वाला व्यक्ति, प्रसादम् = परम प्रसन्नता को, अधिगच्छति=प्राप्त होता है।

अनुवाद व भावार्थ- विधिविधान से अपने मन व इन्द्रियों को बस में रखने वाला व्यक्ति राग व द्वेष से रहित होकर अपनी इन्द्रियों से विषयों का नैतिक भोग करने पर भी अन्तःकरण की दिव्य प्रसन्नता को प्राप्तं होता है।

तात्पर्य- अनासक्त भाव से किया गया नैतिक विषयों का भोग भी आन्तरिक प्रसन्नता प्रदान करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। 65।

अन्वय सहित शब्दार्थ- प्रसादे =अन्तःकरण की प्रसन्नता की स्थिति में, सर्वदुःखानां = सभी प्रकार के दुखों की हानिः = समाप्ति, उपजायते = उत्पन्न होती है, प्रसन्नचेतसः =प्रसन्न चित्त वाले की, हि=निश्चय ही, आशु=शीघ्र ही, बुद्धिः=बुद्धि, पर्यवतिष्ठते = भलीभांति स्थिर हो जाती है।

अनुवाद व भावार्थ- मन व इन्द्रियों के वशीभूत होन पर व्यक्ति के अन्तःकरण की जो सदा बनी रहने वाली प्रसन्नता होती है उससे व्यक्ति के सभी दुख समाप्त हो जाते हैं। हमेशा प्रसन्नचित्त रहने वाले उस व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही सब विषय वासनाओं की ओर से हटकर परमात्मा में स्थिर हो जाती है।

तात्पर्य- आत्मसंयम मनुष्य को अविराम सुख व परामात्मा की प्राप्ति कराता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।66।

अन्वय सहित शब्दार्थ- अयुक्तस्य= जो ईश्वर से जुड़ा नहीं होता उसकी, बुद्धि=सदबुद्धि, न=नहीं, अस्ति=होती है, च=और न=नहीं, अयुक्तस्य= ईश्वर से न जुड़े हुए व्यक्ति की, भावना = सदभावना होती है, न=नही, च=और, अभावयतः=सदभावना से रहित व्यक्ति को, शान्तिः= मन की शान्ति नहीं होती, अशान्तस्य= अशान्त व्यक्ति के लिए, सुखम्=सुख है, कुतः=कहा।

अनुवाद व भावार्थ - जो ईश्वर से जुड़ा नहीं होता उसके पास सदबुद्धि नहीं होती, जिसके पास सदबुद्धि नहीं होती उसके पास सदभावना भी नहीं होती और जो सदभावना से रहित व्यक्ति होता है उसके मन में कभी भी शांन्ति नहीं होती और जो शांत नहीं होता है उसे सुख कहां से प्राप्त हो सकता है? अर्थात उसे कभी भी सुख नहीं मिल सकता। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को सुख की प्राप्ति के लिए मन वचन कर्म से सुख के परमश्रोत उस परमेश्वर से जुड़ना आवश्यक है।

तात्पर्य- बिना ईश्व़र के साथ जुड़े शान्ति नहीं मिलती और बिना शान्ति के सुख नहीं मिलता। इसलिए सुख व शांति के लिए सदैव ईश्वर से योग होना अनिवार्य है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि । 67।

अन्वय सहित शब्दार्थ- हि= निश्चय ही, इन्द्रियाणां= इन्द्रियों का, चरतां= भोगों में रत रहते हुए, यत्= जो, मनः = मन, अनुविधीयते = बार बार लगा रहता है, तत्= वह, अम्भशसि = पानी में इव = जैसे वायुः = हवा, नावम्= नाव को, अस्य = इसकी, प्रज्ञां= सदबुद्धि को, हरति = हरण कर लेती है ।

अनुवाद व भावार्थ- क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु अपने वेग के साथ बहा ले जाती है वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है ।67।

तात्पर्य - मनुष्य की एक भी इन्द्रिय की दासता उसकी बुद्धि-हरण के लिए पर्याप्त, होती है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । 68।

अन्वय सहित शब्दार्थ- तस्मात्= इसलिए, महाबाहो=बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन, यस्य =जिसकी, इन्द्रियाणि=इन्द्रिया, सर्वशः =सब प्रकार से, इन्द्रियार्थेभ्यः= इन्द्रियों के विषयों से,निगृहीतानि = संयम में होती हैं, तस्य=उसकी, प्रज्ञा=बुद्धि, प्रतिष्ठिता= पूर्ण स्थिर

अनुवाद व भावार्थ- इसलिए हे महाबाहो! जिस पुरुष की सभी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के भोगों से सब प्रकार से वशीभूत होती हैं, उसी की बुद्धि पूर्णरूप से स्थिर होती है।

तात्पर्य- स्थिर बुद्धि के लिए इन्द्रियों का पूर्णरूप से संयमित होना आवश्यक है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः । 69।

अन्वय सहित शब्दार्थ- सर्वभूतानां = सभी प्राणियों की, या =जो, निशा = रात्रि होती है, तस्यां = उसी में, संयमी = संयमशील , जागर्ति = जागता रहता है, यस्यां = जिसमें, जाग्रति = जागता है, सा = वह, निशा = रात्रि, पश्यतः देखता हुआ, मुनेः = व्यक्ति या मुनि।

अनुवाद व भावार्थ- सभी प्राणी जिस रात्रि में स्वभावतः सोते हैं, उसमें संयमी मुनि जागता रहता है और जिस दिन में सभी प्राणी जागे हुए नाशवान सांसारिक सुखों की प्राप्ति हेतु नाना प्रकार के कार्यों में लगे रहते हैं, परमात्मा के तत्व को जानने वाले मुनि के लिए लोगों का वह जागना रात्रि के समान होता है अर्थात वह स्थिर बुद्धि वाला मुनि नाशवान सांसारिक सुख की ओर से ऐसे मुंह मोड़े रहता है कि मानो वह सोया हो।

तात्पर्य- सामान्य जीवन जीने वाले असंयमी व्यक्ति जागते हुए भी सोये हुए के सामान होते हैं जबकि संयमी व्यक्ति रात दिन जगे हुए ही होते हैं।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।70।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यद्वत् =जिस प्रकार, प्रतिष्ठं = अपनी परिधि में स्थित, समुद्रम् = महासागर, आपः = जल, प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं, आपूर्यमाणम् = भरा जाता हुआ, अचलम् = स्थिर होता है, तद्वत् = उसी प्रकार, सर्वे= सब, कामा = कामनायें, यं = जिसमें, प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं, सः = वह, शान्तिम् =शान्ति को, आप्नोति = प्राप्त करता है, न = नहीं, कामकामी = सांसारिक कामनाओं वाला ।

अनुवाद व भावार्थ- जिस प्रकार असंख्य नदियों की अथाह जलराशि के निरंतर समुद्र में प्रवेश करने के बाद भी समुद्र अपनी परिधि में अचल स्थित रहता है वैसे ही जिस पुरुष में, सभी कामनायें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही, समा जाती हैं, वही स्थितप्रज्ञ पुरूष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

तात्पर्य- जिस संयमी व्यक्ति के मन में कोई भी सांसारिक कामनायें हलचल पैदा नहीं कर पाती वही व्यक्ति शाश्वत शांति का लाभ प्राप्त कर सकता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति । 71।

अन्वय सहित शब्दार्थ- यः =जो, पुमान्= पुरूष, सर्वान = सभी, कामान् = इच्छाओं को, विहाय = छोड़कर, निस्पृह = निष्काम, चरति = जीता है, स=वह, निर्मम = ममता रहित, निरहंकारः = अहंकार रहित, शान्तिम्=शांति को , अधिगच्छति = प्राप्त होता है।

अनुवाद व भावार्थ - जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ जीता है, वही वह शान्ति को प्राप्त करता है।

तात्पर्य- कामनारहित, ममतारहित व अहंकाररहित व्यक्ति ही शाश्वत शांति का लाभ प्राप्त करता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति । 72।

अन्वय सहित शब्दार्थ - पार्थ = अर्जुन, एषा = ऐसी, ब्राह्मीस्थितिः = ब्रह्ममय बौद्धिक स्थिति, प्राप्य = प्राप्ति करके, एनाम् = इसको, न = नहीं, विमुह्यति = मोहित होता है, अन्तकाले = मृत्यु के समय, अपि = भी, अस्याम =इसमें, स्थित्वा = स्थितहोकरके ब्रह्मनिर्वाणम् = मुक्ति को, ऋच्छति= पा लेता है।

अनुवाद व भावार्थ- हे अर्जुन! पूर्व में कही गई अचल ब्रह्ममय बौद्धिक स्थिति से जो व्यक्ति कभी भी विचलित नहीं होता, मृत्यु के समय भी उसी ब्रह्ममय स्थिति में रहता हुआ वह ब्रह्ममय होकर मुक्ति लाभ प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य- स्थितप्रज्ञ व्यक्ति मृत्यु के बाद मुक्तिलाभ करता है।

अभ्यास प्रश्न 2 -

क - रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति

ख - या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः

4.4 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि स्थिरप्रज्ञ का क्या लक्षण होता है तथा स्थिरधी किसे कहते हैं कछुवे की तरह अपनी इन्द्रियों के विषयों से हटा लेने वाले संयमी व्यक्ति की ही बुद्धि स्थिर हो सकती है असंयमी की कमी नहीं चाहे असंयमी व्यक्ति कितना ही बड़ा ज्ञानी व प्रतिष्ठा प्राप्त क्यों न हो। असंयमी व्यक्ति का ज्ञान व प्रतिश्ता दिखावे व अहंकार से भरे होते हैं जो उसके लिए व समाज दोनों के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष ही परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है और तब ही उसकी विषयों से पूर्णरूप से आसक्ति निवृत्त हो जाती है।

4.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
विहाय	त्यागकर
कामा	कामनायें
प्रज्ञा	बुद्धि
जहाति	पार कर जाता है,

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1- उत्तर इकाई में देखें।

अभ्यास प्रश्न 2- उत्तर इकाई में देखें।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गीतातत्व चिन्तन स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन अद्वैत आश्रम, 5 डिही एण्टाली रोड-कलकत्ता
2. भगवद्गीता चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
3. श्री मद्भगवद् गीता योगीराज श्री श्यामाचरणलोहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्र नाथ सान्याल। साधक संजीवनी स्वामी राम सुख दास।

4. श्री मदभगवद् गीता
5. गीता स्वामी अड़गड़ानन्द ।
6. श्री मदभगवद् गीता यथारूप श्री श्रीमद ए०सी० भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुवाद।
7. श्री मदभगवद् गीता त्रयी भगवान श्री कृष्णचन्द्र वासुदेव।

4.8 उपयोगी पुस्तकें

1. श्रीमद भगवद्गीता गोरखपुर। तत्त्वविवेचनी (हिन्दी टीका) जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस,
2. गीता तत्त्वचिन्तन स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन अद्वैतआश्रम- कल।
3. श्रीमदभगवद्गीता सान्याल। योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्रनाथ
4. गीता रहस्य लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस, पूना।
5. भगवद्गीता- डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् हिन्द पाकेट बुकस
6. गीता दर्पण- स्वामी रामसुखदास- गीता प्रेस।

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

स्थित प्रज्ञ का क्या लक्षण होता है समझाइए।

इकाई. 5 तृतीय अध्याय श्लोक संख्या 01 से 20 तक

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 श्लोक संख्या 01 से 10 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या
5.3.1 श्लोक संख्या 11 से 20 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या,
5.4 इकाई का सारांश
5.5 पारिभाषिक शब्दावली
5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

श्रीमदभगवद्गीता भारतीय साहित्य का नहीं अपितु विश्व साहित्य का एक अमर काव्य है। गीता भगवान की द्विव्य वाणी है यह सभी उपनिषदों का सार है- ''सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा' इस अध्याय में नाना प्रकार के हेतु से विहित कर्मों की अवश्य कर्तव्यता सिद्ध की गयी है तथा यह बताया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपनें वर्ण आश्रम के लिए विहित कर्म किस प्रकार करने चाहिये, क्यों करने चाहिये, इसके करने और न करने से क्या लाभ हानि है।

इस इकाई में यह समझाया गया है कि कौन से कर्म बन्धन कारक है और कौन से मुक्ति में सहायक है इस तृतीय अध्याय में कर्म योग का विशद् वर्णन किया गया है। इस अध्याय के पहले और दूसरे श्लोक में अर्जुन भगवान के अभिप्राय को न समझ पाने के कारण मानो उलाहना दे रहें है, 3, 4 श्लोक में दो निष्ठा का वर्णन किया गया है पाँचवें श्लोक में बताया गया है कि क्षण मात्र भी कर्मों का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है। इसी क्रम में आगे श्लोकों में मिथ्याचारी का वर्णन है। आठवें और नौवें में कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ बतलाया गया है। 10 से 16 तक यज्ञ, और सृष्टिचक्र का वर्णन है इसी क्रम में आगे 17-18 में आत्मनिष्ठ ज्ञानी का वर्णन किया गया है। 19 वें में स्वधर्म का पालन निष्काम भाव से करना चाहिये तथा 20 वें श्लोक में लोकसंग्रह का वर्णन आदि इस इकाई में करने का प्रयास किया गया है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके निम्न प्रयोजन की पूर्ति होगी-

- ❖ अर्जुन की शंका- ज्ञान और कर्म में कौन श्रेष्ठ है- इससे आप परिचित होंगें।
- ❖ नैष्कर्म्य मींमांसा (श्लोक 3/4-6) को जान सकेंगें।
- ❖ यज्ञार्थ कर्म का स्वरूप (श्लोक 3/7-9) क्या है इस विषय पर शोध करने की प्रवृत्ति का अंकुरण होगा।
- ❖ विराट यज्ञ ही संसारचक्र की धुरी है। इसकी आप समीक्षा कर सकेंगे और ज्ञानी व्यक्ति के लिये कर्तव्य का अभाव तथा लोकसंग्रह हेतु कर्म करने की प्रेरणा (3/20-25) आदि को पढ़कर आप गौरव बोध से युक्त होंगें।
- ❖ गीता जीवन जीने की कला सिखाती है।तथा इसको श्लोकों तक ही सीमित न मान कर आत्मसात् करने के लिये प्रयास करेंगें।

5.3 श्लोक संख्या 01 से 10 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। 1।।

अन्वय- अर्जुनः उवाच (अर्जुन बोले), जनार्दन (हे जनार्दन), चेत (यदि) कर्मणः (कर्मयोग की अपेक्षा) बुद्धिः (ज्ञान योग), ज्यायसी (श्रेष्ठ है) ते (तुम्हारा), मता (अभिप्राय है), तत्किं (तब क्यों), घोरे कर्मणि (युद्धरूपघोर कर्म में), केशव (हे केशव!), मां (मुझको), नियोजयसि (नियुक्त करते हो ?)।। 1।।

अर्थ- अर्जुन बोले हे जनार्दन ! यदि आपको कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं ?

व्याख्या- इस श्लोक में अर्जुन भगवान के अभिप्राय को ठीक से न समझ पाने के कारण (दुविधा) संदेह में है और एक तरह से उलाहना देते हुये कह रहें है कि यदि कर्मयोग की अपेक्षा बुद्धि ही मोक्ष का अन्तरंग साधन है और अधिकतर श्रेष्ठ है तो फिर आप क्यों मुझकों ''तस्मात् युद्धस्व', तस्मात् उत्तिष्ठ'' इत्यादि बारम्बार कहकर घोर हिंसात्मक कर्म में लगा रहें हैं। अर्जुन से श्री कृष्ण की बातों को न समझ पाने के कारण कहता है कि आपने ही, भगवन कहा है कि- दूरेणह्यवरं (ह्यवरं) कर्म बृद्धियोगाद्धनंजय, बुद्धौशरणमन्विच्छ (2/49)- अर्थात् कर्मयोग बुद्धि योग से बहुत तुच्छ है इसलिये तुम्हें बुद्धि में शरण लेनी चाहिये आदि। अर्जुन समझ नहीं पाता है कि उसके लिये क्या करना श्रेयस्कर है क्योंकि अर्जुन यह सोच रहें कि मेरे समक्ष भगवन ज्ञान की प्रशंसा कर रहें है। युद्ध एक घोर कर्म है उसमें हिंसा है उसके द्वारा भला ब्राह्मी स्थिति कैसे प्राप्त हो सकती है और स्थित प्रज्ञ कैसे बन सकता है- यह सब शंका अर्जुन के मन में उठना स्वभाविक वह श्री कृष्ण से कहते है कि आप निश्चित कर लीजिये की मेरे लिए कौन सा पथ ज्ञान क या बुद्धि का कल्याणकारी सिद्ध होगा उसी का निश्चय करके आप उपदेश दीजिये यहां अर्जुन की उलझन बढ़ गयी है अर्जुन को जब कौटुम्बिक मोह जागृत हुआ तब अर्जुन की वृत्ति युद्ध कर्म की तरफ से उपरत् होकर ज्ञान कर्म की तरफ झुकती दिखाई दे रही है। क्योंकि जब अर्जुन कहते है कि अब आप मुझको घोर कर्म में क्यों लगा रहें है ? यहां जो अर्जुन का प्रश्न है वह भगवान के यर्थात् तात्पर्य को न समझ पाने के कारण है। क्योंकि 'बुद्धि' का 'ज्ञान' अर्थ अर्जुन ने समझ लिया है। यदि यही बुद्धि का अर्थ सम बुद्धि रूप कर्म योग समझ लेते तो इस प्रकार के प्रश्न का कोइ औचित्य ही नहीं होता। इस श्लोक में जनार्दन और कैशव आने से विद्वानों में भ्रम उत्पन्न होता है कि यह 'पुनरूक्तिदोष' होगा। किन्तु अर्जुन की मानसिक स्थिति को देखते हुये एकधिक सम्बोधन अनुकूल प्रतीत होता है' जनार्दन का अर्थ होता है- 'दुष्ट जनों का नाश' और केशी दैत्य का वध करने के कारण केशव नाम से प्रसिद्ध है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव में।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। 2।।

अन्वय - व्यामिश्रेणइव (विशेष रूप से मिश्रित से), वाक्येन (वाक्य के द्वारा) में (मेरी) बुद्धि (बुद्धि को) मोहयसि इव(मानो मोहित कर रहे हो), येन (जिसके द्वारा) अहं (मैं) श्रेयः (कल्याण को) आप्नुयाम् (प्राप्त कर सकूँ) तत् (वह) एकं (एक) निश्चित्यवद (निश्चय करके बोला)।। 2।।

अनुवाद- आप अपने मिले हुये वचनों से (गोल-माल) मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहें है। इसलिये आप कृपा करके निश्चय पूर्वक मुझे बतायें कि इनमें से मेरे लिये सर्वाधिक श्रेयष्कर क्या होगा ?

व्याख्या - अर्जुन आशंका करते हुये कहते हैं कि हे भगवन ! कभी आप कर्म की प्रशंसा कर रहें है और कभी ज्ञान की, इस संदेहात्मक बातों से मेरी बुद्धि विमोहित हो रही है। 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव में- इन पदों में अर्जुन का कहने का तात्पर्य यह है कि एक तरफ आप मुझकों कहते है कि 'कर्म करो' 'कुरूकर्माणि' (2/48) और कभी आप कहते है कि 'ज्ञान का आश्रय लो' - 'बुद्धौशरणमन्विच्छ' (2/49) आपके इन परस्पर विरोधी मिले जुले वचनों से मेरी बुद्धि मोहित सी हो रही है अर्थात् मैं स्पष्ट रूप से समझ नही पा रहा हूँ और मेरी स्थिति विमूढ़ की हो गई है मुझे कर्म करना चाहिये या ज्ञान की शरण में जाना चाहिये अर्जुन कहते है कि- 'तदेकंवदनिश्चित्य्' अर्थात् मेरा कल्याण कर्म करने से होगा या ज्ञान से होगा इनमें से एक निश्चित करके आप मुझको बतलाइए इस बात को अर्जुन पहले भी कह चुके है कि जिससे मेरा निश्चित

कल्याण हो वह बात मेरे लिए कहिये- 'यच्छेयःस्यान्निश्चतं ब्रूहितन्मे' (2/7) और फिर मैं वही प्रार्थना कर रहा हूँ इस प्रकार के अर्जुन के प्रश्न का उत्तर भगवान आगे के 3,4,5 में क्रमशः दे रहे है।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।3।।

अन्वय- श्री भगवान् उवाच (श्री भगवान बोले), अनघ (हे अनघ) अस्मिन लोके (इस संसार में) द्विविधा निष्ठा (दो प्रकार की ब्रह्मनिष्ठा) मया (मेरे द्वारा) पुरा (पहले से) प्रोक्ता (कही गयी है), ज्ञानयोगेन (ज्ञानयोग द्वारा) सांख्यानां (ज्ञानाधिकारी लोगों का) कर्मयोगेन (निष्काम कर्म योग के द्वारा) योगिनां (योगियों की) (निष्ठा कही गयी है)।।3।।

अर्थ- श्री भगवान ने कहा - हे निष्पाप अर्जुन, इस संसार में दो प्रकार की ब्रह्मनिष्ठा मेरे द्वारा पहले ही कही गयी है, अर्थात् मैंने पहले ही दो प्रकार के कल्याण प्राप्ति के मार्गों के सम्बन्ध में कहा है कि ज्ञान योग के द्वारा ज्ञानियों की तथा निष्काम कर्मयोग के द्वारा कर्मयोगियों की निष्ठा सूचित हुई है।

व्याख्या- श्री भगवान ने कहा- हे निष्पाप अर्जुन! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि आत्मसाक्षात्कार प्रयत्न करने वाले दो प्रकार के पुरूष होते हैं। कुछ ऐसे ज्ञान योग के द्वारा समझने का प्रयत्न करते है का प्रयत्न करते हैं। और दूसरे योगी लोग निष्काम कर्मयोग से इसे समझने का या जानने का प्रयत्न करते हैं इस प्रकार दोनो ही मार्गों के अनुसार कर्म तो करना ही पड़ेगा। क्योंकि कर्म आनिवार्य हैं।

समभाव में स्थित एक ही निष्ठा है जिसे ज्ञान योग और कर्म योग नाम से दो प्रकार की कही गयी हैं। भगवान कहते है कि जिस प्रकार दो तरह की निष्ठा होती है उसी प्रकार लोक में दो तरह के पुरूष भी होते है- ' द्वाविमौ पुरूषौ लोके' (गीता 15/16) इसी को 'क्षर' और अक्षर भी कहा गया है- क्षर (नाशवान या क्षणिक होता है) जबकि अक्षर से तात्पर्य अविनाशी स्वरूप से है। इस प्रकार 'क्षर' अर्थात् अविनाशी स्वरूप की सिद्धि असिद्धि या प्राप्ति-अप्राप्ति समभाव रहना कर्मयोग है। और 'अक्षर' को स्पष्ट करते है कि जब 'क्षर' से विमुख होकर अक्षर में स्थित हो जाता है तब यह साधक का ज्ञान योग है किन्तु क्षर से अक्षर से भी अतिरिक्त पुरूष है जिसे उत्तम पुरूष या परमात्मा नाम से कहा जाता है- 'उत्तमःपुरूस्त्वन्यः परामात्मेंत्युदाहृतः' (15/17) ऐसा परमात्मा के सर्वथा सर्वभाव से शरण हो जाना 'भक्तियोग' कहा गया है इसलिये जहां 'क्षर' की प्रधानता होगी उसको कर्मयोग कहा जाता है और जहां 'अक्षर' की प्रधानता होगी उसको ज्ञान योग और जहां परमात्मा की प्रधानता होगी उसे भक्ति योग कहा जाता है। भगवान ने जो दो निष्ठा सांख्य निष्ठा और ज्ञान निष्ठा की बात कही है उसमे 'जानना' (विवेक) तो मुख्य विषय होता है किन्तु इन दोनो निष्ठाओं से अलग भगवत निष्ठा में 'मानना' (श्रद्धा-विश्वास) मुख्य है। भगवत निष्ठा में साधक को पहले 'भगवान है' इसका अुनभव न होकर विश्वास होता है कि स्वरूप और संसार से भिन्न विलक्षण कोई तत्व भगवान है 'जानना' और 'मानना' दोनो ही संदेह रहित है सांख्य निष्ठा और योग निष्ठा में साधन-साध्य का सम्बन्ध में सांख्य निष्ठा 'साधन' है तो योग निष्ठा 'साध्य' है किन्तु भगवन्निष्ठा में साधन साध्य जैसा कुछ नहीं है। 'भगवन्निष्ठा में साधक भगवान और उनकी कृपा पर आश्रित रहता है। भगवन्निष्ठा या भक्ति योग का भी वर्णन जगह-जगह पर रहता है। जैसे गीता के 03/30 में कहा गया है- 'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्य' -

अर्थात् सभी कर्मों को मुझमें समर्पित कर दो इस वाक्य से भक्तियोग या भगवतनिष्ठा का वर्णन होता है 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम' से तात्पर्य है कि प्रकृति से उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहें है सम्पूर्ण क्रियाएं गुणों में, इन्द्रियों में ही हो रही हैं, 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' अर्थात् गुण और कर्म के विषय में जानने वाला तत्ववेत्ता ऐसा मानता है कि मेरा इन गुणों से, इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा यदि ज्ञात हो जाय और इसके बाद कर्तापन के अभिमान का भी त्याग कर दे तो इसे 'ज्ञानयोगनिष्ठ' कहते है।

'कर्मयोगेनयोगिनाम्' से तात्पर्य है कि कर्म तथा उसके फल में किसी प्रकार की कामना, ममता और आसक्ति का सर्वथा त्याग कर देना, तथा कर्म की सिद्धि और असिद्धि में सम रहना 'कर्मयोग' है।

अब प्रश्न एक स्वाभाविक उठेगा कि क्या कोई मनुष्य ' ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' का एक साथ सम्पादन कर सकता है यदि एक साथ सम्पादन करें तो उसको कौन सी निष्ठा कहेंगें- इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि दोनो निष्ठा एक साथ एक व्यक्ति नहीं कर सकता है क्योंकि सांख्य योग में आत्मा और परमात्मा में अभेद सम्बन्ध मानकर परमात्मा के निर्गुण- निराकार, सत्-चित् आनन्द स्वरूप का चिन्तन किया जाता है जबकि कर्मयोग में फलाकांक्षा रहित कर्म को करते हुये भगवान के सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वेश्वर मानकर उपासना किया जाता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। 4।।

अन्वय- पुरूषः (मनुष्य) कर्मणां (कर्मों के) अनारम्भात् (अनुष्ठान किये बिना) नैष्कर्म्यं (निष्क्रिय अवस्था को) न अश्नुते (प्राप्त नहीं कर सकता), संन्यसनादेव (केवल संन्यास ग्रहण या कर्मत्याग से) सिद्धिं (सिद्धि को) न अधिगच्छति (नहीं प्राप्त कर सकता) ॥ 4।।

अर्थ- कर्मों का अनुष्ठान न करके मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त या आत्मज्ञान में स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता, फिर केवल कर्मत्याग से भी सिद्धि अर्थात् आत्मज्ञान में प्रतिष्ठा
प्राप्त नहीं होती।

व्याख्या- मनुष्य न (तो) कर्मों के न करने से निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों की त्यागने मात्र से भगवत् सिद्धि रूचि साक्षात्कार रूपी सिद्धि को प्राप्त होता है। अतएव सम्यक चित्त शुद्धि के लिये ज्ञानोत्पत्ति पर्यन्त वर्णाश्रमोचित् कर्मादि करना चाहिये। अन्यथा चित्तशुद्धि के अभाव में ज्ञानोत्पत्ति न होगी। कर्मयोग का आचरण करने वाला मुनष्य कर्मों को करते हुये ही निष्कर्मता को प्राप्त होता है। निष्कर्मता से तात्पर्य जिस परिस्थिति में मनुष्य के कर्म अकर्म हो जाते है अर्थात् बन्धन कारक नहीं होते हैं उस स्थिति को 'निष्कर्मता' कहते है। जो मनुष्य निष्काम भाव से अपने कर्तव्यों को करता है उसके फल में आसक्ति नहीं रखता है तब वह कर्म बन्धनकारी नहीं होते है। इसलिये जो आसक्ति अर्थात् फलासक्ति के बिना कर्म होता है वही कर्म निष्काम कर्म कहा जाता है मनुष्य यदि कर्मों का आरम्भ न करें, तो निष्कर्मता की भी प्राप्ति सम्भव नहीं है भगवान कहते है कि हे अर्जुन यदि तुम निष्काम कर्म करोगे तो उसका परिणाम कर्म बन्धन से मुक्त रहेगा क्योंकि सम्बुद्धि से युक्त ज्ञानी जन कर्मों से उत्पन्न होने फल को त्याग कर जन्म रूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परमपद को प्राप्त हो जाते है- 'जन्म बन्ध विनिर्मुक्तः पदमं गच्छन्त्यनामयम्ः' (2/51) श्री कृष्ण भगवान आगे स्पष्ट करते है कि इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिये कि यदि मैं कर्म न करू तो अपने आप ही बन्धन से मुक्त हो जाऊँगा फिर कर्म करने की क्या आवश्यकता है। इसलिये ऐसा कोई भ्रम उत्पन्न न हो इसलिये कर्मयोग के

प्रकरण के प्रारम्भ में भी भगवान ने कहा कि- 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' - अर्थात् तुम्हारा कर्म न करने में आसक्ति नहीं होनी चाहिये 'सिद्धिम' से तात्पर्य है कि जब साधक को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब एक ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है जिसमें आत्मा-परमात्मा का किंचित मात्र भी भेद नहीं रहता है और वह स्वयं ही ब्रह्म रूप हो जाता है। इसलिये इस स्थिति को सिद्धि कहते हैं। समस्त कामना युक्त भोग पदार्थों ममता, आसक्ति, कर्तापन, आदि का अभिमान त्याग कर परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करने से सिद्धि प्राप्त होती है केवल कर्मों के त्याग मात्र से सिद्धि प्राप्त नही होती है- न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति। इस प्रकार सिद्धि प्राप्त करने के लिए कर्तापन आदि का त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभेद भाव से अवस्थित हो जाना आवश्यक है इस प्रकार कर्मयोगी का 'नैष्कर्म्य' वह अवस्था है जहां वह तीव्र से तीव्र कर्म करता है। पर कर्तापन न रहने के कारण कर्म उसे क्षुब्ध नहीं कर पाता है यही गीता में वर्णित 'पद्मपत्रमिवांम्भसा' की स्थिति है कर्मयोगी के लिए सिद्धि का अर्थ है उसकी अपनी साधना में सफलता।

ज्ञानी और योगी दोनो को 'नैष्कर्म्य' और 'सिद्धि' की प्राप्ति होगी यदि वह अपने कर्म को बीच में नहीं छोडेंगे तब कर्म के पीछे किसी प्रकार की कामना नहीं होनी चाहिये क्योंकि कर्म बन्धन कारी होता है वह बन्धन में बांध लेता है उसमें विष होता है यह कर्ता के जीवन को विसाक्त कर देता है किन्तु निष्कामता से कर्म किया जाय तो बन्धन का डर नहीं रहता है कर्म बन्धन कारी पर अपरिहार्य है इस श्लोक का निष्कर्ष यह निकला है कि नैष्कर्म्य की अवस्था प्राप्त करने के लिए कर्म करों, निष्काम हो कर कर्म करों, कर्तापन और भोक्तापन का त्याग करो- यदि ज्ञानयोगी हो तो विवेक द्वारा और यदि कर्मयोगी तो समपर्ण के द्वारा कर्मों से कोई मुक्त नहीं हो सकता है।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।5।।

अन्वय- हि (निश्चय ही) कश्चित् (कोई), जातु (कभी), क्षणम् अपि (क्षण काल भी), अकर्मकृत् (कर्म न करके), न तिष्ठति (नहीं रह सकता है) हि (क्योंकि) प्रकृतिजैर्गुणैः (प्रकृति जन्य गुणों के द्वारा) अवशः (अवश होकर), सर्वः (सब लोग) कर्म कार्यते (कर्म में प्रवर्तित होते है)।। 5।।

अर्थ- ''कभी कोई क्षण भर के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गण सबको विवश करके उनसे कर्म कराते रहते है।

व्याख्या- कोई भी पुरूष किसी भी अवस्था में क्षण मात्र के लिए भी, ज्ञानी हो या अज्ञानी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है क्योंकि सभी पुरूष प्रकृति से उत्पन्न हुये गुणों के द्वारा विवश होकर कर्म करते है। कारण कि प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न गुण जब तक उत्पन्न गुण जब तक जीवित रहते है तब तक कोई भी पुरूष कर्म किये बिना नहीं रह सकता है। इसलिये जबतक शरीर रहता है तब तक मनुष्य अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर किंचित कर्म करता रहता है। कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी मूढ़ हो या विवेकी लेकिन सभी को अपना जीवन निर्वाह करने के लिए शरीर से ऐच्छिक या अनैच्छिक कर्म करना पड़ता है। भगवान कहते है कि कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो कर्म को छोड़कर एक क्षण के लिए भी रह सके।जब तक शरीर है तब तक उठना, बैठना, खाना, पीना, श्वास लेना, सोना आदि कर्म कभी रूक नही सकता है। 'क्षणमं' पद का प्रयोग करके यह बताने का प्रयास किया गया है कि जो ज्ञानी व्यक्ति है वह यदि कहता है कि शरीर से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं कुछ भी कर्म नहीं करता हूँ फिर भी शरीर के निर्वाह के लिए उसे कर्म करना पड़ेगा

जैसे, श्वास लेना, पलक झपकना आदि ऐसे कर्म है जो इच्छा करके भी व्यक्ति रोक नहीं सकता है। ये सब अनैच्छिक कर्म की श्रेणी में आता है और ऐच्छिक श्रेणी में वे कर्म आते है जो इच्छा पूर्वक विचार करके चिन्तन-मनन करके किया जाता है। इस प्रकार 'जातु' पद से यह बताने का प्रयास किया गया है कि व्यक्ति किसी भी अवस्था में हो , अवस्था से तात्पर्य जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति मुच्छा आदि किसी भी अवस्था से है। किसी भी अवस्था में व्यक्ति कर्म किये बिना नहीं रह सकता है। मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के किये हुये कर्मो के संस्कार से उत्पन्न स्वाभाव को प्राप्त करता है और इसी स्वभाव के अधीन होकर कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार गुणो के वश में होकर कर्म करने के लिए मनुष्य बाध्य होता है। 'प्रकृतिजैर्गुणैः' से तात्पर्य है प्रकृति जनित गुण। सांख्य दर्शन में गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है- 'गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः' । परन्तु भगवान के मत में तीनों गुण प्रकृति के कार्य है, इस बात को और अत्यधिक प्रमाणित करने के लिए ही भगवान ने यहां 'गुणैः' पद के साथ 'प्रकृतिजैः' विशेषण को भी रखा है। इसी तरह गीता के 13/19 वे श्लोक में 'प्रकृति संभवाः' और कहीं 'प्रकृतिजान' 13/21 'कहीं प्रकृति संभवाः' (14/5) और कहीं प्रकृतिजैः (18/40) विशेषण देकर अन्यत्र भी जगह-जगह गुणों को प्रकृति का कार्य बतलाया है। 'कार्यते ह्यवशः कर्म' अर्थात कर्म करने में हम परतंत्र हो सकते है किन्तु उनमें रागद्वेष करने में अथवा न करने में हम स्वतंत्र है। क्रिया मात्र केवल प्रकृति में ही होती है। मनुष्य प्रकृति के गुणों के अधीन तब हो जाता है जब वह गुणों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तब वह प्रकृति की क्रियाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्य जाग्रत, सुषुप्ति, स्वप्न, मूच्छा, समाधि आदि अवस्थाओं में भी क्षणमात्र बिना कर्म किये नहीं रह सकता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।6।।

अन्वय- यः (जो) कर्मेन्द्रियाणि (कर्मेन्द्रियों को), संयम्य (संयत कर के), मनसा (मन के द्वारा) इन्द्रियार्थान् (इन्द्रियों के विषयों को), स्मरन् (याद करते हुये) आस्ते (रहता है) विमूढ़ात्मा (मूढ़बुद्धि) सः (वह) मिथ्याचारः उच्यते (कपटाचारी कहलाता है) ।। 6।।

अर्थ- इस लिये जो मूढ बुद्धि पुरूष कर्मेन्द्रियों को (वश में) संयत करके, मन के द्वारा इन्द्रिय विषयों का चिन्तन करता रहता है वह निश्चित रूप स्वयं को धोखा देता है और मिथ्याचारी कहलाता है।

व्याख्या- इस श्लोक में यह बताने का प्रयास किया गया है कि बहुत से लोग अपने को योगी बताते है, किन्तु स्वयं इन्द्रिय तृप्ति के विषयों में सदैव लगे रहते हैं। वह सबसे बड़ा धूर्त होता है। भले ही वह यदा-कदा दर्शन् का उपदेश क्यों न दे, ऐसे धूर्त (दम्भी) पुरूष का चित्त सदैव अशुद्ध रहता है। कर्मेन्द्रिय दसों इन्द्रियों का वाचक है, क्योंकि गीता में श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के लिये कहीं भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है और न तो वाणी आदि के लिये कर्मेन्द्रिय शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसलिये 'कर्मेन्द्रियाणि' से तात्पर्य है कि जिनके द्वारा कर्म किये जाय ऐसी सभी इन्द्रियों का वाचक मानना युक्तिसंगत है। इसलिये कर्मेन्द्रियों के अन्तर्गत ही ज्ञानेन्द्रियां मानी गयी हैं। मन की क्रियाऐं संकल्प-विकल्प के रूप में होती हैं, इन क्रियाओं को भी कर्म मानती हैं- 'शरीरवांगमनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः' (18/59) क्योंकि यदि कारण प्रकृति क्रियाशील है तो उसका कार्य भी क्रियाशील होगा क्योंकि कारण के गुण कार्य में सम्मिलित होते है, कारण से ही कार्य का निर्धारण होता है 'संयम्य' पद से तात्पर्य है इन्द्रियों को हठपूर्वक बाहर से रोकना है।

अर्जुन के मन में शंका होती है और श्री कृष्ण भगवान से वह पूछते है कि हे भगवन यदि कोई साधक भगवान का ध्यान करने के लिए अपनी इन्द्रियों को हठपूर्वक विषयों की तरफ जाने से रोकने का प्रयास करता है फिर भी उसका मन उस समय यदि वश में नहीं रहता और वह विषयों का चिन्तन करता रहता है तो क्या उसे भी मिथ्याचारी कहेंगें ? इसका उत्तर देते हुये भगवान कहते हैं कि वह मिथ्याचारी नहीं कहा जायेगा क्योंकि उसका उद्देश्य मन से चिन्तन करने का नहीं है। वह मन को रोकने की चेष्टा करता है। किन्तु उसके मन में पूर्व जन्म की आदत, आसक्ति और संस्कार है उसके कारण मन विषयों की ओर बलात् चला जाता है। अतः उसमें उसका कोई दोष नहीं है, योग, ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। सांसारिक विषय वासना के भोग ऐसे होते है जिनको बाहर से भी मनुष्य द्वारा भोगा जा सकता है। और मन द्वारा भी। बाहर से राग पूर्वक भोग भोगने से अन्तःकरण में जैसा संस्कार पड़ता है वैसा ही संस्कार मन के द्वारा भोग भोगने से या विषयों का चिन्तन करने से पड़ता है। मनुष्य वाह्य विषय भोगों का लोक व्यवहार आदि के भय से त्याग करता है किन्तु मन से भोगों का उपभोग करता रहता है, और मिथ्याभिमान करता रहता है। संसार को दिखाता है कि मैं बहुत बड़ा त्यागी हूँ ऐसे लोगों को 'मिथ्याचारी' कहा गया है। क्योंकि ऐसे लोग ठीक उसी तरह के होते है जैसे स्थिर भाव से खड़ा रहने वाले बगुला मछलियों को चुप-चाप पकड़ कर धोखा देता है क्योंकि कपटी लोगों के मन में दूसरा भाव रहता है, और दिखाने वाला बाहर दूसरा भाव रहता है। अर्थात् हम बोल चाल की साधाराण भाषा में कहते है जो 'जैसा दिखता वैसा होता नहीं है' यही मिथ्याचारी का उदाहरण है। साधक को यह अति आवश्यक है कि जैसे वह अपने को वाह्य भोग पदार्थ आदि से निवृत्त (दूर) रखते है। वैसे ही मन से भी भोग पदार्थों आदि का त्याग कर दें, क्योंकि मन द्वारा भोगों के चिन्तन का सुख लेने से विशेष हानि होती है। वास्तव में मन से भोगों का त्याग कर देना और उसका चिन्तन न करना ही वास्तविक त्याग है। गीता 2/64 में कहा गया है कि- 'रागद्वेष नियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्' अर्थात् वशीभूत अन्तः करण वाला कर्मयोगी साधक राग द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त हो जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। 7।।

अन्वय- अर्जुन (हे अर्जुन !) यः तु (परन्तु जो) मनसा (मन के द्वारा), इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को), नियम्य (संयत करके), असक्तः (अनासक्त भाव से) कर्मेन्द्रियैः (कर्मेन्द्रियों के द्वारा), कर्मयोगं (कर्म योग को) आरभते (अनुष्ठान करते हैं) सः (वह) विशिष्यते (श्रेष्ठ कहलाते हैं) ।। 7।।

अर्थ- ''हे अर्जुन ! जो (पुरूष) मन से इन्द्रियों को वश में कर के अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है।''

व्याख्या- जो मन के द्वारा सारी ज्ञानेन्द्रियों को नियमित और ईश्वर परायण करके कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्म रूपी योग या उपाय का अनुष्ठान करते हैं। फलाकांक्षा से रहित तथा चितशुद्धि कें कारण ज्ञान वान होते है। अर्थात् जो लोग इन्द्रियों को मन के द्वारा क्रिया की परावस्था में रखकर सारे कर्म करते है और कर्मेन्द्रियां सारे कर्म करती हैं अनासक्त रूप होकर वे ही श्रेष्ठ योगी है। 'तु' पद से स्पष्ट किया गया है कि जो अनासक्त होकर कर्म करते है। वह मिथ्याचारी और सांख्ययोगी दोनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। 'मनसा' पद में मन, बुद्धि, अहंकार चित्त सभी का समावेश है। मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का अर्थ है कि विवेकवती बुद्धि के द्वारा मन और इन्द्रियों से स्वयं

का कोई सम्बन्ध न स्वीकार करना मन के द्वारा ही इन्द्रियों पर लगाम लगाया जाता है क्योंकि इन्द्रियों को किस विषय से और कब हटाना है यह इन्द्रियां नहीं तय कर पाती है क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं होती है और न ही स्वतंत्र रूप से उनका कोई आग्रह होता है। जहां मन इन्द्रियों को प्रवृत्त करेगा वहां इन्द्रियां प्रसक्त हो जायेंगी जहां से हटाना चाहेगा वहां से इन्द्रियां हट जायेगी अर्थात इन्द्रियां स्वतंत्र न होकर मन की गुलाम होती है इन्द्रियां वश में तभी हो सकती हैं जब इनके साथ ममता या 'मेरा पन' का अभाव हो जाता है गीता के 12/11 श्लोक में कर्मयोगी के लिए इन्द्रियों को वश में करने की बात आयी है। 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरूयतात्मवान' अर्थात् वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा ही कर्म योग का आचरण होता है। श्लोक में 'असक्तः' पद प्रयुक्त हुआ है इससे तात्पर्य है कि समस्त दोष आसक्ति में ही प्रयुक्त होता है यह आसक्ति दो प्रकार की होती है।

1 - कर्मो में आसक्ति

2 - फलो में आसक्ति

यदि आसक्ति विद्यमान रहती है तो योग सिद्ध नहीं हो सकता है। आसक्ति के रहते योग सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः साधक को कर्मो का त्याग न करके उसमें आसक्ति का ही त्याग करना चाहिये आसक्ति रहित होकर कर्म किये बिना कर्म से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता है। जब कोई भी मनुष्य भी अपने लिए कर्म न करके लोकहित के लिए कर्म करता है तब उसकी फलासक्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। कर्म योगी की वास्तविक परीक्षण आसक्ति रहित होने में ही है। कर्मो के फलों की इच्छा न करना और उसमें सर्वथा असंग हो जाना ही आसक्ति रहित होना है। यह देखने में आता है कि साधारण मनुष्य बिना फल को जाने कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है परन्तु साधक कर्म योगी फलत्याग का उद्देश्य लेकर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है।

यद्यपि ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनो ही फलेच्छाः और आसक्ति का त्याग करते हैं फिर भी ज्ञान योग की अपेक्षा कर्म योग अधिक सुगम सिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि कर्मयोगी को फिर किसी अन्य साधक की आवश्यकता नहीं रहती हैं जबकि ज्ञान योगी को देहाभिमान और क्रिया पदार्थ की आसक्ति मिटाने के लिए निष्काम भाव से किये गये 'कर्मयोग' की आवश्यकता रहती है। पाँचवें अध्याय में अर्जुन पूंछते है कि सन्यास और योग में कौन श्रेष्ठ है। तब भगवान ने उत्तर में दोनों को ही कल्याण करने वाला बताकर 'कर्मसन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' को श्रेष्ठ कहा है।आपने अब तक देखा कि मिथ्याचारी की निंदा और कर्मयोग की प्रशंसा करके अब श्री कृष्ण अर्जुन को कर्म करने का उपदेश देते हैं-

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। 8।।

अन्वय- त्वं (तुम) नियतं (नित्य) कर्म (कार्य) कुरू (करो) हि (क्योंकि) अकर्मणः (कर्म न करने की अपेक्षा) कर्म ज्यायः (कर्म करना श्रेष्ठ है), अकर्मणः (कर्म न करने पर) ते (तुम्हारी) शरीरयात्राअपिच (शरीर यात्रा भी), न प्रसिद्धयेत् (निर्वाह न होगा) ।। 8।।

अर्थ- तू शास्त्रविहित स्वधर्म रूपी कर्तव्य कर्म को करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

व्याख्या- हे अर्जुन ! जब कर्म किये बिना काम नहीं चल सकता तो तुम नित्यकर्म सन्ध्योपास्नादि करो। क्योंकि कर्मों से शून्य होने पर तुम्हारी शरीर यात्रा का भी निर्वाह न होगा। इस प्रकार निरन्तर क्रिया की परावस्था में रहकर तथा फलाकांक्षा रहित होकर कार्य करना

चाहिये। क्योंकि कर्तव्य कर्म करने से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध होता है, और उसके पापों का प्रायश्चित भी होता है। तथा कर्तव्य कर्म न करने से पाप का वह भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और प्रमाद में फंसकर अधोगति प्राप्त होता है। अतः कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है। ''मोक्ष्यसेऽशुभात'' (4/16) अर्जुन ! इस कर्म को करके तू संसार बन्धन रूपी अशुभ से छूट जायेगा। 'नियत' की व्याख्या करते हुये शंकर अपने गीताभाष्य में लिखते है 'नित्यं यो यस्मिन कर्मणि अधिकृतः फलाय च अश्रुतं तद् नियतम' अर्थात् जो कर्म श्रुत के अनुसार कोई फल नहीं देता है ऐसे जिस कर्म का जो व्यक्ति अधिकारी है उसके लिए वह नियत कर्म हैं इसके करने से फल तो नहीं मिलता है लेकिन न करने से दोष अवश्य मिलता है।

गीता में मनुष्यों के लिए कर्तव्य बतायें गये है जो उनके वर्ण धर्म, स्वभाव और परिस्थित के अनुकूल है। उन सभी शास्त्रविहित कर्तव्यों का पालन अवश्य ही सभी व्यक्ति को करना चाहिये 'नियतमपद' से भगवान ने अर्जुन के इस भ्रम को दूर किया है जिसके कारण अर्जुन को भगवान के वचन परस्पर विरोधी और मिले जुले से लग रहे थे भगवान अर्जुन को नियत कर्तव्य बता रहे है कि तुम क्षत्रिय हो और युद्ध करना तुम्हार स्वधर्म है और यह तुम्हारे वर्णाश्रम स्वभाव के अनुकूल है। इसलिये तुम्हें शास्त्रविहित इस कर्तव्य कर्म का पालन अवश्य मेव करना चाहियें। इसलिये तुम इस कर्म का त्याग नहीं कर सकते हो यह देखने में हिंसात्मक और क्रूर अवश्य लगता है बल्कि निष्काम भाव से किये जाने पर वह कल्याण का हेतु बनता है। इसलिये हे अर्जुन तुम संसय छोडकर युद्ध करने के लिए खड़े हो जाओं। अर्जुन का विचार युद्ध रूप घोर कर्म में लगाने का है। इसीलिये आगे 18/48 में कहते है कि दोष युक्त होने पर भी सहज (नियत) कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये- 'सहजंकर्म कौन्तैसदोषमयि न त्यजेत्' अर्थात् इसके त्याग से दोष लगता है एवं कर्मों के साथ अपना सम्बन्ध भी बना रहता है। अतः कर्म का त्याग करने की अपेक्षा नियत कर्म करना ही श्रेयस्कर है। और यदि आसक्ति रहित होकर कर्म किया जाय तो और भी श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इसमें कर्मों के साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।इस श्लोक में श्री कृष्ण भगवान यज्ञ की परिभाषा बताते हुये कहते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। 9।।

अन्वय- यज्ञार्थात् (यज्ञ के लिये) कर्मणः (कर्मों से) अन्यत्र (भिन्न) अयंलोकः (यह संसार, ये लोग) कर्मबन्धनः कर्मबन्धन (कर्मबन्धन से युक्त हो जाता है) कौन्तेय (हे अर्जुन) तदर्थ (उसके लिये) मुक्तसङ्गः (निष्काम होकर) कर्म समाचर (कर्म का अनुष्ठान करों)।। 9।।

अर्थ- यज्ञ के लिये किये गये कर्मो के सिवाय अन्य कर्मों से इस संसार में व्यक्ति कर्म बन्धन से युक्त हो जाता है, अतः हे कौन्तेय, तू आसक्ति को छोडकर यज्ञ के निमित्त कर्म कर।

व्याख्या- आसक्ति और स्वार्थ भाव से कर्म करने पर बन्धन होता है किन्तु जो कर्म फलाशा के बिना केवल यज्ञ के लिये किये जाते हैं उससे बन्धन नहीं होता है। बन्धन भाव से होता है, क्रिया से नहीं होता है। तैत्तरीय संहिता (1/7/4) में यज्ञ का अर्थ विष्णु कहा गया है- यज्ञो वै विष्णुः अर्थात् हमारा कर्म ईश्वर समर्पित बुद्धि से होना चाहिये। इस प्रकार यज्ञ का अर्थ होम-हवन आदि न होकर व्यापक अर्थ है- ''समर्पण करना''। अब प्रश्न यह है कि भगवान 'यज्ञार्थ' के साथ ''मुक्तसंग'' क्यों कहें। इसके उत्तर में भगवान बताते हैं कि हमारा मानस ऐसा होना चाहिये कि जब कर्म को त्यागने का समय आये तो त्याग दिया जाय, और जब तक करना हो तब तक यज्ञार्थ भाव से किया जाय। फलासक्ति के साथ-साथ कर्मासक्ति का भी त्याग होना चाहिये- यही

यज्ञार्थ कर्म का रहस्य है। यज्ञभाव से जो कर्म किया जाय वह सर्वदा त्रुटि रहित होना चाहिये क्यों कि कर्म को निर्दोष रूप से सम्पन्न करने में उद्यमी होना चाहिये तभी तो भगवान कृष्ण 'योग' की परिभाषा 'कर्म की कुशलता' करते हैं और कहते हैं- ''योगः कर्मसु कौशलम्''॥ गीता में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। 'यज्ञ' शब्द के अन्तर्गत यज्ञ-दान-तप-होम, तीर्थ-सेवन, व्रत, वेदाध्ययन आदि आ जाती है। कर्तव्य मानकर जो भी कर्म किया जाता है जैसे व्यापार, नौकरी, अध्ययन, अध्यापन आदि सब शास्त्रविहित कर्मों का नाम भी यज्ञ है। और जिन कर्मों से दूसरों को सुख पहुँचाने तथा हित करने के लिये कर्म किया जाता है उसको 'यज्ञार्थ कर्म' कहते हैं। यज्ञार्थ कर्म करने से आसक्ति जल्दी मिट जाती है तथा कर्मयोगी के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं गीता के 4/24 में कहा गया है- 'जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जो मुक्त हो गया है और जिसकी बुद्धि स्वरूप ज्ञान में अवस्थित हो गयी है ऐसे केवल यज्ञ के लिये कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं'- 'यज्ञांयाचरतः कर्म समगंर प्रविलीयते' यज्ञार्थ कर्म करने से मनुष्य को बन्धन नहीं होता है और यह पूर्वसंचित कर्म समूह को भी नष्ट कर देता है। यज्ञार्थ कर्म का महत्व अधिक बढ़ जाता है। जब यह यज्ञार्थ कर्म, कर्मयोगी करता हैं तब उसका अपना एक उद्देश्य एवं एक लक्ष्य रहता है- यह लक्ष्य है परमात्मा की प्राप्ति और उसकी वृत्ति सदैव परमात्मा में ही रहती है। अयंलोकः से अभिप्रायः है कि मनुष्य का कर्म करने में ही अधिकार है।तथा मनुष्य योनि में किये हुये कर्मो का फल भोगने के लिये दूसरी योनियाँ मिलती हैं दूसरी योनियों में पुण्य-पाप रूप कर्म का सृजन नहीं होता है केवल मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जिसमें किये गये अच्छे-बुरे-पाप-पुण्य आदि कर्मों के फल को भोगना पड़ता है क्योंकि अन्य योनियों के कर्म बांधने वाले नहीं होते है केवल मनुष्य योनि में किये गये कर्म ही बन्धन कारक होते हैं इस प्रकार कर्तव्य कर्म करने का अधिकार केवल मनुष्य को है 'बन्धन' भाव से होता है क्रिया से नहीं मनुष्य कर्मों से नहीं बंधता है प्रत्युत कर्मों में वह जो आसक्ति और स्वार्थ भाव रखता है, उनसे ही वह बंधता है 'मुक्तसंग' से तात्पर्य है कि कर्मों में, पदार्थों में तथा जिनसे कर्म किये जाते हैं उन शरीर, मन, बुद्धि आदि सामग्री में ममता-आसक्ति होने से ही बन्धन होता है।आगे गीताध्याय 3, श्लोक 10-16 में बताया गया है कि यज्ञ ही संसार चक्र की धुरी है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ 10॥

अन्वय- पुरा (पहले-सृष्टि के प्रारम्भ में), प्रजापतिः (ब्रह्मों ने), सहयज्ञाः (यज्ञ के साथ), प्रजाः (जीवों की), सृष्ट्वा (सृष्टि करके), उवाच (कहा था), अनेन् (इस यज्ञ के द्वारा), प्रसविष्यध्वं (उत्तरोत्तर बृद्धि को प्राप्त होओ), एषः (यह), वः (तुम लोगों का), इष्ट कामधुक् (अभिष्ट कामनाओं को देने वाला), अस्तु (हो)॥ 10 ॥

अर्थ- ''सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त होओ (करो), यह तुम्हारे लिये अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करनें वाला बनें।''

व्याख्या- इस श्लोक में प्रजापति ब्रह्मा ने मनुष्यों को आर्शीवाद दिया है। उनका अभिप्राय यह है कि तुम लोगों के लिये मैं ने इस स्वधर्म रूप यज्ञ की रचना कर दी है, इसका सांगोपांग पालन करने से तुम्हारी उन्नति होती रहेगी तुम्हारा पतन नहीं होगा। और तुम लोग वर्तमान स्थिति से ऊपर उठ जाओगे और यज्ञ तुम लोगों की इस लोक में समस्त आवश्यकताओं की पुर्ति में सहायक सिद्ध होगी। ''यज्ञ'' का तात्पर्य है ''समर्पण''। अग्नि में आहुति डालना समर्पण का ही

प्रतीक है। ''यज्ञ'' को ''इष्ट कामधुक'' कहा गया है। जब भगवान ने सृष्टि की तब भगवान की आज्ञा से ब्रह्माजी ने प्रजा की रचना किये है। इससे यह सिद्ध होता है कि गीता भगवान को ही सृष्टि का रचायिता मानती है। और इस तथ्य की पुष्टि 4/13, 17/23 में किया गया है।

इस प्रकार यज्ञ के साधन सहित यज्ञ को रचकर भगवान ने अपनी समस्त प्रजा से कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग फलो-फूलों अर्थात् अपनी उन्नति करो। जैसे पिता अपने बालक को कुछ पूंजी देकर कहे कि इसे ले जाकर कुछ व्यापार करो और उससे अपनी वृद्धि करों। इसी प्रकार जगत्पिता भगवान ने भी अपनी प्रजा को आदेश दिया। इससे यह उपदेश देते हैं कि खेती व्यापार, नौकरी आदि कर्म करते हुये समय-समय पर यज्ञ भी करते रहना, तभी तुम्हारी उन्नति होगी। नही तो थोड़े दिन में जन-धन नष्ट हो जायेगा। यह यज्ञ तुम लोगों के लिये काम यानि परम पुरूषार्थ मोक्ष का और उसके साथ धन-पुत्र आदि समस्त इच्छित भोगों को पूर्ण करने वाला है। ब्रह्मा ने जो कहा है- 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ'' यह कोई साधारण चीज नहीं है यह अत्यन्त सारगर्भित है। इन शब्दों के भीतर विश्वमानवता का संदेश छिपा हुआ है। ब्रह्म के इस निर्देश के अनुसार क्रमशः मनुष्यों में समाजतंत्र गठित हूआ है और इसी से प्रजा तंत्र गठित होने का संकेत मिलता है। संचित पदार्थों का आपस में आदान-प्रदान हो तथा उन सबको सभी लोगों में समान रूप से वितरण हो, केवल इसी उपाय से मानव समाज कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, दूसरों की अपेक्षा या वंचित करके नहीं।

अभ्यास प्रश्न 1

बहुविकल्पीय प्रश्न

सही विकल्प पर चिन्ह लगायें-

प्रश्न 1- जब कर्म हमें उस परमात्मा से युक्त कर दे तो उसे क्या कहा जाता है-

(अ) ज्ञानयोग (ब) कर्मयोग

(स) भक्तियोग (द) समत्व योग

प्रश्न 2- 'व्यामिश्रेण इव' वाक्य से किसकी बुद्धि मोहित हो रही है-

(अ) अर्जुन (ब) श्री कृष्ण

(स) संजय (द) धृतराष्ट्र

प्रश्न 3- इस संसार में कितने प्रकार की निष्ठा कही गयी है-

(अ) 2 (ब) 3

(स) 4 (द) 5

प्रश्न 4- 'नैष्कर्म्य' शब्द का क्या अर्थ है-

(अ) कर्मनिष्ठा (ब) ज्ञाननिष्ठा

(स) योगनिष्ठा (द) भक्तिनिष्ठा

प्रश्न 5- व्यक्ति को धर्म करने के लिये कौन विवश करता है-

(अ) प्रकृति से उत्पन्न गुण (ब) राग

(स) ज्ञान (द) द्वेष

प्रश्न 6- कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से विषयों का चिन्तन करने वाले व्यक्ति को क्या कहा जाता है-

(अ) पापी (ब) मिथ्याचारी

(स) कर्मयोगी (द) ज्ञानयोगी

प्रश्न 7- रिक्त स्थानों की पुर्ति कीजिये-

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्मज्यायो.....

(अ) यदेकर्मणः (ब) ह्यकर्मणः

(स) शरीर यात्रापि (द) कर्मेन्द्रियैः

प्रश्न 8- ज्ञानियों के लिये ज्ञानयोग की निष्ठा कही गयी है, तो कर्मयोगियों के लिये किस प्रकार की निष्ठा कही गयी है-

(अ) सकाम कर्मयोग (ब) ज्ञाननिष्ठा

(स) कर्मयोग (द) योगनिष्ठा

प्रश्न 9- किस प्रकार के कर्म करने से व्यक्ति इस संसार में कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है-

(अ) यज्ञार्थ कर्म (ब) फलासक्ति कर्म

(स) विराट कर्म (द) अकर्म

प्रश्न 10- यदि कर्म यज्ञ भावना से नहीं किया जाय तो उसके फल कैसे होंगे-

(अ) बन्धनकारक (ब) आसक्ति रहित

(स) फलाकांक्षा रहित (द) मुक्तिकारक

प्रश्न 11- सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने यज्ञ के साथ किसको उत्पन्न किया-

(अ) देवता (ब) भगवान

(स) प्रजा (द) अन्न को

प्रश्न 12- यज्ञ के द्वारा किसको पुष्ट करने की बात कही गयी है-

(अ) प्रजा को (ब) ब्रह्मा को

(स) ईश्वर को (द) देवताओं को

प्रश्न 13- इष्टकामधुक्' किसे कहा गया है-

(अ) प्रजा को (ब) अन्न को

(स) यज्ञ को (द) प्रजापति ब्रह्मा को

प्रश्न 14- 'यज्ञ' का तात्पर्य क्या है-

(अ) समर्पण (ब) बुद्धि

(स) आहुति (द) प्रजा

प्रश्न 15- यज्ञार्थ कर्म को कैसा कर्म कहते हैं-

(अ) आसक्ति से रहित (ब) स्वार्थ सिद्धि

(स) सकाम (द) बन्धनकारी

5.3.1 श्लोक संख्या 11 से 20 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या,

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। 11 ।।

अन्वय- अनेन (इस यज्ञ के द्वारा), देवान् (देव गण को), भावयत (पुष्ट करो) ते (वे), देवाः (देवता), वः (तुम लोगों को) भावयन्तु (पुष्ट करें), परस्परं (आपस में), भावयन्तः (पुष्ट करते हुये), परंश्रेयः (परम कल्याण), अवाप्स्यथ (प्राप्त करोगे)।। 11।।

अर्थ-'' इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को पुष्ट करो और वे देवता तुम लोगों को पुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषण करते हुये परम कल्याण को प्राप्त होओगें।

व्याख्या- ब्रह्मा जी सम्पूर्ण प्राणियों की उन्नति के लिये मनुष्यों को अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार कर्तव्य पालन रूपी यज्ञ कर्म का आदेश देते है। अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने से मनुष्य का स्वतः कल्याण हो जाता है। कर्तव्यकर्म का पालन करने का मुख्य अधिकारी मनुष्य ही है क्योंकि मनुष्य ही विवेक-ज्ञान सम्पन्न है। इस कथन से ब्रह्मा जी ने यह भाव दिखलाया है कि स्वार्थ और फलासक्ति का त्याग करके एक-दूसरे को उन्नत बनाने के लिये अपने कर्तव्य का पालन करने से तुम लोग इस सांसारिक उन्नति के साथ-साथ परम कल्याण रूप मोक्ष को भी प्राप्त हो जाओगें। भगवद् गीता में कहा गया है कि भगवान कृष्ण स्वयं सभी प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं- ''भोक्तारं यज्ञतपसाम्'' अतएव सभी प्रकार के यज्ञों का मुख्य प्रयोजन यज्ञपति को प्रसन्न करना हैं। जब यज्ञ भली-भांति विधि से सम्पन्न किये जाते है। तो विभिन्न विभागों के अधिकारी देवता प्रसन्न होते हैं और प्राकृतिक पदार्थों का अभाव नही रहता है। ब्रह्मा जी का देवताओं के लिये स्पष्ट आदेश है कि मनुष्य यदि तुम लोगों की यज्ञ, सेवा, पूजादि न करे तो भी तुम लोगों की अपना कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करों और मनुष्यों के प्रति आदेश है कि देवताओं की उन्नति ओर पुष्टि के लिये ही स्वार्थत्याग पूर्वक यज्ञ-पूजादि कर्म करों। यज्ञ से सारे कर्म पवित्र हो जाते हैं- जैसा कि श्रुतियों में कहा गया है - ''आहार शुद्धौ सत्त्वशद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रवा स्मृतिः स्मृति लम्भे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः''। मनुष्य योनि बहुत दुर्लभ है चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद जीव मानव शरीर पाता है। इस सृष्टि में मनुष्य से ही कर्तवय पालन की अपेक्षा भी की गयी है। क्योंकि यही बुद्धिमान प्राणी है। मनुष्यके कर्म ही बन्धन कारी और मुक्तिकारी होते है और किसी के नहीं। मुक्ति स्वाभाविक है और बन्धन अस्वाभाविक है। इसलिये जो मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करता है उसका कल्याण स्वभाविक होता है- 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' निष्काम भाव से अपने कर्तवय का पालन करने से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। ब्रह्मा जी ने देवाताओं और मनुष्यों के लिये परस्पर एक दूसरे का हित-परोपकार-भलाई आदि करने की बात कही है। चर्तुवर्ण की सृष्टि भी इसी उद्देश्य से ही की गयी है जिससे एक वर्ण की निर्भरता परस्पर दूसरें वर्ण पर निर्भर होती है। चारो वर्ण परस्पर एक दूसरे के हित के लिये अपना-अपना कर्तव्य कर्म करें तो वे पर कल्याण को प्राप्त हो जायेंगे। यह बहुत ध्यातव्य तथ्य है कि पूरे सृष्टि में अपने लिये कुछ भी नहीं है। सब दूसरों के लिये है - जैसे इदं अग्नये इदं न मम्- इदं ब्रह्मणे न मम् आदि। इसका अर्थ है स्वयं सुख न ले दूसरे को भी सुख दें। सृष्टि की रचना भोग के लिये नहीं अपितु उद्धार के लिये हुई है। इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञानुष्ठान का आदेश देकर मानवता के हित में महान कार्य किया है। इस प्रकार ब्रह्मा ने जो कहा है ''परस्परंभावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इन शब्दों के भीतर विश्व मानवता को महान उपदेश छुपा हुआ है क्योंकि परस्पर की सहायता एवं मनोभावों के आदान-प्रदान के माध्यम से हम लोग आत्म केन्द्रित न बनकर, समाजकेन्द्रित, देशकेन्द्रित और विश्व केन्द्रित होने की शिक्षा प्राप्त करते है।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तनप्रदायैभ्यो यो भुड्.क्ते स्तेन एव सः।। 12।।

अन्वय - हि (निश्चय ही), यज्ञभाविताः (यज्ञ द्वारा सवंर्द्धित), देवाः (देवता लोग), वः (तुमको), इष्टान (वाछिंत), भोगान् (भोगों को), दास्यन्ते (देंगे), तैः (उनके द्वारा), दत्तान् (प्रदत्त भाग), एभ्यः (उनको) अप्रदाय (न देकर), यः भुड.क्ते (जो भोग करता है), सः (वह), स्तेन एव (निश्चय ही चोर है) ।। 12।।

अर्थ - ''निश्चय ही देवतागण यज्ञ से संतुष्ट और पुष्ट होकर तुम लोगों को अभीष्ट भोग्य वस्तुएं प्रदान करेंगें। इसलिये उनके द्वारा प्रदत्त भोंगों को उन्हें बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर ही है।''

व्याख्या - यज्ञ से संतुष्ट हुये देवता लोग तुम्हें सदा-सर्वदा सुखभोग और जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक वाछिंत भोग पदार्थ प्रदान करते रहेंगें, इसमें सन्देह की बात नहीं है क्योंकि देवगण अपना कर्तव्य पालन करने के लिये बाध्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जो भी भोग हमें प्राप्त होता है वह सूक्ष्म शक्तियों की कृपा से ही प्राप्त होता है। अतः हम मनुष्यों का परम कर्तव्य हो जाता है कि हम प्राप्त भोंगों का अग्र भाग देवताओं को अर्पित करें और फिर हम स्वयं लें। यदि हम ऐसा नहीं करते है, तो हम चोर हैं। ''स्तेन'' (चोर) शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः चोर वह होता है जो दूसरों की वस्तु बिना बतलाये ले लेता है, यहां पर ''कृतघ्न'' शब्द का प्रयोग अधिक उर्जित होता है। प्राप्त भोग में से देवताओं का भाग स्मरण करके आदर पूर्वक न अलग करना ही ''कृतघ्नताः'' है।

''चोर'' इस अर्थ में कहा गया है कि देवों द्वारा प्रदत्त भोग बिना उनके स्मरण के ही भोगते हुये वास्तविक स्वामी का स्मरण नहीं करना ''चोरी'' है। गीता शांकर भाष्य में उदृत्त है- ''यो भुड्.क्ते स्वदेहो इन्द्रियाणि एव तर्पयति, स्तेन एव तस्कर एव सः देवादिस्वाः पहारी'' अर्थात् जो केवल अपने शरीर और इन्द्रियों को ही तृप्त करता है, वह देवताओं के स्वत्व को हरण करने वाला 'चोर' ही है। जो मनुष्य दूसरों का भाग हिस्सा भी स्वयं उपभोग कर जाता है वह चोर है- 'स्तेन एव सः' शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी हमारे पास है वह सबका सब हमें संसार से मिला है। संसार से मिले वस्तु केवल अपनी स्वार्थ सिद्धी में लगाना इमानदारी नहीं है जो मनुष्य चोर होता है। उसका अन्तः करण भी कभी शुद्ध नहीं रहता है। जैसे देवता लोग अपने कर्तव्य का पालन करते है। वैसे ही मनुष्यों को भी अपने सामर्थय अनुसार करना चाहिये, नही तो सृष्टि में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। गीता के 3/23, 24 में भगवान ये कहते है कि यदि मैं सावधानी पूर्वक कर्तव्य का पालन न करू तो समस्त लोक नष्ट भ्रष्ट हो जाय। प्रजापति ब्रह्मा जी ने सृष्टि के समय देवताओं और मनुष्यों दोनों को अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने की आज्ञा दी थी।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। 13।।

अन्वय- यज्ञ शिष्टाशिनः (यज्ञ का बचा हुआ खाने वाले), सन्तः (साधु लोग), सर्वकिल्विषैः (समस्त पापों से), मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं), तु (परन्तु), ये पापाः (जो पापात्मा लोग), आत्मकारणात् (अपने ही लिये), पचन्ति (पकाते हैं), ते (वे), अधं (पाप को), भुञ्जते (भोजन करते हैं) ।। 13।।

अर्थ- ''यज्ञ का बचा हुआ खाना खाने वाले सन्तजन समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो केवल अपने लिये पकाते हैं, वे पापीजन तो पाप ही खाते हैं।''

व्याख्या-संसार चक्र की धुरी में यह यज्ञ विद्यमान हैं। यह संसार चक्र ही एक विराट यज्ञ है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, वायु, अग्नि, वरूण, पृथ्वी, पशु-पक्षी आदि सभी अपनी-अपनी आहुतियां दे रहें है। अतः विवेकी मनुष्य का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इस विराट यज्ञ में अपनी भी आहुति दे। 'यज्ञ' से तात्पर्य समर्पण से है। जाने अनजाने में गृहस्थ लोगों से पाप हो जाता है ये पाप पांच श्रेणियों का होता है-

कण्डनी पेषणी कुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।
पंचसूचना गृहस्थस्य वर्तन्तेऽहरहः सदा।।

अर्थात् ओखली, चक्की, चूल्हा, जल का घड़ा और झाड़ू इन वस्तुओं का व्यवहार प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन करना पड़ता है। जिससे छोटे-2 कीड़े मौकेड़े नष्ट हो जाते है- इन पापों से मुक्त होने के लिए पंचमहायज्ञ का विधान किया गया है। मनु स्मृति के अनुसार ये पंचमहायज्ञ है-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तपर्णम्।
होमोदैवो बलिभौति नृयज्ञोऽतिथिपूजनम।। (3/17)।।

ये पांच प्रकार उपर्युक्त पंचमहायज्ञ को प्रत्येक गृहस्थ को करना चाहिये क्योंकि शास्त्रों में पांच प्रकार के ऋण कहे गये है उन ऋणों से उऋण होने के लिये पंचमहायज्ञ करना चाहिये क्योंकि मनुष्य का केवल अपने और अपने परिवार के प्रति ही कर्तव्य नहीं है बल्कि समाज और समाज के सभी प्राणियों के प्रति भी है।जो मनुष्य सबको खिलाकर फिर स्वयं खाता है वह मानो यज्ञ का उच्छिष्ठ खाता है। इसलिये उसको संत कहा जाता है। यज्ञांवशिष्ट खाने से वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। पाप कर्म से तो बन्धन होता ही है किन्तु सकाम भाव से किये गये पुण्य कर्म भी बन्धनकारक होते है। यज्ञ शेष का अनुभव करने पर पाप और पुण्य दोनो ही नहीं रहते- ''बुद्धियुक्तो जहातीह उभेसुकृत दुष्कृतेः'' (गीता 2/50)। भगवान यज्ञशिष्टाशिनः समझाते हुये कहते है कि- जो यज्ञ से बचे हुये अन्न को खाता है अर्थात् जो अपनी कमाई का हिस्सा यथायोग्य देकर फिर बचे हुये को स्वयं काम में लाता है, ऐसे स्वार्थ त्यागी कर्मयोगी का वाचक यज्ञशिष्टाशिनः पद है।

पूर्वापर सम्बन्ध-

इस अगले श्लोक में सृष्टि चक्र को सुरक्षित रखने के लिये विराट यज्ञ चक्र की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। 14।।

अन्वय- भूतानि (प्राणी), अन्नात् (अन्न से), भवन्ति (उत्पन्न होते है), पर्जन्याद (मेघ से), अन्नसंभवः (अन्न की उत्पत्ति होती है), यज्ञात् (यज्ञ से), पर्जन्यः (मेघ), भवति (होता है), यज्ञः (यज्ञ), कर्मसमुद्भवः (कर्म से उत्पन्न होता है) ।। 14।।

अर्थ- ''अन्न से प्राणी उत्पन्न होते है, अन्न की उत्पत्ति मेघ से होती है। मेघ यज्ञ से होता है, और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।''

व्याख्या- ''अन्न'' शब्द का आशय अनाज से न होकर व्यापक अर्थ में है। सृष्टि के समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते है- इसका तात्पर्य यह है कि खाद्य पदार्थों से ही समस्त प्राणियों के शरीर में रज और वीर्य आदि बनते हैं और इसी से भिन्न-2 प्राणियों की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के बाद पोषण भी उसी अन्नादि से होता है। इस प्रकार प्राणियों की उत्पत्ति, बुद्धि और पोषण अन्न से ही होता है। तैत्तरीय उपनिषद में भी कहा गया है- ''अन्नाद्धयेव खलिबैमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति'' अर्थात् ये सब प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्न से ही जीते हैं। फिर आगे कहा गया है कि अन्न मेघ से वर्षा के कारण उत्पन्न होता है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। तदन्नतर मेघ यज्ञ से होता है - मनुस्मृति (3/76) में उल्लेख मिलता है कि- 'अग्नि में विधिपूर्वक दी हुई आहुति सूर्य में स्थित होती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से

अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।' ''गीताशांकर भाष्य यज्ञः अपूर्व स च यज्ञः कर्मसमुदवो यस्य यज्ञस्य अपूर्वस्य स यज्ञः कर्म समुद्भवः।'' अर्थात् ऋत्विक और यजमान के व्यापार का नाम कर्म है और उस कर्म से जिसकी उत्पत्ति होती वह अपूर्व रूप यज्ञ कर्मसमुदभव है। अर्थात् वह अपूर्व रूप रूज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। 15।।

अन्वय- कर्म (कर्म को), ब्रह्मोदभवं (वेद से उत्पन्न), विद्धि (जानो), ब्रह्म (वेद), अक्षर समुद्भवं (अक्षर से उत्पन्न होता है), तस्मात (इसलिये), सर्वगतं (सर्वव्यापी), ब्रह्म (परब्रह्म) यज्ञे (यज्ञ में), नित्य (सर्वदा), प्रतिष्ठितम् (प्रतिष्ठित रहते हैं) ॥ 15॥

अर्थ- '' कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जानो और वेद को अक्षर से इसलिये सर्वव्यापी वेद नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है।''

व्याख्या- मनुष्य को कर्तव्य कर्म करने का ज्ञान वेद से ही होता है। इसलिये कर्मों को वेद से उत्पन्न कहा गया है। परमात्मा ही वेदों के ज्ञान को प्रकाशित करता है 'यस्य निःश्वासितम् वेदाः' कर्तव्य कर्मों के पालन से यज्ञ होता है और यज्ञ से वर्षा होती है वर्षा से अन्न होता है अन्न से प्राणी होते हैं और उन्हीं प्राणियों मे से मनुष्य कर्तव्य-कर्मों के पालन से यज्ञ करते हैं। इस तरह यह सृष्टि चक्र चलता रहता है। भगवान कृष्ण कहते हैं गीता में- अपना कर्म यज्ञ बना लो, इस यज्ञ चक्र में भागी होओ। परमात्मा एक देशीय न होकर सर्वत्र है, सर्वव्यापी है इसीलिये ''सर्वगत'' कहा गया है। सर्वव्यापी होने पर भी परमात्मा विशेष रूप से 'यज्ञ' (कर्तव्य कर्म), में सदैव विद्यमान रहते हैं। अर्थात् निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म का पालन करते हुये मनुष्य परमात्मा को सुगमता से प्राप्त कर सकता है- 'स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिम बिंदति मानवः' (गीता 18/46) यज्ञ में ही परमात्मा को नित्य प्रतिष्ठित कहने का भाव यह है कि यज्ञ ही परमात्मा का उपलब्धि स्थान है। जैसे जमीन सभी जगह जल रहने पर भी केवल कूआं आदि से ही प्राप्त होता है, सब जगह नहीं इस प्रकार सर्वगत् होने पर भी परामात्मा यज्ञ से ही प्राप्त होते है अर्थात् यज्ञ साक्षात् परमेश्वर की मूर्ति है।

गीता शांकरभाष्य में- 'यस्मात् साक्षात् परमात्माख्याद अक्षारात् पुरूष निःश्वासवत् समुद्भूतं ब्रह्म, तस्मात् सर्वार्थ प्रकाशकत्वात् सर्वगतम' अर्थात् वेद रूप ब्रह्म साक्षात् परमात्मा नामक अक्षर से पुरूष के निःश्वास की भांति उत्पन्न हुआ हैं। इसलिये वह सब अर्थों को प्रकाशित करने वाला होने के कारण सर्वगत है। 'सर्वगतम्ब्रह्म' विशेषण सर्वशक्तिमान परमेश्वर का वाचक है। परमेश्वर या यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञों की विधि वेद में बतलायी गयी है वेद भगवान की वाणी है इसलिये यज्ञ साक्षात् परमेश्वर की मूर्ति है इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्य का विशेष रूप से पालन करते हुये भगवत् प्राप्ति करना चाहिये।इस श्लोक में यज्ञ की अनिवार्यता पर बल दिया गया है - इस श्लोक में देखेगें कि यज्ञ के दो भाग स्पष्ट होते हैं एक भाग का नाम भावना रखा गया है तो दूसरे का क्रिया।

श्लोक में आया है "यज्ञःकर्म समुद्भवः" अर्थात् यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है लेकिन मन में शंका यह उत्पन्न होती है कि यज्ञ तो स्वयं एक कर्म है फिर कर्म से कर्म की उत्पत्ति कैसे हो सकती है क्योंकि कारण से ही कार्य कि उत्पत्ति मानी गयी है जो वैज्ञानिक भी और तार्किक भी प्रमाणित होती है लेकिन कार्य से कार्य की उत्पत्ति (कथमपि) किस प्रकार हो सकती है इसके कहने का

तात्पर्य यह है कि यज्ञ समर्पण कि एक प्रतीकात्मक क्रिया के रूप् में प्रतिस्थापित है इसमें जब आहुति दिया जाता है तब मानो आहुति के माध्यम से अपने ही ''अहं'' की बलि दिया जाता है इस यज्ञ का सूर्यादि देवताओं पर सुप्रभाव पड-ता है और प्रसन्न होते हैं और हमें यथोचित मात्रा में पर्जन्य आदि प्रदान करते हैं यह सर्वविदित हैऔर विज्ञान के हिसाब से भी माना जाता है कि सूर्य के कारण ही मेघ बनता है। और यदि सूर्य तथा सूर्य में अवस्थित देवता प्रसन्न हो गये तो पर्याप्त मात्रा में वर्षा आदि ही सकेगी इस प्रकार यह विदित होता है कि यह संसार भावना पर ही टिका है। इस प्रकार यज्ञ कम माध्यम से सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियों को भी, जो विश्व में व्याप्त है उसको अपने वश में कर लेते हैं यज्ञ की तीव्र समर्पण भावना का प्रभाव है पर इस यज्ञ में जो भावना है वह 'कर्म'के विना प्रभावी नहीं हो सकती है यज्ञ की भावना और क्रिया दोनों ऐसे भाग होते हैं जिसके विना यज्ञ पूर्ण हो नहीं सकती है। 'भावना' से जो शक्ति उपजती हैउसे पूर्वमीमांसा में 'अपूर्व' नाम दिया गया है पूर्वमीमांसा दर्शन मानता है कि अपूर्व ही वह शक्ति प्रदान करती है और यज्ञ का दूसरा भागक्रिया कर्म से सम्पन्न होता है इसीलिये कहा गया है कि यज्ञ कर्म से उपजता है ''यज्ञः कर्मसमुद्भवः'' अर्थात् ऋत्विजों और यजमानों कम कर्म संयुक्त रूप से यज्ञ के कार्य को सम्पन्न कराते हैं यज्ञों का ज्ञान हमें वेदों से होता है ये वेद अक्षर या परमात्मा से निकले हैं। और परमात्मा ही यज्ञ के ज्ञान को प्रकाशित करता है-

'यस्य निःश्वासितं वेदाः' -इस प्रकार इश्वर से वेद, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न और अन्न से प्राणी। और फिर प्राणियों को परमात्मा से जोड. दिया जाता है मनुष्य रूपी प्राणी परमात्मा से जुडने के बाद यज्ञ चक्र का अनिवार्य अंग बनता है और इस सृष्टि में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो यज्ञ आदि करके अपना अगला जन्म अच्छा बना सकता है इसलिए भगवान कहते है अपने कर्म करे यज्ञ इना लो और इस चक्र में भागीदार बनों 'तस्मात्सर्वगतंब्रù' से तात्पर्य है कि यह वेद सर्वव्यापी है और सब में व्याप्त है ऐसा कहने का तात्पर्य है कि वेद निर्दिष्ट कर्मों से यज्ञ होते हैं यज्ञ से पर्जन्य, और पर्जन्य से अन्न , और अन्न से प्राणी अत्पन्न होते हैं इसलिये सभी स्तरों में वेद ही व्याप्त होकर स्थित है और यह वेद यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है यज्ञ चक्र से प्रकृति की वृद्वि पोषण होती है इसलिए प्रकृति को भी यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित माना गया है अर्थात् यज्ञ ही प्रकृति की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार संसार को चलाने के लिये यज्ञ की आनिवार्यता पर बल दिया गया है । इस श्लोक में यज्ञ की अनिवार्यता पर बल दिया गया है-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।। 16।।

अन्वय- यः (जो), इह (इस लोक में), एवं (इस प्रकार), प्रवर्तितं (प्रवर्तित), चक्रं (कर्म चक्र को), न (नहीं), अनुवर्तयति (अनुसरण करता), पार्थ (अर्जुन), सः (वह), अधायुः (पापी है), इन्द्रियारामः (इन्द्रियों में रमने वाला है), मोघं (व्यर्थ), जीवति (जीवन-धारण करता है)।। 16।।

अर्थ- '' जो इस लोक में इस प्रकार प्रवर्तित यज्ञ चक्र के अनुसार व्यवहार नहीं करता वह पापी और इन्द्रिय परायण है तथा व्यर्थ ही जीवन धारण करता है।

व्याख्या- परमेश्वर ने ही जीव के पुरूषार्थ की सिद्धि के लिये यज्ञकर्मादि चक्र का प्रवर्तन किया है और जो इस कर्म चक्र का अनुसर नहीं करते है उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। आप यह जान गये हैं कि द्वितीय अध्याय में भगवान ने केवल कर्म का नाम लिया लेकिन तृतीय

अध्याय में कहते है कि नियत कर्म करो। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है और इसके अतिरिक्त जो भी कर्म किया जाता है वह इसी संसार में बन्धन है।

भगवान श्री कृष्ण ने यज्ञ की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं कि यज्ञ की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। प्रजा (प्रवृत्त होती) सक्रिय होती है। 'कर्मब्रह्मोद्भवः विद्धि' अर्थात कर्म ब्रह्मा से उत्पन्न जानो 'ब्रह्मा' का अर्थ 'वेद' भी किया जाता है इस प्रकार कर्म अपौरूषेय वेद से उत्पन्न सिद्ध हुआ जबकि वेद मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि ही थे ''ऋषयःमन्त्रद्रष्टारः' इसलिये वेद परमात्मा से उत्पन्न है- 'यस्यनिःश्वासितं वेदाः' इस प्रकार यज्ञचक्र क्रम इस प्रकार है- परमात्मा से वेद, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न और अन्न से प्राणी जो मनुष्य इस संसार चक्र को चलाने वाले यज्ञ कर्म का अनुष्ठान नहीं करता है केवल इन्द्रियों के द्वारा भोग भोगता वह पापी है, तथा मनुष्य पशु से भी नीचा है क्योंकि पशु नये पाप नहीं करते अपितु पूर्व में किये गये पापों का फल भोगकर निर्मलता की ओर जाता है। किन्तु इन्द्रिय परायण मनुष्य नये पाप करके पतन की ओर जाता है और सृष्टि चक्र में बाधा उत्पन्न करता है और मनुष्य जन्म पाना वृथा हो जाता है। इसलिये विवेकी मनुष्य को चाहिये की वह अज्ञार्थ कर्म करें। जिससे कर्म बन्धन में न फसे तथा सांसारिक दुखों से मुक्ति मिल सके सृष्टि चक्र के अनुसार चलने से तात्पर्य है कि अपने-अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार जिस मनुष्य का जो स्वधर्म है उसका पालना करना उसका कर्तव्य है अपने कर्तव्य का यदि हर व्यक्ति सावधानी से और जिम्मेदारी से निर्वहन करे तो सृष्टि चक्र अनूकुल परिचालित होगा और सभी को सृष्टि चक्र का पालन करना चाहिये जिससे सृष्टि व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहें। स्वयं ही भगवान (वृ0 उ0 3/5/1) सृष्टि के अर्थ को समझाने के लिये कहते है कि 'यह जो प्रसिद्ध आत्मा है उसको जानकर जिनका मिथ्याज्ञान निवृत्त हो चुका है ऐसे जो महात्मा ब्राह्मण गण अज्ञानी द्वारा अवश्य की जाने वाली पुत्र आदि की इच्छाओं से रहित होकर केवल शरीर निर्वाह के लिए भिक्षा आचरण करते है, उनका आत्मज्ञान निष्ठा से अतिरिक्त अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता ऐसा श्रुति का तात्पर्य गीता को भी अभिष्ठ है।' 'मोघमपार्थ सः जीवति' इस वाक्य को भगवान ऐसे मनुष्यों के लिए प्रयुक्त किये है जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते है वह इस संसार व्यर्थ ही जीवित रहते है इस वाक्य का विशलेषण यदि किया जाय तो साफ स्पष्ट होता है कि ऐसे लोगों की निंदा भगवान स्वयं कर रहें है और कह रहे है कि यदि ऐसे लोग अपने कर्तव्य पालन रूपी कर्म से संसार के लोगों को सुख नहीं दे पा रहें तो वह दुःख भी न पहुंचाये ऐसे मनुष्यों का जीवन पापमय होता है।

यस्त्वात्मारतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। 17।।

अन्वय- तु (परन्तु), यः (जो), मानवः (मनुष्य), आत्मरितः (आत्मा में रमण करने वाला), च (और), आत्मतृप्तः एव (आत्मा में ही तृप्त), च (तथा), आत्मनि एव संतुष्टः (आत्मा में ही संतुष्ट), स्यात् (रहते हैं), तस्य (उनका), कार्यं (कर्तव्य कर्म), न विद्यते (नही रहता)।। 17।।

अर्थ- ''परन्तु जो व्यक्ति आत्मतत्व में ही रमण करने वाला है और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट है उसका कोई कर्तव्य (करने के लिये) नहीं रहता हे।

व्याख्या- आप तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में जान-चुके है कि श्री कृष्ण भगवान ने लोक में दो प्रकार की निष्ठा बताई है। (1) कर्म योगियों की कर्मयोग से (2) ज्ञानयोगियों की ज्ञान योग से। अब तक कर्मयोग की निष्ठा (3-16) तक बतलायी गयी है। अब उपर्युक्त (3/17) श्लोक में ज्ञानयोग की निष्ठा बतलाते है। ज्ञाननिष्ठ का लक्षण बताते हुये कहते है कि जिनके होने पर ही

कर्म की कर्तव्यता समाप्त हो जाती है उससे पूर्व नहीं होती है तो जबतक ये लक्षण मनुष्य के जीवन में न आये तबतक यज्ञचक्र में भाग लेना ही चाहिये ये लक्षण है- आत्मरति, आत्मातृप्ति और आत्मसंतुष्टि। जो ज्ञाननिष्ठ होते है वह आत्मा में ही रमण करते है- 'आत्मनि एव रतिः न विषयेषु' (शांकरभाष्य) उसे आत्मा से ही तृप्ति मिलती है- 'आत्मना एव तृप्तो न अन्नरसादिनाः' (शांकरभाष्य) और वह आत्मा में ही संतुष्ट रहता है।

शंकराचार्य लिखते है कि- 'य ईदृश आत्मवित् तस्य कार्यं करणीयं न विहाते न अस्ति- जो कोई ऐसा आत्मज्ञानी है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। मनुष्य का परम लक्ष्य यही है कि वह आत्मा में रत, आत्मतृप्त और आत्मा में संतुष्ट रहे जब अव्यक्त, स्नातन, अविनाशी आत्मतत्व प्राप्त हो गया तो आगे अब प्राप्त करने के लिये बचा ही क्या है ? ऐसे पुरूष के लिये किसी भी कर्म को करने की आवश्यकता नहीं है। जो पुरूष परमात्मा को प्राप्त कर लेगा उसके लिये यह जगत स्वप्नवत् दिखाई देता है। क्योंकि उसके लिये संसार की कोई भी वस्तु परमात्मा से महत्वपूर्ण नहीं है।

मनुष्य को सांसारिक विषय वस्तुओं में प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि का केवल प्रतीति मात्र होती है वास्तव में नहीं होती अगर विद्यमान होती तो पुनः अरति; अतृप्ति एवं असंतुष्टि नहीं होती। स्वरूप से प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि सदैव स्वतः सिद्ध है। स्वरूप सत् है । सत में कभी कोई अभाव नहीं होता है ना भावों विद्यते सतः (गीता 2/16) और अभाव के बिना कोई कामना पैदा नहीं होती। इसलिये स्वरूप में निष्कामता स्वतः सिद्ध है। परन्तु जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर संसार के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। तब वह प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि को संसार मंे ढूढ़ने लगता है और इसके लिये सांसारिक वस्तुओं की कामना करने लगता है कामना के वाद जब मिल जाती है वस्तु तब दूसरी कामना करने लगता है तब पहली निष्काम हो जाती है और ऐसे निरन्तर चलता रहता है और उससे प्राप्त सुख को ही प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि नाम से कहता है। परन्तु अच्छे साधक को सुख का मूल कारण निष्कामता को और दुःख का मूल कारण कामना को स्वीकार करना चाहिये। सकाम मनुष्यों को कर्म योग का अधिकारी कहा गया है- 'कर्मयोगस्तु कामिनाम्' (श्रीमद्भगद 11/20/7) अर्थात् सकाम मनुष्यों की प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि संसार में होती है। अतः कर्म योग द्वारा सिद्ध निष्काम महा पुरूषों के स्थिति का वर्णन करते हुये भगवान स्वयं कहते हैं उनकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि सकाम मनुष्यों की तरह संसार में न होकर अपने आप (स्वरूप) में ही हो जाती है। इसी बात को गीता में 2/55 में भी कहा गया है- 'हे अर्जुन जिस काल में यह पुरूष मन में स्थित सम्पर्ण कामनाओं को भलि-भांति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है उस काल में वह ''स्थित प्रज्ञ'' कहा जाता है'।

इस प्रकार स्पष्ट करते है कि भगवान कहते हैं कि जो प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि अलग-2 प्रतीत होती है वह अलग न होकर केवल संसार के सम्बन्ध से अलग प्रतीत होती है। और जब संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा तब तीनों एक ही स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते है। आगे के श्लोक में भगवान बतलाते है कि ज्ञानी के लिए कर्तव्यता क्यों आवश्यक नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।। 18।।

अन्वय- इह (इस लोक में), तस्य (उसका), कृतेन (कर्मानुष्ठान से), कश्चित् (कोई), अर्थः (प्रयोजन), न एव (नहीं है), अकृतेन चं (कर्म न करने से भी), कश्चन (कोई), न (प्रत्यवाय-नहीं

है), सर्व भूतेषु (सब प्राणियों में), अस्य (इसका), कश्चित (कोई), अर्थव्यपाश्रयः (प्रयोजन सम्बन्ध भी), न (नहीं है), ॥ 18॥

अर्थ- '' उस ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति का इस संसार में न तो कुछ करने से प्रयोजन है और न नहीं करने से ही। इस मनुष्य का समस्त प्राणियों में कोई भी मतलब अटका नहीं है। अर्थात् उसका संसार में किसी से कोई लेना-देना नहीं है।

व्याख्या- जो मनुष्य ज्ञाननिष्ठ होगा उसके लिये किसी भी प्रकार की कोई कर्तव्यता शेष नहीं रह जाती है क्योंकि जो मुक्त (ज्ञानी) पुरूष है उन्हें अपने लिये लौकिक या पारलौकिक किसी भी विषय वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है। जिस प्रकार परमात्मा सब भूतों में अवस्थित है उसी प्रकार वह भी सब भूतों में अवस्थित है जैसा कि पहले ही बताया गया है कि नित्य और नैमितिक कर्म न करने से पुण्य तो प्राप्त नहीं होता है किन्तु न करने से प्रत्यवाय (पाप) अवश्य होता है इसीलिये यह शंका की गयी है कि ज्ञानी तो आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट होने के कारण समस्त विधि- निषेधों के परे चला जाता है फिर उसके लिए प्रत्वाय कहां से उत्पन्न होगा क्योंकि कहा गया है- 'निस्त्रैगुण्यो पार्थ विचरतः को विधिः को निषेधः' अर्थात् जो त्रिगुण से परे रहकर परिव्रजनशील है उसके लिये विधि कैसे निषेध कैसा ? लोकमान्य तिलक भी मानते है कि लोक संग्रह हेतु कर्म करना चाहिये ऐसे ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्यता नहीं रह जाती लेकिन स्वयं के लिये कोई कर्म न करके दूसरों के हित के लिये कर्म करना चाहिये जिससे जगत का कल्याण हो सके लोक संग्रह हेतु कर्म को कर्म की श्रेणी में नहीं रखा गया है क्योंकि इन कर्मों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है तीनो लोकों की अर्थात् स्वर्गलोक, मृत्युलोक, पाताल लोक की मर्यादा को स्थायी रखने के लिये कर्म करना लोकसंग्रह है।

यह लोकसंग्रह पूर्ण रूप से मनुष्य के अधीन रहता है क्योंकि मानव शरीर में किये गये कर्मों के फल रूप में ही ये स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोक होते हैं। लोकसंग्रहकर्ता को सभी लोग आदर की दृष्टि से देखते है और सम्मान करते है। इनके आचरणों से, व्यवहारों से तथा वचनों से लोग कुमार्ग से हटकर सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित होते है। ऐसा लोकसंग्रहकर्ता पुरूष साधक, सिद्ध या भगवान भी हो सकते है। भगवान अर्जुन को 3/20 में अनासक्त भाव से कर्म करने के लिये प्रेरित करते हुये जनकादि का उदाहरण प्रस्तुत करते है। और कहते है कि लोकसंग्रह को देखते हुये तू भी अनासक्त भाव से कर्म करने के योग्य है।लोकसंग्रह साधक, सिद्ध और भगवान तीनों के द्वारा ही होता है किन्तु साधक भाव सर्वथा निष्काम नहीं होता है जबकि सिद्ध पुरूष और भगवान का शुद्ध और सर्वथा निष्काम होता है। क्योंकि उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है साधक भी शास्त्रविहित कर्म करके मर्यादा का ही पालन करता है और उसके द्वारा भी लोकसंग्रह होता है पर वैसा लोकसंग्रह नहीं होता है क्योंकि साधक में अपने कल्याण का प्रयोजन ही नहीं रहता है। लोकसंग्रह करने वाला कर्मनिष्ठ व्यक्ति अपने कल्याण के भाव को सर्वथा त्याग कर देता है और केवल संसार मात्र के कल्याणकारी भाव रखना उचित होता है इसलिये कर्मयोग से सिद्ध महापुरूष में कोई भी कामना न रहने के कारण उसका किसी भी कर्तव्य से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता है। उसके द्वारा निःस्वार्थ भाव से समस्त सृष्टि के हित के लिये स्वतः कर्तव्य कर्म होते है। ' न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः' अर्थात सम्पूर्ण प्राणियों में कामना- निवृत्ति कर्मयोगी का कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता है उसके द्वारा निःस्वार्थ भाव से समस्त सृष्टि की हित के लिये स्वतः कर्तव्य कर्म होते रहते है। इनके द्वारा केवल संसार के लिए ही कर्म करना है, अपने लिये नहीं करना है जो मनुष्य समष्टि की अपेक्षा

व्यष्टि को महत्व देता है वह ठीक नहीं करता है और उसी से उसे अशान्ति प्राप्त होती है। अगर वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि का समष्टि के लिये उपयोग करे तो उसे महान शान्ति प्राप्त हो सकती है। कर्म योग से सिद्ध महापुरूष की यही विशेषता रहती है कि वह अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का उपयोग संसार की भलाई के लिये करता है अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि उसका शरीरादि की क्रियाओं से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। प्रयोजन न रहने पर उस महा पुरूष से स्वतः ही उत्तम कर्म होंगे और ऐसे कर्मों से स्वतः दूसरों का हित होगा। ऐसे महापुरूष का जो अपना कहलाने वाला शरीर भी अपने कर्म में न लगकर दूसरे के कर्म में लगा रहता है। इस प्रकार ऐसे लोगों की सम्पूर्ण भाव और क्रियाएं या चेष्टायें संसार के हित कि लिये ही होती है। ऐसे महापुरूषों में किंचित मात्र भी स्वार्थ प्रत्युपकार अथवा अभिमान का भाव नहीं आता है। इस श्लोक के पूर्व श्लोक 3/17 में भगवान कहते है कि इस संसार में सिद्ध महापुरूषों के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है- 'तस्य कार्यं न विद्यते' और अब इसका हेतु बताते हुये भी इस श्लोक में तीन बातें कहीं गयी हैं। जो सिद्ध महापुरूष पर चरितार्थ होती हैं -

1-कर्म करने से उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता है।

2-कर्म न करने से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता है।

3-किसी भी प्राणी और पदार्थ से उसका किंचिन्नमात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता है।अर्थात् कुछ पाने से भी उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता वस्तुतः स्वरूप में करने अथवा न करने का कोई प्रयोजन विद्यमान नहीं रहता है और किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। इसका कारण है कि शुद्ध स्वरूप के द्वारा कोई क्रिया होती ही नहीं है जो भी क्रिया होती है वह प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों के सम्बन्ध से ही होती है। इसलिये अपने लिये कुछ करने का विधान ही नहीं है।

जिस स्थिति में कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता उस स्थिति को साधारण से साधारण मनुष्य भी प्रत्येक अवस्था में तत्परता एवं लगन पूर्वक निष्काम भाव से कर्तव्य करने पर प्राप्त कर सकता है। क्योंकि उसकी प्राप्ति में सभी स्वतंत्र और अधिकारी है। मनुष्य शास्त्रविहित कर्तव्य तथा निष्काम कर्म करके परमशान्ति की अवस्था को प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार मुक्त पुरूष के लिये न तो आत्म साक्षात्कार के लिये तत्सम्बन्धी साधन करने का कोई प्रयोजन है और न आत्मसाक्षात्कार के लिये साधन न करने से ही कोई हानि है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरूषः।। 19।।

अन्वय- तस्मात् (इसलिये), असक्तः (अनासक्त होकर), सततं (सदा), कार्यं (कर्तव्य), कर्म (कर्म को), समाचर (सम्पादन करो) हि (क्योंकि), पुरूषः (मनुष्य), असक्त (आसक्ति शून्य होकर), कर्म आचरन (कर्म करता हुआ), पूरूषः (मनुष्य), परम् (परमपद), आप्नोति (पा लेता है) ।। 19।।

अर्थ- ''इसलिये तू अनासक्त होकर सदैव अपने कर्तव्य कर्म का सुचारू रूप से सम्पादन करो, क्योंकि आसक्ति छोडकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमपद को प्राप्त कर लेता है।''

व्याख्या- आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टि ये ज्ञानी के ही लक्षण है जैसे- कर्मनिष्ठा कर्मयोगियों के लिये स्वतंत्र मार्ग है वैसे ही ज्ञाननिष्ठा ज्ञान मार्गियों के लिये स्वतंत्र मार्ग है। ज्ञानी पुरूष (मुक्त पुरूष) को लोकसंर्ग निमित्त वर्णाश्रम धर्मानुसार विहितकर्मों को करना चाहिये। ज्ञानी पुरूष (ज्ञानयोगी) को कर्म करने की बाध्यता नहीं है लेकिन कर्म करने से भी कोई

लाभ या हानि नहीं है तो वह कर्म क्यों छोडे , उसे अपना स्वभावतः प्राप्त कर्म को करना चाहिये। ज्ञान लाभ के पश्चात् भी तो उसे अपने प्रारब्ध का भोग करना ही पड़ेगा। भले ही ज्ञान द्वारा संचित और क्रियमाण (आगामी) कर्म संस्कार जल जाते है पर प्रारब्ध कर्म का नाश (क्षय) तो भोग द्वारा ही होता है। इसी तथ्य को आचार्य शंकर अपने ग्रन्थ 'विवेकचूणामाणि' में स्पष्ट कहते है।

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्यक्षयः।
सम्यग् ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागाभिनाम्।।

इस प्रकार भगवान कृष्ण कहते हैं कि जब तक मनुष्य को परमात्मा का आत्म साक्षात्कार न हो जाय अर्थात् क्रिया की परावस्था की प्राप्ति न हो जाय तबतक अपने वर्णधर्मानुसार विहित कर्मों का अनुष्ठान निष्काम भाव से करना चाहिये। अर्थात् क्रिया की परावस्था ही 'परमपद' है। मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है कि परमपद की प्राप्ति के लिये पूर्ण प्रयत्न करें। इस प्रकार हे अर्जुन ! समस्त कर्मों में और उनके समस्त भोगों में आसक्ति का त्याग करके फलाकांक्षा रहित होकर कर्म करना चाहिये। वे ही कर्म तुम्हें करना चाहिये जो कर्तव्य कर्म है, परधर्म के कर्म, निषिद्ध कर्म और व्यर्थ या काम्य कर्म नहीं करना चाहिये। इससे भगवान ने यह भाव दिखलाया है कि जिन-जिन कारणों से स्वधर्म पालन करने की आवश्यकता पर बल दिया है भगवान ने अर्जुन को समझाते हुये कहते हैं कि स्वधर्म का पालन करने में ही तुम्हारा हित है। इसलिये तुम्हें वर्ण धर्म के अनुसार कर्म करना ही चाहिये 'असक्तः' पद से भगवान अर्जुन को समस्त कर्मों में और उसके फलरूप समस्त भोंगों में आसक्ति का त्याग करने की आज्ञा देते है। 'आसक्ति' का अर्थ व्यापक है क्योंकि इसमें ही कामना आ जाती है। यदि आसक्ति का त्याग किया जाय तो कामना का त्याग स्वतः ही हो जाता है। इसलिये 'फलेच्छा' या आसक्ति का कामना लगभग समानार्थी है। भगवान 3/5 में पहले ही कह चुके हैं कि निःसन्देह कोई मनुष्य किसी भी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता है। क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणों के द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य किया जाता है। 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्:' 'सततमं' पद से भगवान ने यही भाव व्यक्त किया है कि निरन्तर कुछ न कुछ कर्म मनुष्य को करते रहना चाहिये तुम सदा सर्वदा जितने भी कर्म करो उन समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति से रहित होकर उनको करो किसी समय कोई भी कर्म आसक्ति पूर्वक न करो क्योंकि आसक्ति ही सी अनर्थों की जड़ है और फिर परिणाम स्वरूप कर्म बन्धन होता है, और व्यक्ति इसमे फसता जाता है। फिर इसके बाद वह अधोगति को प्राप्त हो जाता है। गीता का सन्देश बड़ा स्पष्ट है 'कभी भी कर्म किये बिना नहीं रहो, समाज सेवा करो, राष्ट्र का गौरव बढ़ाओ, मानव मात्र के कष्टों की निवृत्ति हेतु कर्म करो। गीता जीवन जीने की कला सिखाती है' एवं 'कुर्वन्नेह कर्माणि जिजिवेष्चछतं समाः' इस उपनिषद् की उक्ति के अनुसार कर्म करते हुये सौ वर्ष तक जीते रहने की इच्छा प्रबल बनाये रखने की बात करती है।

इस आगे के श्लोक में लोकसंग्रह हेतु कर्म करने को कहा गया है-

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।। 20।।

अन्वय- जनकादयः (जनक आदि),कर्मणा (कर्म के द्वारा), एव (ही), हि (सचमुच), संसिद्धिम् (सिद्धावस्था को), आस्थिताः (प्राप्त हुये है), लोकसंग्रहम् (लोकसंग्रह को), एव (ही), संपश्यन् (देखते हुये), अपि (भी), कर्तुम (करने के), अर्हसि (तुम योग्य हो), ॥ 20॥

अर्थ- '' सच पूछो तो जनक आदि कर्म के द्वारा ही सिद्धावस्था को प्राप्त हुये हैं। लोकसंग्रह को देखते हुये भी तुम कर्म ही करने के योग्य हो।''

व्याख्या- भगवान ने अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन तुम अनासक्त होकर कर्म करों, क्योंकि अनासक्त कर्म करने से ही परमतत्व की प्राप्ति हो सकती है। इस पर अर्जुन के मन में दो प्रकार की शंकायें उत्पन्न होती है-

1- क्या अनासक्त कर्म सम्भव है।
2- कर्म से क्या मोक्ष मिल सकता है।

अर्जुन के इन दोनो शंकाओं के समाधान के लिये भगवान कृष्ण राजा जनक आदि का उदाहरण देते हैं- देखों, राजा जनके थे, वे अनासक्त होकर कर्म करते थें और कर्म से ही उन्हें सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त हुई ''कर्मणाएव'' कहकर 'करणीयता' पर ज्यादा बल दे रहें है भगवान के कहने का तात्पर्य है कि ज्ञानी जनक भी जब कर्म के द्वारा ही ज्ञान की उच्चकोटि तक पहुंचते है तब हे अर्जुन, तू हीं कर्म क्यों छोडना चाहता है ? यज्ञचक्र के सन्दर्भ में जैसे यज्ञार्थ कर्म करने से बन्धन नहीं होता है। वैसे ही ''लोकसंग्रह'' के लिये भी कर्म करना चाहिये लोक संग्रह से तात्पर्य है कि तीनों लोकों की मर्यादा को स्थायी रखने के लिए कर्म करना। लोक संग्रह साधक, सिद्ध और भगवान इन तीनों के द्वारा होता है- जैसे-

1- साधक के द्वारा लोक संग्रह जनकादि।
2- सिद्ध के द्वारा लोकसंग्रह-सिद्ध महापुरूष जो-जो आचरण करता है अन्य मनुष्य भी वैसा ही आचरण करता है वे यदि अपनी वाणी से कुछ कह देते है तो लोग वैसा ही अनवर्तन कहते है।
3- भगवान के द्वारा लोकसंग्रह- भगवान स्वयं कहते हैं कि मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी प्राप्त करने योग्य और अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं कर्तव्य कर्म में लगा रहता हूँ, 'न मे पार्थास्तिकर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन' (3/22)।

यदि मैं निरालस्य होकर कर्तव्य कर्म न करूँ तो लोग मेरा ही अनुर्वतन करेंगें अर्थात् वे भी अपना कर्तव्य कर्म छोड देंगे, जिससे उनका पतन हो जायेगा अर्थात् यदि मैं कर्तव्य कर्म न करूं तो मैं संकर्ता को उत्पन्न करने वाला और प्रजा का नाश करने वाला बन जाऊंगा (3/22/24) वास्तव में लोक संग्रह भगवान और सिद्ध के द्वारा ही ठीक से होता है क्योंकि बिना स्वार्थ के कर्म होता है किन्तु साधम कमें कल्याण का प्रयोजन रहता है इसलिये साधक का भव सर्वथा निष्काम नहीं होता है सम्पूर्ण सृष्टि को सूरक्षित रखने का सभी प्राणियों के भरण-पोषण-रक्षण का दायित्व मनुष्य पर है अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वाभाव और परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य कर्मों का भलि-भांति आचरण करके जो दूसरें लोगों को अपने अदार्श के द्वारा दुर्गुण दुराचार्य से हटाकर स्वधर्म में लगाये रखना है यही लोकसंग्रह है। भगवान अर्जुन को इसलिये समझाते हैं कि हे अर्जुन तुम लोकसंग्रह को देखते हुये कर्म करो क्योंकि राजा जनक आदि की उदाहरण को देखो जो कि गृहस्थ आश्रम में रहकर निष्काम भाव से सब कर्म करते हुये परम सिद्धि को प्राप्त हुये और ऐसा केवल राजा जनक अकेले ही नहीं थे बल्कि उनके पहले तथा बाद में भी अनेक लोग हो चुके हैं। गीता 4/1-2 में भगवान स्वयं कहते हैं कि मैने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पूत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा इस प्रकार यह योग परमपरा से प्राप्त राजर्षियों ने धारण किया किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस

पृथ्वी लोक में लुप्त प्राय होगा इस प्रकार यह कर्म योग बहुत पुरातम है जिसके द्वारा राजा जनक जैसे महापुरूष परमात्मा को प्राप्त हो चुके है।

केवल कर्म करने से मनुष्य कर्म बन्धन रूपी की जाल में फसता है- 'कर्मणावध्यतेजन्तुः' (महा0 शान्ति0 241/7) लेकिन आसक्ति रहित होकर कर्म करने से ही मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त होता है केवल कर्म करने से नहीं इसी प्रसंग में भगवान आगे समझाते हुये कहते है कि लोकसंग्रहार्थ कर्म परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर चुके ज्ञानी लोग भी कर सकते है। और साधक भी कर सकते हैं। क्योंकि ज्ञानी के लिये तो कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता है उसके सारे कर्म लोकसंग्रहार्थ होता है जिससे और अज्ञानी लोग भी अनुकरण कर लोकसंग्रहार्थ कम करें और इस प्रकार इस ज्ञानी को आदर्श मानकर साधक भी लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है किन्तु उसके कर्तव्य में वह बात नहीं आ पाती है जो कि ज्ञानी में होती है, क्योंकि जबतक अज्ञान और आसक्ति पूरी तरह से निवृत्त नहीं हो जाती है और जब तक स्वार्थ का तनिक भी सम्बन्ध रहेगा तब तक लोकसंग्रहार्थ कर्म नहीं हो सकता है। अब अर्जुन प्रश्न करते है कि जब ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है। तब क्या वह लोगों को दिखाने के लिये कर्म करता है ? भगवान कहते है कि दिखावा के कर्म तो वे करते है जो दम्भी लेकिन जो ज्ञानी है वह दम्भी नहीं हो सकता है अतएव वह जो कुछ करता है, लोकसंग्रहार्थ आवश्यक और महत्वपूर्ण समझकर ही करता है, उसमें न दिखाऊपन है, न आसक्ति है, न कामना है, और न अहंकार ही होता है। ज्ञानी के कर्म भाव को केवल ज्ञानी जान सकता है। दूसरा नहीं जान पायेगा इसीसे ज्ञानी के कर्म अत्यन्त विलक्षण माने जाते हैं।

अभ्यास प्रश्न 2

बहुविकल्पीय प्रश्न

सही विकल्प पर चिन्ह लगायें-

प्रश्न 1- गीता के तृतीय अध्याय का नाम क्या है-

(अ) कर्मयोग (ब) सन्यासयोग

(स) ज्ञानयोग (द) विषादयोग

प्रश्न 2- रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये-

'कर्म ब्रह्मोद्भं विद्धि'.....

(अ) तस्मातसर्वगतं (ब) ब्रह्म

(स) ब्रह्माक्षर समुद्भवम् (द) यज्ञ

प्रश्न 3- कर्म को किससे उत्पन्न माना गया है-

(अ) वेद से (ब) वर्षा से

(स) यज्ञ से (द) अक्षर से

प्रश्न 4- अन्न से क्या उत्पन्न होते हैं-

(अ) मेघ (ब) प्राणी

(स) यज्ञ (द) कर्म

प्रश्न 5- जो इस लोक में प्रवर्तित यज्ञचक्र का अनुसरण नहीं करता है उसको क्या कहा गया है-

(अ) कर्मयोगी (ब) ज्ञानयोगी

(स) जीवनमुक्त (द) पापी (इन्द्रियाराम)

प्रश्न 6- किस प्रकार के व्यक्ति का संसार से कोई लेना देना नहीं है-

(अ) इन्द्रियपरायण (ब) आत्मतृप्त

(स) ज्ञानी (द) आत्मरति

प्रश्न 7- अनासक्त कर्म करने से मनुष्य को क्या प्राप्त होता है-

(अ) ज्ञान (ब) कर्म

(स) भक्ति (द) परमपद्

प्रश्न 8- गुण को किससे उत्पन्न कहा गया है-

(अ) कार्य (ब) प्रकृति

(स) पुरूष (द) कर्म

प्रश्न 9- यज्ञ का अवशिष्ट खाने वाले सन्त किससे मुक्त हो जाते है-

(अ) समस्त पापों से (ब) समस्त कर्मों से

(स) सभी फलों से (द) समस्त ज्ञान से

प्रश्न 10- आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट किसका लक्षण है-

(अ) ज्ञाननिष्ठ का (ब) कर्मनिष्ठ का

(स) प्रकृति (द) पुरूष का

प्रश्न 11- किस प्रकार के व्यक्ति का कोई प्रयोजन इस संसार में शेष नहीं रहता है-

(अ) स्वार्थबोध (ब) ज्ञाननिष्ठ

(ब) कर्मनिष्ठ (द) निष्ठ योग

प्रश्न 12- संचित और क्रियमाणकर्मसंस्कार किसके द्वारा जल जाते हैं-

(अ) ज्ञान के द्वारा (ब) मंत्र के द्वारा

(स) कर्म के द्वारा (द) भोग के द्वारा

प्रश्न 13- भगवद्गीता किस ग्रन्थ का अंश है-

(अ) महाभारत (ब) वेद

(स) पुराण (द) आरण्यक

प्रश्न 14- निष्काम कर्म से चित्तशुद्धि होने के उपरान्त साधक को क्या प्राप्त होता है-

(अ) कर्म (ब) भक्ति

(स) असूया (द) मोक्षलाभ

प्रश्न 15- पांच ऋणों से अऋण होने के लिये कौन सी यज्ञ करनी चाहिये-

(अ) पंचमहायज्ञ (ब) षऽभतायज्ञ

(स) अश्वमेध यज्ञ (द) राजसूय यज्ञ

प्रश्न 16- यज्ञशेष का अनुभव करने पर क्या नहीं रहता है-

(अ) पुण्य-पाप (ब) हर्ष-विषाद

(स) जय-पराजय (द) लाभ-हानि

प्रश्न 17- संसारचक्र की धुरी किसे कहा गया है-

(अ) पाप (ब) पुण्य

(स) यज्ञ (द) मोक्ष

प्रश्न 18- प्रारब्ध कर्म का क्षय किसके द्वारा होता है-

(अ) कर्म (ब) भोग

(स) ज्ञान (द) मोक्ष

5.4 इकाई का सारांश

श्रीमद्भगवद गीता के तृतीय अध्याय का नाम 'कर्मयोग' इसमें कर्मयोग है, इसमें 43 श्लोक है 'योग' से तात्पर्य 'जुड़ना' से है आध्यात्मिक दृष्टि से उसका अर्थ है ''जीवात्मा का परमात्मा से जुड़ाव'' ईश्वर के साथ जीवों का जुड़ना विभिन्न उपायों या साधनों से हो सकता है। जब जीव अपने विषाद के माध्यम से ईश्वर से युक्त होता है तव वह 'विषादयोग' है। इसी प्रकार जब वह अपनी क्रिया शक्ति के माध्यम से युक्त होता है तब वह 'कर्मयोग है' स्वभावतः कर्म बन्धनकारक होता है और मोह माया के जाल में फंसा देता है किन्तु एक ऐसा भी साधन है जिसमें कर्म बन्धन कारक नहीं होता है और इतना ही नहीं पूर्वकृत कर्मों के बन्धन को ही समाप्त कर देता है। यह उपाय 'कर्मयोग' के नाम से जाना गया है। जब अर्जुन किंकर्तव्य विमूढ़ की स्थिति पहुंच गये है और युद्ध न करने का निश्चय करते हैं ऐसे समय में भगवान श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश अर्जुन को केन्द्र में रखकर दिया है। भगवान ने अर्जुन के उस प्रश्न का उत्तर इस अध्याय के प्रारम्भ में ही देते हैं। जब अर्जुन कहतें है कि हे केशव! यदि आपके मत में ज्ञान कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठतर है तो मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहें है। आप अपने परस्पर विरोधी वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित सा कर रहें है। इसलिये कृपा करके मुझे एक मार्ग का उपदेश दीजिये जिसमें मैं कल्याण को प्राप्त करूं तब भगवान कृष्ण उत्तर देतें है कि -

'लोंकेऽस्मिन् द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

अर्थात् ''हे निष्पाप अर्जुन ! इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा या स्थिति मेरे द्वारा पहले ही बतलायी गयी है- ज्ञानियों के लिये ज्ञान योग और कर्मयोगियों के लिये कर्मयोग की।''

दो निष्ठाओं की बात कहकर परमार्थ की दो पथों का निर्देष करते हैं, और स्पष्ट करते है कि ये दोनो पथ परमार्थ लाभ के स्वतंत्र साधन हैं। उनमें एक सांख्यों की अर्थात् निवृत्ति मार्गियों की ज्ञानयोग के द्वारा और दूसरे योगियों की अर्थात् प्रवृत्ति मार्गियों की कर्म द्वारा बतायी गयी है। इसी क्रम में आगे भगवान कहतें है कि- 'न कर्मणामनारम्भा न नैष्कर्म्यः पुरूषोऽस्नुतेः' अर्थात् केवल का प्रारम्भ न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य की अवस्था को नहीं पा लेता है और न हीं कर्म का त्याग कर देने मात्र से सिद्धि को पाता है, इस संसार में कोई भी प्राणी कर्म शून्य होकर क्षण मात्र भी नहीं रह सकता है। 'न हि कश्चित् क्षणमपि जात् तिष्ठत्य कर्मकृत्' इस अध्याय में अर्जुन के माध्यम से मानो भगवान सभी मानव मात्र को सावधान कर देतें हैं कि मिथ्यचार से बचो, प्रदर्शन की वृत्ति मन से निकाल दो जो भी कर्म करो निष्काम भाव से करो अर्थात् उसमें फलाकांक्षा की आसक्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। ' नियतंकुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' इसीलिये भगवान आसक्ति से रहित होकर यज्ञ के निमित कर्म करने के लिये कहते है क्योंकि जो कर्म यज्ञनिमित्तक होते हैं। श्री कृष्ण ने इसी अध्याय में ज्ञानी अज्ञानी का भेद भी बताते हैं- भगवान कहते है कि ज्ञानी वह है जो आसक्ति रहित होकर लोकसंग्रह की भावना से कर्म करता है। और इसके विपरीत अज्ञानी वह है जो कर्म में आसक्ति भाव रखकर काम करता है। श्री कृष्ण यह कहना चाहते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति को चाहिये कि कर्म में आसक्ति वाले अर्थात् कर्माधिकारी अज्ञानियों में बुद्धि भेद अर्थातृ कर्म में ग्लानि न उत्पन्न करें किन्तु ज्ञानी को स्वयं चाहिये कि वह स्वयं उचित आचरण करता हुआ अज्ञानियों के लिये उदाहरण प्रस्तुत करें जिससे वह भी अनुकरण करके वैसा ही करो इस प्रकार

गीता में कर्मयोग का विशेष महत्व है। कर्मयोग का आश्रय लेकर व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पा सकता है।

5.5 पारिभाषिक शब्दावली

1-यज्ञार्थकर्म-जिन कर्मों से दूसरों के सुख पहुंचा में तथा हित करने के लिये कर्म किया जाता है। उसे 'यज्ञार्थ कर्म' कहा जाता है।

2-नैष्कर्म्य-'नैष्कर्म्य' का अर्थ टीकाकारों ने 'ज्ञाननिष्ठा' से लिया है। वह वैय्याकरणों ने 'नैष्कर्म्य' का अर्थ कर्मराहित्य यानि कर्म का अभाव माना है जब अन्तःकरण में प्रकाश इतना तीव्र हो जाय कि सारा जगत निःसार एवं प्रपंच प्रतीत होने लगे तो कर्म की प्रेरण स्वतः ही कुण्ठित होने लगती है यही ''ज्ञाननिष्ठा'' है।

3-लोकसंग्रह-तीनों लोको की मर्यादा को स्थायी रखने के लिये कर्म करना ''लोकसंग्रह'' है।

5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 की उत्तरमाला

प्रश्न 1- (इ)	प्रश्न 2- (अ)	प्रश्न 3- (अ)	प्रश्न 4- (ब)	प्रश्न 5- (अ)
प्रश्न 6- (ब)	प्रश्न 7- (ब)	प्रश्न 8- (स)	प्रश्न 9- (अ)	प्रश्न 10- (अ)
प्रश्न 11- (स)	प्रश्न 12- (द)	प्रश्न 13- (स)	प्रश्न 14- (अ)	प्रश्न 15- (अ)

अभ्यास प्रश्न 2 की उत्तरमाला

प्रश्न 1- (अ)	प्रश्न 2- (स)	प्रश्न 3- (अ)	प्रश्न 4- (ब)	प्रश्न 5- (द)
प्रश्न 6- (स)	प्रश्न 7- (द)	प्रश्न 8- (ब)	प्रश्न 9- (अ)	प्रश्न 10- (अ)
प्रश्न 11- (ब)	प्रश्न 12- (स)	प्रश्न 13- (अ)	प्रश्न 14- (द)	प्रश्न 15- (अ)
प्रश्न 16- (अ)	प्रश्न 17- (स)	प्रश्न 18- (ब)		

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.गीतातत्व चिन्तन - स्वामी आत्मानन्दप्रकाशन-अद्वैत आश्रम, 5 डिही एण्टाली रोड-कलकत्ता

2.भगवद्गीता - चक्रवर्ती राजगोपालाचार्यश्री मद्भगवद् गीता - योगीराज श्री श्यामाचरणलोहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्र नाथ सान्याल।

3.श्री मदभगवद् गीता - साधक संजीवनी - स्वामी राम सुख दास।

4. गीता - स्वामी अड़गड़ानन्द।

5. श्री मदभगवद् गीता ' यथारूप - श्री श्रीमद ए0सी0 भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुवाद।

6. श्री मदभगवद् गीता त्रयी - भगवान श्री कृष्णचन्द्र वासुदेव।

7. श्री मदभगवद् गीता - तत्त्विवेचनी हिन्दीटीका - जयदयाल गोयन्दका गीता प्रेस गोरखपुर।

8. श्री मदभगवद् गीता - स्वामी अपूर्वानन्द - रामकृष्ण मठ- नागपुर।

9. युगगीता - डॉ प्रणव पाण्डया

10. गीता रहस्य - लोक0 बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस पूना।

11. संस्कृत वाड.मय का बृहद् इतिहास दशम-खण्ड वेदान्त, पद्माभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय।

5.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.श्रीमद भगवद्गीता - तत्त्वविवेचनी (हिन्दी टीका) जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर।

2.श्रीमद् भगवद्गीता - स्वामी अपूर्वानन्द- रामकृष्ण मठ नागपुर।
3.गीता तत्त्वचिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन - अद्वैतआश्रम- कल।
4.श्रीमदभगवद्गीता - चक्रवर्ती राजगोपलचारी
5.श्रीमदभगवद्गीता -योगिराजश्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्रनाथ सान्याल।
6.यथार्थ गीता - स्वामी अड.गड़ानन्द।
7.गीता रहस्य - लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस, पूना।

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1 ''लोकेऽस्मिन द्विधा निष्ठा'' की व्याख्या कीजिये ?
प्रश्न-2 यज्ञ की परिभाषा दीजिये - इसे क्यों करना चाहिये इसके न करने से क्या हानि है ?
प्रश्न-3 विराट यज्ञ चक्र का वर्णन कीजिये ?

इकाई - 6 तृतीय अध्याय श्लोक संख्या 21 से 43 तक

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 श्लोक संख्या-21 से 31 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या
6.3.1 श्लोक संख्या-32 से 43 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या,
6.4 इकाई का सारांश
6.5 पारिभाषिक शब्दावली
6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री
6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

भगवदगीता प्रस्थान त्रयी क अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। भगवदगीता विश्व के सबसे महाकाव्य महाभारत के 'भीष्मपर्व' का एक अंश है। भगवद्गीता भगवान श्री कृष्ण द्वारा कुरूक्षेत्र युद्ध में दिया गया अर्जुन को दिव्य उपदेश है। इसमें 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं जब अर्जुन मोहग्रस्त होकर किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। तब भगवान ने अर्जुन को केन्द्र में रखकर अपने श्रीमुख से दिव्य वाणी से समन्वित उपदेश दिया है। श्री मदभागवद्गीता के इस तृतीय अध्याय का 21 से 43 श्लोक की व्याख्या इस इकाई -06 में यथोचित रूप से करने का प्रयास किया गया है। इसमें पहले मूल श्लोक को दिया गया है फिर उसका अन्वय-अर्थ-अनुवाद और फिर मार्मिक व्याख्या को विस्तृत रूप से लिखने का प्रयास किया गया है। भगवद्गीता साक्षात् भगवान की दिव्य वाणी होने से इसके श्लोकों मन्त्र का दर्जा प्राप्त है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप लोकसंग्रह हेतु कर्म को अच्छी तरह से समझ सकेंगें। श्री मदभगवद्गीता संसार के अति महत्व पूर्ण ग्रन्थों में विशेष स्थान रखती हैं और यहि कारण है कि श्री मदभागवद्गीता का विश्व की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

श्री कृष्ण भगवान स्वयं इसके वक्ता है और उनका कहना है कि- 'गीता में हृदयं पार्थ' अर्थात् हे अर्जुन गीता मेरा हृदय है। इस प्रकार गीता में 'सर्वशास्त्रमयि' कहा गया है क्योंकि सभी शास्त्रों का मन्थन करके अमृतमयि गीता का उदय या प्रकटी करण हुआ है। गीता को पढ़ने के बाद इसके विचारों को आप अपने जीवन में उतारने की कोशिश करेंगें। आप यह देखेंगें कि इसक दिव्य संदेश किसी जाति, विशेष सम्प्रदाय के लिए नहीं है। बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति क लिये है। जो सार्वभौमं है इसमें किंकर्तव्य विमूढ़ अर्जुन का स्वधर्मयुद्ध, श्रद्धा और अनसूया वृत्ति को जान सकेंगें अपने जीवन में काम को मार सकने में समर्थ हो पायेंगे इस सबका उत्तर एवं व्यख्या इस इकाई में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अनासक्त और फलासक्त कर्म, ज्ञानी और मूढ़ राग और द्वेष आादि का वर्णन किया गया है।

इसमे व्याख्या को सरल और सुबोध गम बनाने के लिए प्रयास किया गया है फिर बीच-बीच में प्रश्न माला दी गई है और इसके साथ निबन्धात्मक प्रश्न-प्रश्नोत्तर माला और उपयोगी पाठ्य सामाग्री का परिचय भी इस इकाई में दिया गया है।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप के निम्न प्रयोजन की पूर्ति होगी -

- ❖ लोक संग्रह हेतु अनासक्त होकर कर्म करना चाहियें। (इसमें आप परिचित होंगे)।
- ❖ भगवान स्वयं मानवरूप में लोकसंग्रह कर्म का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुये ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म में क्या अन्तर है। (इसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे)
- ❖ मूढ़ और तत्त्वज्ञ में क्या अन्तर है। (इससे परिचित होंगे)।
- ❖ सभी कर्म त्रिगुणात्मक होते हैं जो प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पन्न होते हैं। (इस विषय पर समीक्षा करनें में समर्थ होंगें)
- ❖ स्वधर्म में मरना श्रेयस्कर है तथा काम मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है और इसके नाश का उपाय जान सकेंगे। इस प्रकार इस इकाई को पढ़ने के बाद आप में भी जिज्ञासा का अंकुरण होगा और गीता के बताये हुये मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित होंगें।

❖ गीता प्रस्थानत्रयी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस प्रस्थानत्रयी में ब्रहमसूत्र,उपनिषद और गीता आते हैं। गीता वेदों से भी श्रेष्ठ मानी गयी है क्योंकि इसमें ब्रहमसूत्र और गीता दोनों का ही तात्पर्य आ जाता है। ऐसा जानकर आप गौरवबोध से युक्त होंगें।

6.3 श्लोक संख्या-21 से 31 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या

श्री भगवानुवाच-

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत् प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते।। 21 ।।

अन्वय- श्रेष्ठः (श्रेष्ठ) यत् यत (जैसा-जैसा) आचरति (आचरण करता है) इतरः (अन्य सामान्य) जनः (जन) तत् तत् (वैसा-वैसा) एवं (ही) ख्करते है, (करता है) लोकः (लोग) तत् (उसका) अनुवर्ततते (अनुसरण करते है)। ।। 21।।

अर्थ -''श्रेष्ठ व्यकित जो कुछ करता है, वही अन्य यानि साधारण जन भी करते हैं। वह जिसे प्रमाणित कर देता है, लोग उसी का अनुसरण करते है।''

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि महान जनों के पदचिंहों का अनुसरण करना सनातन रीति है। इसी कारण श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा था- तुम भी श्रेष्ठ व्यक्ति हो, अनेकों मनुष्यों के आदर्श हो, यदि तुम स्वधर्म पालन से मुह मोडते हो और युद्ध से भाग जाते है तो क्षत्रिय धर्म का महान पतन होगा अतः युद्ध छोडकर भागना निन्दाजनक है।''

मनुष्यों को अपने जीवन द्वारा आदर्श दिखाकर कुमार्ग से निव्त करके सुमार्ग में परिचालित करना ही 'लोक संग्रह' है। जैसे किसी (आफिस) कार्यालय का वरिष्ठ अधिकारी यदि समय से अपने कार्यालय में बैठ जाता है तो उसके अधीनस्थ भी समय से कार्यालय पहुंचने के लिये बाध्य हो जाते है। इस प्रकार भगवान अर्जुन को समझाने का प्रयास करते हैं कि समस्त शास्त्रों को जानने वाला और उसके अनुसार चलने वाला ही पुरूष 'श्रेष्ठ पुरूष' कहा जाता है। वह जो आचरण करता है अज्ञानी लोग भी उसे देखकर वही-वही आचरण करते हैं। इसलिये श्रेष्ठ पुरूष को लोक संग्रह की ओर ध्यान रखते हुये सावधानी के साथ सभी कर्मों को करना चाहिये; अन्यथा उसके देखा-देखी अज्ञानी जन भी उसी को कर्तव्य समझकर उसी के अनुरूप व्यवहार करने लगेंगें। इसलिये श्रेष्ठ पुरूष को चाहिये कि लोक रक्षा के लिये अपने वर्णश्रमानुकूल सब कर्म सदा ही करते रहना चाहिये। श्रेष्ठ महापुरूषों के आचरण को लोग अनुकरण करते हैं क्योंकि श्रेष्ठ महापुरूष जिस-जिस लौकिक या वैदिक प्रथा को प्रामाणिक मानता है लोग उसी के अनुसार चाहते हैं।

श्री भगवानुवाच-

न में पार्थस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।

नानवाप्तभवाप्तव्यं वर्त एवं च कर्मणि ।। 22 ।।

अन्वय- पार्थ (हे पार्थ) त्रिषु (तीनों) लोकेषु (लोको में) मे (मेरा) किंचन (कुछ भी) कर्तव्यं (कर्तव्य) न (नहीं) अस्ति (है), अनवाप्तम् (अप्राप्त) अवाप्तव्यं (प्राप्तव्य) न (नहीं है) च (फिर भी) कर्मणि (कर्म में) एवं ही वर्ते (लगा रहता हूँ)।।। 22।।

अर्थ -''हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि न तो मुझे कुछ अप्राप्त है और न कुछ प्राप्त ही करना है। फिर भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूँ।''

व्याख्या - आप ने यह पिछली इकाई-05 (श्लोक-21) में देख कि भगवान राजा जनक का उदाहरण देते हैं, किन्तु फिर भगवान कृष्ण सोचते हैं कि कहीं अर्जुन को यह न लगे कि कवियों ने बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है और विश्वास न उत्पन्न हो पाये, इसलिये भगवान इस श्लोक में स्वयं अपना उदाहरण रख देते हैं। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन तीनों लोकों में मेरे लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है जो मेरे द्वारा सम्पन्न होना है किन्तु फिर भी मैं सतत् कर्म में रत रहता हूँ। भगवान श्री कृष्ण के वचन को दो प्रकार से देख सकते हैं-

(1) अर्जुन के सारथि के रूप में (मनुष्य दुष्टि से)।

(2) साक्षात् ईश्वर रूप में।

मनुष्य रूप में देखे तो कहेंगें कि आप्तकाम है। क्योंकि कर्तव्यता का अभाव यह सूचित करता है कि व्यक्ति की कोई कामना शेष नहीं है। कारण है कि कामना ही तो मनुष्य को कर्म में प्रेरित करने का साधन है। परन्तु जो अकाम है,।''

उसके लिये भला क्या कर्म ? किन्तु फिर भी भगवान कर्म किस प्रकार सतत करते रहते हैं उनके जीवनदर्शन से स्पष्ट है। यदि स्वयं भगवान कर्म करना छोडें देंगें तो दूसरे अन्य भी देखा-देखी क्रियाशीलता से विमुख हो जायेंगे।

2-यदि श्री कृष्ण को ईश्वर रूप में देखे तो ये कहना पडेगा कि जो स्वयं ईश्वर है और जिसके लिये कुछ भी अप्राप्त नहीं है फिर भी पूरे संसार की भलाई के लिये निरन्तर कर्म में प्रवृत्त रहते हैं। उन्ही की प्रेरणा से पूरा विश्व सक्रिय रहता है दिन-रात होते है, सूर्य-चन्द्र उदय-अस्त होते है। अर्थात ईश्वर यदि कर्म से विमुख हो जाय तो सवे कुछ नष्ट हो जायेगा। अर्थात् भगवान अर्जुन को यह समझाने का प्रयास कर रहें हैं कि हे अर्जुन यदि मैं कर्म करना बन्दकर दूँ तो लोग (मनुष्य) यह नहीं समझ पायेंगें कि मैं आप्तकाम हूँ और मुझे कर्म नहीं करना चाहिये। लोग मेरा अन्धानुकरण करेंगे जिससे आलसी और प्रमादी होकर नष्ट हो जायेंगे। इसलिये मुझे 'लोकसंग्रहार्थ' कर्म करना पड़ता है।

श्लोक -

यदि हयहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। 23 ।।

अन्वय- पार्थ (हे पार्थ) यदि हि अहं (यदि मैं) जातु (कदाचित) अतन्द्रितः (निद्रा या आलस्य छोडकर) कर्मणि (कर्म में) न (नहीं) वर्तेयं (लगा रहूँ), ख्तो, मनुष्याः (सारे मनुष्य) मम वर्त्म (मेरे मार्ग का) सर्वशः (सव प्रकार से) अनुवर्तन्ते (अनुसरण करेंगें) ।।23।।

अर्थ- हे पार्थ! यदि मैं कदाचित निद्रा आलस्य छोडकर कर्म में न लगा रहूँ तो मनुष्य निश्चय ही सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करेंगें।

व्याख्या- भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म करने के लिये प्रेरित करते हुये अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। हे अर्जुन तुम अन्यत्र उदाहरण न ढूंढों, केवल मुझे ही देख लो कि मैं कर्म क्यों कर रहा हूँ ? इसका उत्तर है लोकसंग्रह के लिये। जब कि इस जगत में मेरे लिये कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है तो भी निरन्तर मैं कर्म करने में लगा रहता हूँ , जिससे 'लोकसंग्रह' हो सके। समाज के लोग मुझे देखाकर मुझसे प्रेरणा लें, मुझको विश्व के समक्ष उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके समाज को एक नवीन दिशा प्रदान कर सकें। यदि मैं कर्म करने में कदाचित आलस्य कर जाऊं तो निश्चय ही विश्व की प्रजा मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लगेगी, यही मम् वर्त्मानुवर्तन्ते' का अर्थ है। प्रकृति सतत् हमें कर्म करना सिखाती है क्योंकि यदि

प्रकृति आलस्य और अकर्मण्य युक्त हो जायेगी तब 'लोकनाश' हो जायेगा। ईश्वर के पीछे प्रकृति चलती है और प्रकृति के पीछे मनुष्य।

इसलिये भगवान अर्जुन को समझाते हुयें कहते है कि भले ही तुम्हें , तब भी लोकसंग्रह के लिये कर्म करना चाहिये जिससे समाज में जब भी धर्म की बात आये तो लोग उदाहरण मानकर आप से प्रेरणा ले कि धर्म की रक्षा के लिये युद्ध कैसे किया जाता है। भले ही युद्ध भूमि में शत्रु पक्ष का सहयोग आपके बन्धु, बान्धव कर रहे हो फिर भी दुनिया को यह दिखा दो कि जो अधर्म का साथ देगा वह भी अधर्म के समान ही दण्डनीय है। श्रीकृष्ण भगवान स्वयं बाल्यावस्था से लेकर देहत्याग तक अत्त कर्म प्रवाह में से जुडे रहें, उनका जीवन दूसरों के लिये आदर्श रहा है। वे कहते हैं कि मेरा कोई स्वार्थ नहीं है फिर भी मैं कर्म अर्थात् सत्त कर्म करता रहता हूँ। यदि मैं कर्म करना बन्द कर दूँ तो लोग यह तो नहीं समझ पायेंगें कि मैं कृतकृत्य और आप्तकाम हूँ इसलिये मुझे कर्म करने की आवश्यकता नहीं, तो लोग मेरा अन्धानुकरण करेंगें और आलस्य एवं प्रमादी होकर अपने को नष्ट कर डालेंगें।

श्लोक -

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यमिमाः प्रजाः ।। 24 ।।

अन्वय- चेत (यदि) अहं (मैं) कर्म (कर्मानुष्ठान) न (नहीं) कुर्याम् (करूँ) इमे (ये) लोकाः (लोक) उत्सीदेयः (नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगें), ख्तब मैं, संकरस्य (वर्णसंकर का) कर्तास्याम (कर्ता बन जाऊँगा), इमाः प्रजा च (और इन सारी प्रजा का) अहन्याम् (नाश कर दूंगा) ।।24।।

अर्थ- ''यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सारे लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगें, मैं वर्णसंकर का कर्ता बन जाऊँगा, और इन सारी प्रजा का नाश कर दूंगा।''।

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! ईश्वर आलस्य या प्रमाद से रहित होकर कर्म करते हैं तभी तो ग्रह-नक्षत्र सभी अपने-अपनें निर्धारित कर्मों को करते हैं। मनुष्य को प्रकृति से सत्त कर्म का पाठ सीखना चाहिये अपने पीछे की पीढ़ी के मार्गदर्शन के लिये ही महापुरूषों को कर्म करना पड़ता है। इसलिये हे अर्जुन ! मैं भी शास्त्र विहित कर्म लोकसंग्रह के लिये करता हूँ जिससे समाज लोकसंग्रह के लिये करता हूँ जिससे समाज मेरा अनुकरण करें। यहां पर श्रीकृष्ण भगवान के रूप में उपस्थित न होकर महापुरूष के रूप में अनुकरणीय है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ तो लोगों का पतन हो जायेगा और सभी कर्म छोड बैंठेंगें और मैं वर्णसंकर का कर्ता बन जाऊंगा। अर्थात् धर्मनाशक संकरता ही 'वर्णसंकरता' है। अपने शाश्वत, स्वरूप के पथ से भटक जाना ही 'वर्णसंकरता' है। इस प्रकार शास्त्र विधि का त्याग करके नियमपूर्वक अपने -अपने धर्म का पालन न करने से सारी व्यवस्था बिगड जाती है और सबके धर्मों में संकरता आ जाती है। अर्थात उनका मिश्रण हो जाता है। इस कारण सब अपने-अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होकर बुरी स्थिति में पहुच जाते है जिससे उनके धर्म, कर्म और जाति का नाश हो जायेगा तथा मनुष्यत्व ही नष्ट हो जायेगा। अतएव भगवान यह स्पष्ट करना चाहते कि यदि मैं स्वयं शास्त्रविहित कर्मों का त्याग कर दूँ तो फलतः अपने आदर्श के द्वारा इन लोगों से शास्त्र विहित वैदिक एवं लौकिक कर्मों का त्याग करवा कर धर्मनाशक संकरता उत्पन्न करने में मुझको कारण बनना पडेगा। जिससे समसम प्रजा के नाश में निमित्त बनजाऊंगा। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! जब कि तुम पहले ही कह चुके हो- 'संकरोनरकायेव- (गीता1/42) वर्णसंकर निश्चय करके नरक के लिये होता है। इस प्रकार तू भी श्रेष्ठ पुरूषों में अग्रणी, धर्मात्मा और

सदाचारी कर कर्म करो। जिससे तुम्हारे पीछे चलने वाले अल्पज्ञ तथा उत्तम पुरूष भी कर्मनिष्ठा को स्वीकार कर स्व-स्वकर्म करेंगें।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्ताश्चिकीर्षुलोकसंग्रहम् ।। 25।।

अन्वय- भारत ! (हे अर्जुन!) कर्मणि (कर्म में) सकताः (आसक्त होकर) अविद्वांस (अज्ञानी लोग) यथा (जिस तरह) कुर्वन्ति (कर्म करते हैं), विद्वान (ज्ञानी को) तथा (उसी तरह) असक्तः (अनासक्त होकर) लोकसंग्रहं (लोकसंग्रह) चिकीर्षुः (करने की इच्छा से) कुर्यात् (करना चाहिये)।

अर्थ-''हे अर्जुन ! कर्म में आसक्त हो अज्ञानी, जन जिस तीव्रता से (कर्म) करत हैं, ज्ञानी को अनासक्त रहकर लोकसंग्रह अर्थात लोगों का हित करने की इच्छा से उसी तीव्रता के साथ (कर्म) करना चाहिये।''

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि कर्म तो ज्ञानी भी करते हैं और अज्ञानी भी करते हैं किन्तु दोनों के कर्म में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह होता है कि अज्ञानी आसक्त होकर कर्म करता है जब कि ज्ञानी अनासक्त होकर अज्ञानी का कर्म विषय-बासना की पूर्ति हेतु होता है जब कि ज्ञानी का ''लोकसंग्रहार्थ'' कर्म होता है। जो कर्म लोकसंग्रह हेतु किया जाता है उससे ममत्व, आसक्ति नहीं होती है इसमें केवल परार्थ चिन्तन कारक होता है ऐसे कर्म लोगों के लिये आदर्श स्वरूप होते हैं। यहां भगवान समझाते हुये अर्जुन को कहते हैं कि यदि तुम ज्ञान की उच्चतम् अवस्था को प्राप्त भी कर लो तब भी लोककल्याण के लिये अनवरत कर्म करना चाहिये। इस लिये अनासक्ति पूर्वक लोकयात्रा निर्वाह के लिये फलांकांक्षा रहित होकर कर्म करना चाहिये। परार्थ चिन्तन-परक-कर्म जो है वह कर्म बन्धन कारक नहीं रह जाता है। और ऐसे ही कर्म को समाज अपना आदर्श रूप मानता है। इसलिये ज्ञानी लोगों से तीव्र कर्म करने की गीता में अपेक्षा की गयी है। ''योग-वासिष्ठ'' में महर्षि वसिष्ठ ने राम को कर्म करने का, इस प्रकार उपदेश दिये है-

बहिःक्रत्रिम संरम्भोडभ्यन्तः संरम्भवर्जितः।
कर्ताबहिरकर्तान्तलोके बिहर राघव।।

अर्थात हे राघव ! इस प्रकार कर्म करो कि बाहर से तो लोग ऐसा समझे कि इनका कर्म में बड़ा आवेश है; किन्तु भीतर मन में बिल्कुल आवेश न हो। इस प्रकार वाह्यय लोगों की दृष्टि में तुम कर्ता समझे जाओ, पर भीतर मन बुद्धि से अकर्ता ही बने रहो। इस प्रकार लोक में रहते हुये बिहार, करो, अर्थात सब प्रकार के कर्माचरण करों। कहने का तात्पर्य है कि साधु पुरूष बाहरी रूप में काम तो करता है परन्तु अन्दर अलिप्त रहता है, वह प्रत्येक कार्य निःस्वार्थभाव से करता है और सफलता तथा असफलता, सुख तथा दुःख, आनन्द तथा अनुताप आदि में समरूप रहता है।

श्लोक -

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिन्म।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरेन् ।। 26।।

अन्वय- कर्मसंगिनाम (कर्म में आसक्त) अज्ञानां (अज्ञानियों का) बुद्धिभेदं (बुद्धिभेद) न (नहीं) जनयेत् (पैदा करें) विद्वान् (ज्ञानी व्यक्ति) युक्तः (योग युक्त होकर) सर्वकर्माणि (सारे कर्मों को) समाचरन् (अनुष्ठान करते हुये) योजयते (अज्ञानियों को कर्म में नियुक्त रखे) ।। 26।।

अर्थ - ज्ञानी को चाहिये कि वह कर्म में आसक्त अज्ञानियों में बुद्धिभेद पैदा न करे, अपितु स्वयं योग युक्त होकर समस्त कर्मों को अच्छी तरह करता हुआ उन सबको भी कर्म लगाये रखें।

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति कर्म में आसक्त अज्ञानियों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करें। अर्थात ज्ञानियों को निष्क्रिय देखने से अज्ञानी लोग समझेंगें कि ज्ञानी तो कर्म नहीं करते, फिर हम कर्म क्यों करें ? ऐसा सोचने का अवसर ज्ञानी लोग न दें। अधिकांशतः ऐसा देखने में आता है कि अज्ञानी ज्ञानी के उपदेशों से प्रभावित होकर कर्म को छोड बैठता है पर ज्ञान को धारण नहीं कर पाता है तब '' इतो नष्टः उतो भष्टः वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। ज्ञानी के लिये कहा गया है '' सर्वकर्माणि जोषयते अर्थात् अज्ञानी को सब प्रकार के अच्छे कर्म में लगायें। अज्ञानी के लिये कर्म सकाम हो सकता है जब कि ज्ञानी के लिये कर्मनिष्काम एवं शास्त्रविहित होगा। जो क्रियावान पुरूष होते हैं उन्हें विद्ववान कहते हैं तथा 'युक्त' के विषय में गीता (6/8) में कहा गया है-

''युक्त इत्युच्चते योगी समलोष्टापूमकाञचनः।।

अर्थात् जो मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण को समान समझने वाला है वह योगी ''युक्त'' कहा जाता है। जो क्रियावान और युक्त पुरूष है वह आत्मा को जानने वाला होने के कारण पूर्ण रूप से उसको चाहिये कि जो अल्पज्ञ, अनादिकर्म वासना में लगे रहते अज्ञानी मुमुक्षों को यह कहकर बुद्धिभेद न उत्पन्न करे कि आत्म साक्षात्कार कर्मयोग के सिवा अन्य प्रकार से भी हो सकता है। क्योंकि जो अत्यन्त आसक्त है बिना फल के कर्म करेंगें नहीं और यदि करेंगें भी तो सकाम भावना से करेंगे, यह भी छोड़ देंगें। जिससे अधः पतन हो जायेगा, जिसका पाप विद्वान युक्त पुरूष को भी लगेगा। इसलिये ज्ञानी पुरूष को चाहिये कि वह आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि को चंचल न करे स्वयं शास्त्रविहित आचरण करे और अल्पज्ञ, आसक्त अज्ञानियों को बतायें कि ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग ही आत्मसाक्षात्कार का साधन है और कर्मों में प्रीति उत्पन्न करें।

अग्रिम तीन श्लोक में ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अन्तर है इसको भगवान बताते है-

श्लोक-

प्रकृतेः क्रियमाणा्नि गुणैःकर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्माकर्ताहमिति मन्यते।। 27।।

अन्वय- प्रकृतेः (प्रकृति के) गुणैः (गुणों के द्वारा) सर्वशः (सव प्रकार से) कर्माणि (कर्म) क्रियमाणिनि (सम्पन्न होते है) अहंकार-विमूढात्मा (अहंकार से अन्धा हुआ जीव) अहं (मैं) कर्ता (कर्ता हूँ) इति (ऐसा) मन्यते (समझता है) ।। 27।।

अर्थ-'' प्रकृति के गुणों के द्वारा समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं। अहंकार से विमूढ हुआ व्यक्ति ऐसा मानता है कि मैं कर्ता हूँ।''

व्याख्या- इस श्लोक के माध्यम से भगवान बताते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही कर्म करते हैं। ज्ञानी यह मानता है कि सारी क्रियाएं प्रकृति के गुणों के द्वारा हो रही है जब कि मूढ़ व्यक्ति समझता है कि मैं ही कर्ता हूँ। प्रकृति से सत-रज-तम-बुद्धि, अहंकार, मन, आकाशादि पंच सूक्ष्म महाभूत मिलकर कुल 23 तत्वों की मूलपरिणिति प्रकृति है। सम्पूर्ण क्रियाएं प्रकृति के गुणों के द्वारा ही सम्पन्न की जाती है स्वरूप के द्वारा नहीं। प्रकृति के विषय में कहा गया है-

''मायां तु प्रकृतिं विद्यात् (श्वे0उ0 4/10)। माया तो प्रकृति को समझना चाहिये। प्रकृति के गुणों को बताते हुये भगवान ने आगे कहा है- 'सत्वं रजस्तम इति गुणाः' (गीता 14/5) अर्थात् ये सत,रज,तम, तीन गुण प्रकृति के हैं। ये प्रकृति के त्रिगुण एक ओर इन्द्रियों का रूप धारण करते है

और दूसरी ओर विषयों का। इन्द्रियों का विषयों के साथ सन्निकर्ष सतत् चलता रहता है। जैसे- चक्षु से रूप श्रवण से शब्द आदि का। तत्वज्ञ जानता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे है-'' (गुणाः गुणेषु वर्तन्ते) ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता है किन्तु अहंकार-विमूढ़ात्मा अपने को ही अविधावंश कर्ता मान बैठता है और कर्मों में लिप्त हो जाता है। इसी बात को भगवान पांचवे अध्याय में आंठवें श्लोक में- **''नैव किञ्चित करोमीति युक्तो मन्यते तत्ववित''** अर्थात् '' मै कर्ता हूँ इस अवास्तविक मान्यता को मिटान के लिये मैं कुछ भी नहीं करता ऐसी वास्तविक धारणा रखनी चाहिये। ज्ञानी के विषय में कहा गया है-

श्लोक-

तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयों।
गुणा-गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।। 28।।

अन्वय- तु (परन्तु) महाबाहो (हे अर्जुन) गुण कर्म विभागयोः (गुण और कर्म के विभाग) तत्ववित् (तत्व को जानने वाले पुरूष) गुणाः (गुण यानि इन्द्रियादि) गुणेषु (विषयों में) वर्तन्ते (प्रवृत्त रहती है) इति मत्वा (ऐसा मानकर) न सज्जते (नहीं आसक्त होते)।। 28

अर्थ- ''परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के विषय में जानने वाला तत्ववेत्ता ऐसा मानता है कि गुणों के ही परिणाम स्वरूप रूप-रसादि विषयों में बरत रही है और ऐसा समझकर वह आसक्त नहीं होता।''

व्याख्या- भगवान कहते है कि मूढ़ और तत्वज्ञ में मुख्य भेद यह है कि मूढ़ व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों के व्यापारों को अपना मान बैठता है ऐसा अविधा के वशीभूत होकर करता है। जबकि तत्ववेत्ता इन्द्रिय-विषयों के व्यापार को प्रकृति का व्यापार मानता है। तत्वज्ञ विषयों का ग्रहण मात्र अपने जीवन-निर्वाह के लिये करता है। इस प्रकार गुणविभाग उसकी और कर्म विभाग सब प्रकृति का ही विस्तार है। क्योंकि सभी जड़, क्षणिक, नाशवान और विकारशील, मायामय तथा स्वप्नवत है। इस सबसे सर्वथा आत्मा अलग है जो निर्गुण, निराकार निर्विकार, नित्य शुद्ध मुक्त और ज्ञान स्वरूप है। गुण और कर्म अर्थात पदार्थ और क्रियाएं ये सब निरन्तर परिवर्तनशील है। पदार्थ उत्पन्न होते है तथा नष्ट होते हैं तथा क्रियाएं भी आरम्भ और समाप्त होनेवाली है । ऐसा जो गुण और कर्म के विषय में ठीक-ठीक से जान जाते है वह इसके तत्व को जान जाते हैं। चेतन में कभी कोई क्रिया नहीं होती। वह सदा निर्लिप्त, निर्विकार रहता है अर्थात उसका किसी भी प्राकृत पदार्थ और क्रिया से सम्बन्ध नहीं होता है। ऐसा जो अनुभव करता है वह चेतन तत्व को अच्छी तरह से जानता है। अज्ञानी व्यक्ति जब इन गुणविभाग और कर्म विभाग से अपना सम्बन्ध मान लेता है तब वह कर्मबन्धन में बंध जाता है इस कर्मबंधन का कारण अज्ञान है। इसी को राग, अविवेक भी कहते हैं। विवेक के उदय होने पर रागस्वयमेव नष्ट हो जाता है। तत्व को जानने की इच्छा रखने वाला साधक भी अगर गुण (पदार्थ) और कर्म (क्रिया) से कोई सम्बन्ध नहीं रखता तो वह तत्व को जैसे कि जान लिया। इस प्रकार साधक चाहे गुण विभाग और कर्म विभाग को तत्व से जाने चाहे स्वयं को तत्व से जाने दोनों का परिणाम एक ही होगा।

श्लोक-

प्रकृतेगुर्णसंमूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदों मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।। 29।।

अन्वय- प्रकृतेः (प्रकृति के) गुणसंमूढ़ा (गुणों से मोहित हुये जन) गुणकर्मसु (गुणों और उनके कर्मों में) सज्जन्ते (आसक्त होते है) कृत्स्नवित् (सर्वज्ञ पुरूष) तान् (उन) अकृत्स्नविदः (अल्पज्ञ)

मन्दान (मूढ़ों को) कृत्स्नवित् (सम्पूर्ण तत्व को जानने वाला) न (नहीं) विचालयेत् (विचलित करे) ॥ 29॥

अर्थ-''प्रकृति के गुणों से मोहित हुये लोग गुणों की क्रियाओं में अर्थात् देह और इन्द्रियों के व्यापरों में आसक्त होते हैं। ऐसे उन अल्पज्ञ मूढ़ों को सम्पूर्ण तत्व का जानने वाला ज्ञानी विचलित न करें।''

व्याख्या- ''गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः'' अर्थात गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। यह प्रकृतिजन्य त्रिगुण मनुष्य को बांधने वाले होते हैं। अज्ञानी मनुष्य शुभ कर्म तो करते हैं लेकिन भोग विषय तथा भौतिक पदार्थों (क्षणिक पदार्थ) की प्राप्ति के लिये ही करते हैं। इस प्रकार देहाभिमानी 'अज्ञ' व्यक्ति शास्त्रविहित कर्म को जानता है किन्तु गुणों और कर्मों के तत्वों को भलिंभांति नहीं जान पाता है इसलिये ऐसे लोगों को भगवान ने ''अकृत्स्नविदं'' (पूर्ण रूप न जानने वाला) कहा है और सांसारिक विषय-भोगों में रूचि होने के कारण ''मन्दान'' कहा है। इस प्रकार भगवान यह समझाने का प्रयास कर रहें हैं कि जो अहंकार से मोहित् प्रकृति के गुणों से बंधे, गुण और कर्मों में आसक्त, मन्दबुद्धि अल्पज्ञ जन हैं, उनको सम्पूर्ण तत्ववेत्ता ज्ञानी जनकदापिविचलित न करें। अर्थात् विद्वान बुद्धिभेद उत्पन्न न करें।आगे के श्लोक में अर्जुन का स्वधर्म - युद्ध - वर्णित है-

श्लोक-

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ 30॥

अन्वय- सर्वाणि (सभी) कर्माणि (कर्मों को) मयि (मुझमें) संन्यस्य (समर्पित कर) अध्यात्मचेतसा (अध्यात्मचित्त द्वारा) निराशीः (आशा रहित होकर) निर्ममः (ममतारहित) विगतज्वरः (सन्तापरहित) भूत्वा (होकर) युध्यस्व (युद्ध कर) ॥30॥

अर्थ- ''सभी कर्मों को मुझमें समर्पित करते हुये, चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर, आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित हो युद्ध कर।''

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि फलाकांक्षा और कर्तत्वाभिमान छोडकर जो व्यक्ति समस्त कर्म ईश्वर-समर्पित बुद्धि से करता है वही यथार्थ कर्मयोगी है। अतः कर्मयोगी होने के लिये आत्माभिमान का भी त्याग करना होता है। इस प्रकार त्याग के आदर्श में स्थित होकर जो निष्काम भाव से नित्य, नैमित्तिक और लौकिक कर्म आत्मसंस्थहोकर करता है, वही ''कर्मयोगी'' है। इस श्लोक में अर्जुन को यह उपदेश दे रहे हैं कि क्या करना चाहिये। आप 20 वे श्लोक में जान चुके हैं कि भगवान कहते हैं कि- ''लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन कर्त्तुमर्हसि'' - ''लोकसंग्रह को देखते हुये भी तेरे लिये कर्म करना योग्य है। अब स्पष्ट रूप से बता रहें है कि लोकसंग्रह का कर्म किस प्रकार होता है। लोकसंग्रह कर्म के पांच लक्षण यहां इस श्लोक में बताये गये हैं-

1-प्रथम लक्षण है- '' मयि सर्वाणि कर्माणिसन्यस्यं- अर्थात सब कर्मों का परमेश्वर में करना''।

2-दूसरा लक्षण है- '' अध्यात्यमचेतसा''- अर्थात् चित्त को आत्मा में केन्द्रित करना। क्योंकि हमारा चित्त देह में केन्द्रित होता है अथवा मन में और ऐसा होने पर हम अपने कर्मों का भली-भांति सन्यास नहीं कर पाते हैं। क्योंकि जब चित्त मन पर केन्द्रित होगा तब वह सांसारिक विषयों में संलिप्त हो जाता है। इसलिये जब तक हम चित्त को मन से हटाकर आत्मा में केन्द्रित करने की चेष्टा नहीं करेंगें तब तक ईश्वर के प्रति हमारा कर्म समर्पण अच्छी प्रकार से नहीं होगा।

3-निराशीः- यह लोकसंग्रह कर्म का तीसरा लक्षण हैं आशारहित होना। अर्थात् चित्त आशा के कारण ही मन से संयुक्त होता है इसलिये मन से आसक्ति को दूर करना चाहिये। व्यक्ति को आशा और निराशा दोनों से बचना चाहिये।

4-निर्ममः-लोकसंग्रह का चतुर्थ लक्षण है निर्ममः- ममतारहित होना। यह भाव चित्त को देह से चिपकने से बचाता है। सम्पूर्ण ममत्व की जड़ है देह। देहसम्बन्धों के प्रति ममत्व के कारण अपने कर्तव्य कर्म ठीक से नहीं कर पाते है और आत्मतत्व से दूर हो जाते है। इस प्रकार निर्ममः से तात्पर्य ''ममत्वशून्यता'' से है।

5-विगतज्वरः - यह पांचवा लक्षण है- '' सन्ताप से रहित होना''- क्षोभ और आवेश की स्थिति से रहित बुद्धि के द्वारा ही उचित कर्म करना चाहिये। इस प्रकार ''निर्ममः'' और '' निराशी'' कहकर भगवान चित्त को अतीत और भविष्य के भटकाव से बचाकर युध्यस्व, कहकर वर्तमान में उसे केन्द्रित करते हैं।

श्लोक-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।। 31।।

अन्वय- ये मानवाः (जो लोग) श्रद्धावन्तः (श्रद्धावान) अनुसूयन्तः (दोषदर्शन की प्रवृत्ति से शून्य होकर) में (मेरे) इदं मतं (इस व्यवस्था या अनुशासन का) नित्यं (सर्वदा) अनुतिष्ठन्ति (अनुसरण करते हैं) ते अपि (वे भी) कर्मभिः (कर्मों से) मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं) ॥ 31॥

व्याख्या-भगवान कहते हैं कि जो मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्ति पाना चाहता है तो वह किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय का हो यदि वह यह तथ्य वास्तविक रूप में समझ लेता है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि कुछ भी अपना नहीं है तो ऐसा मनुष्य कर्म बन्धन से छूट जाता है। 'असूया' अन्तःकरण की वह वृत्ति है जो गुण में भी दोष ढूंढ़ती है। परगुणेषु दोषाविष्करणम् असूया की वृत्ति वाले व्यक्ति कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं और जब शान्ति नही तो सुख कहां ''अशान्तस्य कुतः सुखम्''।

'परगुणेषु दोषाविष्करणम् असूया' अर्थात्- दूसरों के गुणों में दोष ढूढ़ना ही असूया है। जिसका चित्त मलिन है वही दूसरों के दोष देखता है इससे वह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता और जब शान्ति नही तब सुख कहां- ''अशान्तस्य कुतः सुखम्''। एक महिला भक्त के प्रति माँ शारदा देवी का उपदेश अत्यन्त प्रसिद्ध है- '' यदि शान्ति चाहती हो बेटी तो किसी का दोष न देखो केवल अपने में दोष देखो।'' इस प्रकार असूया वृत्ति व्यक्ति की सारी इच्छाओं पर पानी फेर देती है। जो दूसरों में दोष दृष्टि का दर्शन करना चाहते हैं वह मानो अमृत में विष को खोज रहा हो।

भौतिक पदार्थ (जड़) शरीर आदि को अपने लिये नहीं मानना चाहिये क्योंकि शरीर तो विनाशसील है, क्षणिक है। ऐसा मान लेने पर मनुष्य मोह माया के बन्धन से छूट जाता है। मनुष्य देह परमात्मा के लिये ही मिला है अतः परामात्मतत्व की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान कहते है कि जो मैने तुमसे फल विषयक, कर्मविषयक, और कर्तव्यविषयक त्याग के साथ वर्णासमुचित कर्म करने को कह रहा हूँ यह साक्षात् उपनिदेशों का सार है। यह किसी जाति-व्यक्ति विशेष के लिए न बताकर सम्पूर्ण मानव मात्र के लिए है। श्रद्+धा, से श्रद्धा शब्द हुआ, अर्थात जिस क्रिया से सत्यवस्त्र धारण की जाय उसे 'श्रद्धा' कहते है। वेदान्त दर्शन में गुरू वाक्यों में विश्वास, करने व श्रद्धा कहा गया है। 'तेऽपिकर्मभिः' 'अपि' शब्द से इन श्रद्धालु और निन्दा न करने वालों को पृथक किया गया है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि जो इस

शास्त्र के निचोड़ रूप में मेरे मत में श्रद्धा रखने वाले, और इसकी निन्दा नहीं करने वाले है, वे यद्यपि इस समय इसके अनुसार अनुष्ठान नहीं करते है तथापि 'श्रद्धा' और 'असूया' से विविध प्रकार के पापों का क्षय हो जाने पर वे शीघ्र ही इसी शास्त्र सिद्धान्त के अनुसार अनुष्ठान करके मुक्त हो जाते है।

अभ्यास प्रश्न - । बहुविकल्पीय प्रश्न

सही विकल्प पर चिन्ह लगायें-

प्रश्न 1- अविद्वान लोग किस प्रकार के कर्म करते हैं-

(अ) आसक्त कर्म (ब) अनासक्त कर्म

(स) लोकसंग्रहार्थ (द) यज्ञार्थ कर्म

प्रश्न 2- 'बुद्धि भेद' से क्या तात्पर्य है-

(अ) स्थिर बुद्धि (ब) समत्व बुद्धि

(स) बुद्धि का विचलन (द) आदर्श बुद्धि

प्रश्न 3- गीता में किस प्रकार के कर्म करने पर बल दिया गया है-

(अ) फलांकाक्षा युक्त (ब) समत्व बुद्धि

(स) बुद्धि का विचलन (द) आदर्श बुद्धि

प्रश्न 4- यज्ञार्थ कर्म की तरह ही कौन सा कर्म दूसरा है-

(अ) लोकसंग्रहार्थ कर्म (ब) फलासक्ति पूर्वक

(स) सांससरिक कर्म (द) वासना परक कर्म

प्रश्न 5- 'न में पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन' यह कथन किसके द्वारा कहा गया है-

(अ) अर्जुन उवाच (ब) श्री कृष्ण उवाच

(स) संजय उवाच (द) धृतराष्ट्र उवाच

प्रश्न 6- किस प्रकार का व्यक्ति जो कुछ भी करता है अन्य साधारण जन भी वैसा ही करते हैं-

(अ) साधारण मनुष्य (ब) देहाभिमानी

(स) श्रेष्ठ जन (द) भोक्ता

प्रश्न 7- भगवद् गीता के तृतीय अध्याय का नाम क्या है-

(अ) ज्ञानयोग (ब) कर्मयोग

(स) भक्तियोग (द) सांख्य योग

प्रश्न 8- उचित शब्द रखकर रिक्त स्थान की पुर्ति कीजिये-

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम।

..... स्यामुपहन्यामिमाः ॥

(अ) न मे पार्थास्ति

(ब) संकरस्य च कर्ता

(स) ममवर्त्मानुवर्तन्ते

(द) पार्थ सर्वशः

प्रश्न 9- यदि अज्ञानी आसक्त कर्म करता है तो ज्ञानी किस प्रकार का कर्म करता है-

(अ) अनासक्तकर्म (ब) वासना पूर्ति कर्म

(स) फलासक्ति कर्म (द) आसक्त कर्म

प्रश्न 10- समस्त कर्म किसके गुणों के द्वारा सम्पन्न होता है-

(अ) अहंकार (ब) प्रकृति

(स) मन (द) बुद्धि

प्रश्न 11- गुण और कर्म के विषय में जानने वाले को क्या कहा जाता है-

(अ) तत्त्ववेत्ता (ब) मूढ़

(स) अविद्वान (द) अल्पज्ञ

प्रश्न 12- गीता में 'अकृत्स्नवित्' का क्या अर्थ किया गया है-

(अ) जो पूरा न जानता हो (ब) जो पूरा जानता हो

(स) ज्ञानी व्यक्ति (द) इन्द्रिय विषयों को जानने वाला

प्रश्न 13- अनासक्त कर्म करने से किस तत्त्व की उपलब्धि होती है-

(अ) परम तत्त्व (ब) प्रकृति तत्त्व

(स) कर्म तत्त्व (द) अनात्मतत्त्व

प्रश्न 14- ज्ञानी व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों के व्यापार को प्रकृति का व्यापार मानता है जब कि मूढ़ व्यक्ति-

(अ) पराया (ब) अपना

(स) प्रकृति (द) बुद्धि

प्रश्न 15- 'त्रिगुणात्मिका' किसको कहा गया है-

(अ) भगवान (ब) अर्जुन

(स) प्रकृति (द) अहंकार

प्रश्न 16- त्रिगुण के अन्तर्गत कौन सा गुण नही आता है-

(अ) सत (ब) रज

(स) तम (द) कृष्ण

प्रश्न 17- सभी व्यक्ति किसके अधीन रहकर काम करते हैं-

(अ) स्व प्रकृति के. (ब) बुद्धि के

(स) गुणों के (द) अहंकार

प्रश्न 18- ''संकरस्य च कर्ता स्याम्'' किसके द्वारा यह कथन कहा गया है-

(अ) अर्जुन (ब) श्रीकृष्ण

(स) धृतराष्ट्र (द) संजय

प्रश्न 19- 'अहंकार विमूढ़ात्मा जन' किसको कर्ता मान बैठता है-

(अ) अहम् (ब) प्रकृति

(स) भगवान को (द) तत्त्ववेत्ता को

प्रश्न 20- 'गुणाः गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा' कौन कर्म में आसक्त नहीं होता है-

(अ) तत्त्ववित् (ब) मूढ़

(स) अज्ञानी (द) अविद्वान

6.3.1 श्लोक संख्या-31 से 43 तक मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविभूदांस्तान्विद्धि नष्टान चेतसः।। 32।।

अन्वय- तु (परन्तु) ये (जो) एतत् (इस) में (मेरे) मतम् (मत के प्रति) अनुतिष्ठन्ति (अनुसरण करते) तान् (उन्हें) सर्वज्ञानविमूढ़ान (सव प्रकार के ज्ञान में मोहित) अचेतसः (अविवेकी) नष्टान् (विनष्ट) विद्धि (जान) ॥ 32॥

अनुवाद- '' परन्तु जो मेरे इस मत में दोष निकालते हुये उसके अनुसार नहीं बर्तते, उन लोगों को तू सब प्रकार के ज्ञान में मोहित अविवेकी और कल्याण के पथ से भ्रष्ट हुआ ही जान।''

व्याख्या- भगवान कहते हैं कि जो लोग मेरे मत में दोष देखते हैं और उसके अनुसार अनुष्ठान नहीं करते है वे कर्म- बन्धन से मुक्त नहीं हो पाते है और इसका पतन अवश्य हो जायेगा। श्री कृष्ण भगवान अर्जुन के माध्यम से दृढ़धारणा करा देने चाहते हैं कि वे ही जगत् के नियामक ईश्वर हैं तथा उन्होने यह जो मत प्रस्तुत किया है वह ईश्वरीय नियम है। और जो ईश्वरीय नियम में भी दोष देखता है और नियमों के अनुसार वर्तन नहीं करता है वह सभी ज्ञानों में विमूढ़ है, अविवेकी है। क्योंकि ऐसा ही सर्व ज्ञान- विमूढ़ व्यक्ति ईश्वरीय नियमों की अवहेलना कर सकता है। ऐसे लोग भगवान को साधारण मनुष्य की कोटि में मानते हैं। और कुछ भगवान के जन्मादि पर ही अविश्वास करते हैं ऐसे लोग अनादि पाप वासना से दूषित बुद्धि वाले होते है। ऐसे लोगों को हे अर्जुन ! तुम सब प्रकार से ज्ञानों में विशेष रूप से ' मूढ़' अर्थात मूर्ख तथा किसी कारण नष्ट एवं चेतना-रहित समझ। वस्तु को यथार्थ रूप में समझना अर्थात जैसी है वैसी समझना चेतना का कार्य है। जिसमें इस बात का अभाव है, विपरीत ज्ञान वाले हैं वह सभी विषयों में 'मूढ़' है। ऐसी लोगों की अधोगति होती है।

भगवान गीता में कहते है- आसुरीयोनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि- जन्मनि (गीता 16/20) अर्थात ऐसे मूढ़ लोग जन्म-जन्म में नीच गति को भी प्राप्त होते हैं। 'असूया' वालों की तथा श्रद्धा रहित लोगों कि 'तू' शब्द से निन्दा करते है। भगवान कहते है कि जो हमारे मत में श्रद्धा भी नहीं रखते ऐसे लोग नष्ट बुद्धि वाले है। गीता (04/39) में कहा गया है- श्रद्धावाँल्लभतः ज्ञानम्- अर्थात श्रद्धावान व्यक्ति के ज्ञान को प्राप्त करते है। भले ही व्यक्ति के पास धन सम्पत्ति- वैभव आदि न हो किन्तु मन में श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये यह श्रद्धा शास्त्रविहित कर्मों में तथा ईश्वर में होनी चाहियें। आप लोग आगे के श्लोक में जानेगें कि भगवान कह रहें है- कि कर्म न करने से मनुष्य का पतन हो जाता है।

श्लोक-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। 33।।

अन्वय- ज्ञानवान् अपि (ज्ञानी पुरूष भी) स्वस्याः (अपनी) प्रकृतेः (प्रकृति के) सदृशं (अनुरूप) चेष्टते (चेष्टा करता है) भूतानि (सभी प्राणी) प्रकृतिं (स्वभाव को) यान्ति (प्राप्त होते है) निग्रहः (निग्रह) किं (क्या) करिष्यति (करेगा) ॥33॥

अर्थ- ''ज्ञानी भी अपने निज के स्वभाव के अनुरूप चेष्टा करता है। सभी प्राणी स्वभाव का अनुवर्तन करते है। इसमें निग्रह भला क्या करेगा।''

व्याख्या- भगवान ने 'ज्ञानी' शब्द आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया है आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित वही होगा जिसको तत्वज्ञान की प्राप्ति हो गयी होगी। अपरोक्षानुभूति के पूर्व तत्व सभी व्यक्ति अपने प्रारब्ध-कर्म-के अधीन रहते है। और ज्ञानी भी अपने पूर्व जन्म में अर्जित कर्म-फल के अनुसार ही चलते है। इस कर्म संस्कार को ही 'प्रकृति' कहा गया है।

पूर्वजन्म जनित प्रारब्ध कर्म के धर्मा-धर्म रूप कर्मों के फल के परिणाम स्वरूप विशेष-विशेष गुणों के विकास को प्राचीन संस्कार या 'अभ्यास' कहते है इसी का नाम स्वभावजात कर्म है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव के वशीभूत होकर ही कर्म करता है। अधिकांशतः देखने में या सूनने को मिलता है कि लोग दुहाही देते है, कि मेरा स्वभाव ही यही है, इसमें परिवर्तन समभव नहीं है। भले ही व्यक्ति ज्ञानी हो और अपने स्वभावगति दोष को भी जानता हो फिर भी स्वभाव को बदलने की बात आती है तो अपने को असमर्थ पाता है। रावण को यह बात मालूम थी राम समान्य पुरूष नहीं है। वह भगवान के अवतार हैं, वह कहता भी है-

खर दूषन मोहि सम् बलवन्ता।तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवन्ता।। (3/22/2)

अर्थात् खर और दूषन तो मेरे ही समान बलशाली थें। उनको तो भगवान के अतिरिक्त कोई भी मार नहीं सकता है, उसको ज्ञान तो है कि भगवान कि उपासना करें। युद्ध न करें, किन्तु उसका स्वभाव उसको नहीं करने देता और बुद्धितर्क देती है कि- 'होइहि भजनु न तामस देहा'- मेरी देह तो तामसी है, इससे भजन नहीं होगा। ऐसा तर्क सोचकर व ईश्वर को नहीं मानता है। यह ज्ञानी की परवशता का उदाहरण दिया गया है। अर्थात् व्यक्ति अपने स्वभाव द्वारा परिचालित होता है और उसके लिए निद्रा या संयम अर्थहीन हो जाता है किन्तु भगवान फिर आगे श्लोक में विरोधाभाषी बात कह रहे है कि राग और द्वेष के वश में नहीं आना चाहिये। अर्जुन ने भगवान से पूछा था कि मनुष्य ईश्वर के बताये मार्ग पर क्यों नहीं चलता जबकि उसको पता है कि न चलने से अधोगति को प्राप्त हो जायेगा तब भगवान उत्तर देते है कि मनुष्य अपने स्वभाव से ही परिचालित होता है, भले ही कितना बड़ा ज्ञानी हो वह भी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर पाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब व्यक्ति स्वभाव के आगे अपने को इतना परतन्त्र मानता है तब उसके लिये निग्रह का क्या महत्व है ? भगवान कहते है कि जिन व्यक्ति का स्वभाव शुद्ध एवं श्रेष्ठ है उनकी क्रियाऐं भी उनकी प्रकृति के अनुरूप ही क्रियान्वित होगी। और जिनकी इसके विपरीत है उनकी भी अपनी प्रकृति द्वारा ही होगी। इस विषय निग्रह या हठ से काम नहीं चलेगा जिसका जैसा स्वभाव है, उसे उसी के अनुसार कर्म करने पड़ेंगें। अर्जुन जब हठ पूर्वक अपने युद्ध रूप कर्तव्य कर्म का त्याग करते है तब भगवान कहते है कि- ' तेरा स्वभाव तुझे बल पूर्वक युद्ध में लगा देगा'- ' प्रकृतिस्त्वंनियोक्ष्यतिः' (गीता 18/59) क्योंकि तुम्हारे स्वभाव में क्षत्रिय कर्म करने का प्रवाह है। इसलिये तुम स्वभाविक कर्मों से बंधे होने पर भी परवश होकर भी युद्ध करेगा अर्थात इसमें तेरा हठ काम नही आयेगा- ' करिष्यस्यवशोऽपि तत्' (गीता 18/60) प्रकृति के वश में न होने के लिए साधक को चाहिये कि वह किसी आदर्श को उदाहरण मानकर अपना कर्तव्य कर्म करें। आदर्श दो हो सकतें हैं-

1- भगवान का मत 2- श्रेष्ठ महापुरूषों का आचरण

आदर्श के अनुरूप कर्म करने से प्रकृति शुद्ध हो जाती है और परमात्मातत्व का अनुभव हो जाता है। और जो इसके विपरीत आचरण करता है। उसके राग-द्वेष पुष्ठ हो जाते है और उसका पतन हो जाता है- 'नष्टांन्विद्धि' (गीता 03/32)। अग्रिम श्लोक में भगवान अर्जुन को राग और द्वेष पर विजय पाने के लिये प्रवृत्त करते हैं-

श्लोक -

इन्द्रियस्योन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। 34।।

अन्वय-

इन्द्रियस्य (इन्द्रिय का) इन्द्रियस्य अर्थे (इन्द्रिय के विषयों में) राग द्वेषों (राग और द्वेष) व्यवस्थितौ (प्रकृति द्वारा रखे गये है) तयोः (उनके) वशं न आगच्छेत् (वश में नहीं आना चाहिये) तौ (वे दोनों) हि (सचमुच) अस्य (इसके) परिपन्थिनौ (परम विरोधी है) ॥ 34॥

अर्थ- ''इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के प्रति राग और द्वेष स्वाभाविक हैं, किसी को इस राग और द्वेष के वश में नहीं आना चाहिये, क्योंकि ये दोनों (मुमुक्षुजीव) परस्पर शत्रु है।

व्याख्या-इन्द्रियां अपने-अपने विषय की ओर स्वभावतः आकर्षित होते हैं इस आकर्षण से राग और द्वेष उत्पन्न होता है क्योंकि समस्त इन्द्रियों के जितने भी भिन्न-भिन्न विषय हैं, जिनके साथ इन्द्रियों का संयोग-वियोग होता रहता है उन सभी विषयों में राग और द्वेष दोनो ही अलग-अलग छिपे रहते है। जिस इन्द्रिय के विषय से मनुष्य को सुख की प्रतीति होती है तब उससे आसक्ति हो जाती है इसी को 'राग' कहते है, जब प्रतिकूल होता है तब उसमें उसका 'द्वेष' हो जाता है। इसी लिये एक ही वस्तु किसी को सुख प्रदान करती है तो किसी को दुख। जैसे संगीत निरोगी व्यक्ति को सुख प्रदान करती है लेकिन बिमार व्यक्ति को दुःख प्रदान करती है। अज्ञानतावश मनुष्य राग और द्वेष के चक्कर में फंसकर विनाशशील भोगों को हेतु मानते हुये कल्याण मार्ग से च्युत हो करके विवेकशक्ति में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं और मनुष्य परमलक्ष्य से वंचित होकर नरकगामी हो जाता है। मुनष्य की क्रियाएं उसके स्वयं के स्वभाव पर आधारित होती है। स्वभाव दो प्रकार का होता है-

(1)- राग द्वेष रहित (शुद्ध)

(2)- राग द्वेष युक्त (अशुद्ध)

किसी के स्वभाव को एक क्षम से समाप्त नहीं कर सकते है बल्कि उसमें बदलाव या परिवर्तन हो सकता है जिससे वे राग-द्वेष रहित शुद्ध हो सके - यह गीता का मार्मिक सिद्धान्त है। राग-द्वेष को लेकर जो क्रियायें होती है उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति उतनी बाधक नहीं है जितने कि राग-द्वेष बाधक है। इसलिये भगवान ने राग-द्वेष का त्याग करने वाले को ही सच्चा त्यागी कहा है- 'त्यागी सत्तवसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ' (गीता 98/10) अर्थात् कर्मों में आसक्ति और उनका फल छोडकर नित्यकर्मों का अनुष्ठान करने वाला है- ऐस त्यागी। जो काम्यकर्मों से किसी अवस्था में द्वेष नहीं करता है और नित्य कर्मों में आसक्त नहीं होता है वह सात्विक भाव से युक्त होता है। अर्थात उसको आत्म-अनात्मविषयक विवेक-ज्ञान भली भांति रहता है।

श्लोक-

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। 35।।

अन्वय- स्वनुष्ठितात् (सम्यक् रूप से अनुष्ठित), परधर्मात् (परधर्म से), विगुणः (गुण रहित), स्वधर्मः (निजधर्म), श्रेयान् (श्रेष्ठतर है), स्वधर्मे (स्वधर्म में रहकर), निधनं (मरना भी), श्रेयः (कल्याणकारी है), परधर्मः (दूसरों का धर्म), भयावहः (भययुक्त होता है) ॥ 35॥

अर्थ- ''सुन्दर रूप से अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा गुणरहित होने पर भी निजधर्म श्रेष्ठतर है, अपने ख्वर्णाश्रमके, धर्म में मृत्यु भी कल्याणकारी है, दूसरों का धर्म भययुक्त या हानिकारक है।''

व्याख्या- जब अर्जुन युद्ध करने की अपेक्षा भिक्षा का अन्न खाकर जीवन निर्वाह करने को श्रेष्ठ समझते हैं। परन्तु भगवान अर्जुन को यह उपदेश देते हैं कि भिक्षावन से जीवन निर्वाह करना भिक्षुक के लिये भले ही स्वधर्म हो परन्तु तुम्हारे लिये तो परधर्म है क्योंकि तू गृहस्थ क्षत्रिय है, भिक्षुक नहीं। युद्ध न करने से तुम्हारी ही हानि होगी- 'तत्ः स्वधर्म कीर्तिं च हित्वा

पापमवाप्स्यसि' वर्ण, आश्रम आदि के अनुसार अपने-अपने कर्तव्य का (धर्म का) पालन करन ही ''स्वधर्म'' है। इसलिये भगवान अर्जुन को मानो यह समझाते हैं कि क्षत्रिय धर्म के नाते युद्ध करना तुम्हारा कर्तव्य है। प्रत्येक वर्ण के लोग अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप विहित कर्म का अनुष्ठान करें तो समाज सुनियन्त्रित एवं व्यवस्थित रहेगा तथा समाजिक की विश्रृंख्ला उत्पन्न नहीं होगी। गीता का मूल उपदेश है 'स्वधर्म पालन' स्वधर्म का पालन करने में ही कल्याण है, पर धर्म का सेवन करने में हानि है।

अग्रिम श्लोक में अर्जुन पूछते है कि पाप में कौन प्रवृत्त करता है-

श्लोक - **अर्जुन उवाच**

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरूषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। 36।।

अन्वय- अर्जुनः (अर्जुन), उवाच (बोला), वार्ष्णेय (हे वुष्णिवशोत्पन्न!), अथ (अब), केन (किसके द्वारा), प्रयुक्तः (परिचालित होकर), अयं (यह) पूरूषः (पुरूष) अनिच्छन् अपि (इच्छा न करते हुये भी) बलात् (बल पूर्वक), नियोजितः दूव (नियोजित हुआ सा), पापं चरति (पापाचरण करता है ?) ।। 36।।

अनुवाद - ''अर्जुन बोले- हे कृष्ण! अब किसके द्वारा परिचालित होकर यह मनुष्य न चाहते हुये भी बलपूर्वक लगाया गया सा पाप करता है ?''

व्याख्या-पूर्व श्लोक की व्याख्या में आप जान गये होंगे कि जो कर्म हमारी रूचि और प्रवृत्ति के अनुरूप होता है वही सहज कर्म 'स्वधर्म' है यदि एक ब्रम्हाण कुलोत्पन्न बालक शूध्र का कार्य करता है तो व उसके लिये सहज कर्म है किन्तु एक निम्न कुलोत्पन्न बालक अध्ययन, मनन-चिन्तन करता है तब उसके लिये ब्राम्हण कर्म ही स्वधर्म है। सामान्यता स्वधर्म त्याग और परधर्म ग्रहण करने के पीछे भय की वृत्ति कार्य करती है अर्जुन के मन में संदेह उत्पन्न हो रहा है कि अब मनुष्य जानता है कि अमुक पाप है अमुक पुण्य है तब भी इच्छा न होते हुये भी बल पूर्वक कौन पाप कर्म के योग ढ़केलता है- अर्जुन के इसी प्रश्न का उत्तर भगवान अगले श्लोक में देते हैं-काम और क्रोध सबसे बड़ा शत्रु-

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
सहाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।। 37।।

अन्वय- श्री भगवान् उवाच (श्री भगवान बोले), एषः कामः (यह काम), एषः क्रोधः (यह क्रोध), रजोगुण समुद्भवः (रजोगुण से उत्पन्न है), महाशनः (अपरिमित क्षुधावाला या बहुत अधिक खाने वाला), महापाप्मा (महा पापी है), इह (इस मोक्षमार्ग रूपी विषय में), एनं (इसको), वैरिणम् (शत्रु) विद्धि (जानो) ।। 37।।

अनुवाद- '' श्री कृष्ण भगवान बोले- जो रजोगुण से है, यह क्रोध है, यह बहुत खाने वाला अर्थात् भोगों से कभी तृप्त न होने वाला और बड़ा पापी है, इसको इस संसार में अपना शत्रु जान।''

व्याख्या- भगवान अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देतें है कि हमें पाप कर्म में ढकेलने वाला काम और क्रोध है काम, क्रोध की चित्तवृत्ति एक ही काम का अर्थ है 'तृष्णा' कभी भी मिटती नहीं है कहा गया है- ''तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा'

जहां काम बाधित होता है वहां क्रोध उत्पन्न होता है जहां काम है वहीं क्रोध है यह काम और क्रोध रजोगुण से उत्पन्न है। जिसका स्वभाव चंचल और क्रोधयुक्त है काम और क्रोध को महा पेटू इसलिये कहा गया है कि इसको उपभोग के द्वारा शांत ही नही किया जा सकता है जितना उपभोग करेंगे उतना ही बढ़ता ही जायेगा। यथाघृताहुति के द्वारा अग्नि निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती है महाभारत के आदि पर्व में राजा ययाति की कथा आती है जो काम का मारा हुआ है और तृष्णा नहीं होती है वह अपने पुत्र पुरू का यौवन लेकर उसको बदले में अपना बुढ़ापा दे देता है किन्तु भोग की तृष्णा शान्त होने का नाम नहीं ले रही थी तब राजा ययाति की आँखें खुलती है और वह कहते है-''न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।
यत् प्रथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णांपरित्यजेत्''।। (श्रीमद्भः 9/19/14)

अर्थात् काम्य वस्तु के उपभोग से कभी कामनों की शान्ति नहीं होती बल्कि वह घी के संयोज से अग्नि की तरह और बढ़ जाती है उसी प्रकार वाशनायें भी बढ़ती है पृथ्वी में जीतना भी अन्न है, सुवर्ण, पशुधान, यव, स्त्रियां वे सारे एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं है अतएव तृष्णा का प्रतित्याग कर देना चाहिए राजा ययाति सहस्रों वर्षों तक भोग करने के बाद अतृप्त चित से पुरू को धन- यौवन-राज्य लौटाकर वनवासी हो गये भोग की सीमा नहीं है और न तो उसमें शान्ति मिलती है 'त्यागात्शान्तिरनन्तरम् त्यागेनैकेअमृतत्वमानशुः' काम को महा पापी कहा गया है क्योंकि तृष्णा ही पापों की जड़ है यदि तृष्णा न होती तो मनुष्य कोई पाप कर्म नहीं करता। इसलिये काम को शत्रु कहा गया है।

आत्मोन्नति के मार्ग में ''षड्रिपु'' बाधक होते हैं। ये हैं- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्स्र्य। इन षड्रिपुओं का व्यक्ति को त्याग कर देना चाहिये काम और क्रोध मनुष्य को पाप कर्म में जबरदस्ती लगा देते है क्योंकि यह सबसे सन्निकट, अन्तःकरण में विद्धमान रहते हैं।धूम्रवत् विवेकाग्नि को आवृत्त कर लेता है-

श्लोक-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। 38।।

अन्वय- यथा (जिस प्रकार) वह्निः (अग्नि) धूमेन (धूम से), आव्रियते (आवृत रहती है) यथा (जिस प्रकार) आदर्शः (दर्पण) मलेन (धूल-मैल के द्वारा) ख्आवृत्त होता है, यथा ख्जस प्रकार, गर्भः (उदरस्थ गर्भ) उल्वेन (जरायु से) आवृतः (आवृत रहता है) तथा (उसी प्रकार) तेन (उसी काम के द्वारा) इदं (यह विवेकरूप ज्ञान ढ़का रहता है) ॥ 38॥

अनुवाद- '' जिस प्रकार अग्नि धूएं से ढ़की रहती है जिस प्रकार दर्पण धूल-मैल के द्वारा ढ़का रहता है, जिस प्रकार उदरस्थ गर्भ जरायु से ढ़का रहता है उसी प्रकार इस काम के द्वारा यह विवेकरूप ज्ञान ढ़का रहता है''।

व्याख्या- भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को बता रहें है कि मनुष्य में विवेक तो है किन्तु विवेक उसी प्रकार आच्छादित है जैसे धूल-मैल से ढ़के रहने दर्पण, धूएं से ढ़के रहने पर अग्नि, या जेर गर्भ को आच्छादित किये रहता है जिस प्रकार धूएं के हटने से अग्नि प्रकट होती है, धूल-मैल को साफ कर देने पर दर्पण स्वच्छ नजर आने लगता है और प्रसव के अन्त में जरायु को हटा देने पर भ्रूण दिखलाई पड़ता है। उसी प्रकार विषय-वासना के विदृण होने पर तत्व ज्ञान का उदय

होता है यह विषय भावना अहंभाव का आश्रय लेकर रहती है इसी कारण श्री रामकृष्णदेव ने कहा है- ''मुक्त होगा कब ? 'मैं जायेगा जब'' मैं से तात्पर्य अहंभाव है इस अहंभाव के दूर होने पर परमतत्व का साक्षात्कार समभव है। 'तथातेनेदमावृतम्'- इस श्लोक में भगवान ने एक काम द्वारा विवेक को ढ़कने के विषय में तीन दृष्टांत दिये हैं इससे तात्पर्य यह है कि एक काम के द्वारा विवेक आवृत्त हो जाने से ही काम की तीनों अवस्थायें प्रस्फुटित होती है। भगवान ने कामना की तीन अवस्थाआं◌े का वर्णन उसको विनष्ट करने के उद्देश्य से ही बताया है जिसकी आज्ञा आगे के इकतालीसवें और तैंतालिसवें श्लोक में दी है। कामन की वृद्धि की गति बहुत ही तीव्र होती है और इसके बढ़ने पर अनर्थ परम्परा की श्रृंखला आगे बढ़ती जाती है सम्पूर्ण पाप- सन्ताप-दुख कष्ट आदि कामना के ही कारण होते है इसलिये विवेकी मनुष्य का परमकर्तव्य हो जाता है कि वह कामना को उत्पन्न न होने दें, और यदि उत्पन्न हो भी गयी तो उसे प्रथम, द्वितीय अवस्था में ही नष्ट कर दें और तृतीय अवस्था कभी आने ही न दें जो मनुष्य कामाना को पहचानकर और उसको सुख का आश्रय न मानकर सर्वथा त्याग कर देता है वही व्यक्ति कामना को नष्ट भी कर सकता है।

श्लोक-

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।। 39।।

अन्वय- कौन्तेय (हे कुन्ती पुत्र अर्जुन), ज्ञानिनः (ज्ञानी व्यक्ति के), नित्यवैरिणा (चिरशत्रु), एतेन (इस) कामरूपेण (कामरूप) दुष्पूरेण (कभी न तृप्त होने वाली) अनलेन (अग्नि के द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञान) आवृतम् (ढ़का रहता है)।। 39।।

अर्थ- ''हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! ज्ञानी व्यक्ति की चिरशत्रु इस कामरूप और कभी न तृप्त होने वाली अग्नि के द्वारा ढ़का रहता है''।

व्याख्या- काम को मनुष्य का चिरशत्रृ कहा गया है मनुष्य काम के ही वशीभूत होकर इच्छा न रहते हुये भी बलपूर्वक नियुक्त सा होकर पाप-कर्म करता है काम की तीन अवस्थायें होती है- सूक्ष्म, स्थूल, अतिस्थूल काम की प्रथम अवस्था है जब हम किसी अप्राप्त वस्तु के विषय में जानने की इच्छा रखते हैं दूसरी अवस्था में एक बार किसी वस्तु का उपभोग कर लेने के बाद भी निरन्तर इच्छा बनी रहती है। इसे काम की अतिस्थूल अवस्था कहते हैं काम की ये तीनों अवस्थायें अन्तःकरण के विवेक को उत्तरोत्तर ढ़क लेती हैं। जैसे- धूआं जब आग को ढकता है, तब आग के प्रकाश को ढक लेता है, पर उसके ताप को नहीं ढक पाता उसी प्रकार काम की पहली अवस्था अन्तः करण को आच्छादित कर विचार शक्ति को मन्द नहीं कर पाती है। दूसरी अवस्था में विचारशक्ति को भी प्रभावित कर देती है जैसे,-धूल-मैल से आच्छादित होने पर दर्पण में कुछ प्रतिबिम्ब नहीं दिखता है और काम की तीसरी अवस्था में अन्तःकरण मानव दिखाई ही नहीं पडता है मोह से आवृत्त वैसे ही रहता है जैसे- जरायु गर्भ को ढ़क लेता है इस प्रकार काम कभी न तृप्त होने वाली अग्नि के सामान है इस काम को भगवान ज्ञानी का 'नित्यवैरी' उपाधि से सम्बोधित करते है। क्योंकि परिणाम में तो कामना सबको दुःख देती है इसलिये इसे साधक की नित्यवैरी कहा गया है भोग में लगे हुये अविवेकी मनुष्यों में उन्हें दुःख, सन्ताप, कैद, नरक आदि प्राप्त होते ही है इसलिये यह कामना अज्ञानी की भी ''नित्यवैरी'' कही गयी है। भगवान कहते हैं कि कामना के कारण ही त्याग में सुख है- यह ज्ञान काम नहीं करता है मनुष्य को ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अनुकूल भौतिक भोग विषय मिलने से सुख्या प्राप्त होता है किन्तु वास्तविक

सुख उसके त्याग से होता है यह सभी लोग जानते है कि जाग्रित और स्वप्न में भोग पदार्थों से सम्बन्ध होने पर सुख और दुख दोनो प्राप्त होते है पर सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा में किसी भी प्रकार के भोग पदार्थों की स्मृति न रहने पर सुख ही होता है, दुख नहीं इसलिये गाढ़ निद्रा से जागने पर वह कहता है कि मैं बढ़ सुख से सोया। इसके अतिरिक्त जाग्रत और स्वप्न अवस्था में थकावट आती है। इससे सिद्ध होता है कि भोग पदार्थों के त्याग करने में ही सुख है। मनुष्य जब किसी चीज की कामना करता है तो वह उसके अधीन हो जाता है जैसे- कम्प्यूटर की कामना हुई, मन कम्प्यूटर के अधीन हो गया वैसे ही रूपये की कमी से रूपये के पराधीन हो गया इस प्रकार कामना से विवेक ढ़का हो जाने के कारण मनुष्य को वस्तु की पराधीनता का अनुभव होने लगता है यह संसार क्षणभंगू है। प्रत्येक भौतिक भोग विलास आदि की वस्तुये विनाशसील है पदार्थों को नित्य और स्थित माने बिना सुख भोग हो ही नहीं सकता है। इस प्रकार अनित्य सुख की कामना करने वाला मनुष्य अपने लोक और परलोक दोनो को महान दुख रूप बना लेता है।

काम का निवास स्थान

श्लोक-

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।। 40।।

अन्वय- इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ), मनः (मन), बुद्धिः (बुद्धि), अस्य (इस) ख्काम के, अधिष्ठानम् (आश्रयस्थल) उच्यते (कहे जाते हैं) ख्तथा, एषः (यह) एतैः (इनके द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञान को) आवृत्य (ढ़ककर) देहिन (देही को), विमाहयति (मोहित किया करता है) ।। 40।।

अर्थ-''इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के रहने के स्थान कहे जाते हैं। इनके द्वारा यह काम देही के ज्ञान को ढ़क लेता है और उसे मोहित करता है''।

व्याख्या- जब अर्जुन पिछले श्लोक में यह प्रश्न करते हैं कि हे भगवान। पाप कर्म की ओर बलपूर्वक कौन ढ़कलेता है तब भगवान उत्तर देते हैं कि यह काम है तब अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं कि इस काम को कैसे नष्ट किया जा सकता है ? भगवान कहते हैं कि यदि शत्रु को मारना चाह रहें है तो उसका पहले निवास स्थान जानना चाहिए आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं- 'ज्ञाते हि शत्रोः अधिष्ठाने सुखेन शत्रुनिवर्हणं कर्तुं शक्यतेः। अर्थात् यदि शत्रु के रहने का स्थान जान लिया जाय,तो सहज में ही उसका नाश किया जा सकता है।श्री कृष्ण भगवान कहते हैं कि यह काम इन्द्रियों में, मन में और बुद्धि में रहता है यही काम के आश्रय स्थल हैं काम ही ऐसा है जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि का सहारा लेकर देही के ज्ञान को आवृत्त कर देता है। वेदान्तसार में 'मन' की परिभाषा- संकल्प विकल्पात्मक वृत्ति के रूप में दी गयी है और अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। अर्थात् बुद्धि का लक्षण है किसी विषय पर निश्चय करना स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है- चित् मानो स्वच्छ ह्रद है रूपरसादि के अघात से उसमें लहरें उठती है एक लहर का नाम है 'मन' इसलिये 'मन' का स्वरूप संदेहशील है कामना इन्द्रियों तथा मन- बुद्धि की सहायता से जिनको विषय में लिप्त कर उसकी विवेक बुद्धि को मोहाछन्न कर डालती है परिणाम स्वरूप मनुष्य को 'आत्मज्ञान' की प्राप्ति नहीं हो पाती है इसलिये 'कामना' ही जीव को बाधने वाली है महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है-

कामबन्धनमेबैकं नान्यदस्तहि बन्धनम्
कामबन्धनमुक्तोहि ब्रह्मभूयाय कल्पते।। (महा0 शा0 पर्व-251/7)

सम्पूर्ण जगत में कामना ही एक मात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामना के बन्धन से छूट जाता है'। कामना देहाभिमानी पुरूष के चित्त को विमोहित कर देती है क्योंकि कामना के कारण मनुष्य का विवेक काम नहीं करता है कि क्या करन चाहिये और क्या नहीं करना चाहिए। दूसरे अध्याय में भगवान ने कहा है कि- 'कामना से क्रोध उत्पन्न होता है- 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' गीता (2/62) अर्थात् काम से क्रोध उत्पन्न होता है- 'क्रोधाöवति सम्मोहः' (2/63)। इस प्रकार कामना में यदि कोई बाधा आ गयी और वह पूर्ण नहीं हो पा रही है तो क्रोध उत्पन्न होता है और यदि कामना में बाधा नहीं आया तो लोभ उत्पन्न होता है 'मोह' तमोगुण का कार्य है और कामना रजोगुण का कार्य है और ये दोनो गुण पास-पास ही रहते हैं। काम इनिद्रयों, मन और बुद्धि के द्वारा देहाभिमानी पुरूष को मोहित कर देता है इस प्रकार काम रजोगुण का कार्य जबकि मोह तमोगुण का कार्य है जो मनुष्य के अन्दर कामना उत्पन्न होती है तब यह कामना भोग पदार्थ भोगने के लिए इन्द्रियों की सहायता लेते है फिर मन में तरह-तरह की कामनायें करते हैं फिर बुद्धि उसे प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचती है उसके बाद इन्द्रियां मन को अपनी ओर खींचती है तत्पश्चात् इन्द्रियां और मन मिलकर बुद्धि को भी अपनी ओर खींच लेते है और इस तरह काम देहाभिमानी के ज्ञान को ढ़ककर इन्द्रियों, मन और बुद्धि के द्वारा उसे कर देता है तथा नरकगामी बना देता है।

काम के विनाश का साधन

भगवान कृष्ण काम-क्रोध को देही का सबसे बड़ा शत्रु निरूपित करते हैं- अग्रिम श्लोक में कामरूप शत्रु को मारने का अर्जुन को उपदेश देते हैं-

श्लोक-

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि हनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।। 41।।

अन्वय-

भरत वर्ष (हे भरत वंश श्रेष्ठ), तस्मात् (इसलिये) त्वम् (तुम) आदौ (पहले) इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को) नियम्य (संयतकर) ज्ञान विज्ञान नाशनं (ज्ञान और विज्ञान के नाशक) पाप्मानं (पापरूप) हि (निश्चय ही) एनं (इसे) प्रजहि (मार डालो) ॥ 41॥

अर्थ- '' हे भरत वंशश्रेष्ठ अर्जुन ! इसलिये तुम पहले इन्द्रियों को संयत कर ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी काम को ही मार डाल।

व्याख्या-भगवान अर्जुन को उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन ! तुम इन्द्रियों को अपने वश में करो और जितेन्द्रिय बनो क्योंकि काम का नाश करने के लिये सर्व प्रथम इन्द्रियों का नियमन आवश्यक है किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रियों को किस प्रकार वश में किया जाय ? इसके उत्तर में कहा गया है कि अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय है जिनसें इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है 6/35 में भगवान कहते है कि-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहम चलम।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात् निसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है परात्मा को प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये तथा इसको प्राप्त करने के लिये दृढ़ धारणा करके अभ्यास करना चाहिये श्री कृष्ण अर्जुन को स्मरण दिलाते है कि तुम तो महावीर हो, तुमने अपने पराक्रम से किरात वेश धारी शंकर को

प्रसन्न किया है तुममें मन का संयम अपार है, तुम मन के सामने घुटने टेकने की बात कर रहे हो ? हिम्मत मत हारो अभ्यास और वैराग्य का सहारा लो अभ्यास बड़ी शक्ति होती है आप लोग एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं एक आदमी एक बड़े बैल को बाहों में उठाकर दर्शकों चकित कर दिया करता था बैल जब दो दिन का बछड़ा तभी से प्रतिदिन वह उसे उठाया करता था और इसी अभ्यास के फलस्वरूप बैल के बड़े हो जाने पर भी वह उसे आसानी से उठा लेता था निरकुंश हाथी और घोड़ा अभ्यास के द्वारा ही वश में किया जाता है महर्षि पतंजलि भी अपने 'योगसूत्र' में चित की चंचलता को दूर करने का उपाय बताते हैं- **''अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः'' (1/12)।**

अभ्यास क्या है-

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (1/13)- उनचितवृत्तियों को स्थिति में रखने के लिए अर्थात् पूरी तरह अपने वश में रखने के लिए जो सतत् प्रयत्न है उसे ही अभ्यास कहते है 'वैराग्य' का अर्थ है 'विगतराग' संसार में जब किसी के लिए न पक्ष पात रहा और न जलन। यही वैराग्य है 'वैराग्य' वैरागी की परिभाषा आचार्य शंकर अपने भाष्य में दिया है कि- 'वैराग्यं नाम दृष्टःदृष्टे भोगेषु दोष दर्शनाभ्यासाद वै तृष्णम्- देखे गये तथा नहीं देखे गये प्रिय भोगों में बारम्बार दोष दर्शन का अभ्यास करने से जो उनके प्रति अरूचि या वितृष्ण जन्म लेती है उसे 'वैराग्य' कहते हैं। 'पाप्मानंहिप्रजहि' अर्थात् कामना सम्पूर्ण पापों की उत्पत्ति स्थल हैं। यदि मन में कामना उत्पन्न हुई तो समझो की पान होने की सम्भावना रहेगी। कामना व्यक्ति के विवेक पर ऐसा पर्दा डालती है कि उसको पाप पुण्य का ज्ञान ही नहीं रह जाता है और पाप कर्म में प्रवृत्त होता चला जाता है इसलिये भगवान इस महान पापी काम का अच्छी तरह नाश करने की आज्ञा देते हैं।

आगे के श्लोक में आप देखेगें कि-देह इन्द्रिय- मन बुद्धि आत्मा के उत्रोत्तर श्रेष्ठता प्रदर्शित की गयी है।

श्लोक-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। 42।।

अन्वय-

इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को) पराणि (श्रेष्ठ) आहुः (कहते हैं) इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रियों से) मनः (मन) परं (श्रेष्ठ है) यः (जो) तु (किन्तु) बुद्धिः (बुद्धि से) परतः (परे है) सः (वह) ख् आत्मा है,) ॥ 42॥

अर्थ- ''इन्द्रियों को (शरीर से) श्रेष्ठ कहते हैं, मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, और बुद्धि मन से श्रेष्ठ है परन्तु जो बुद्धि से भी परे है, वह आत्मा है।

व्याख्या- अर्जुन जब प्रश्न करते है कि हे भगवान ! जब काम ऐसा दुर्जय है तब इसे मारना क्या संभव हो सकता है। भगवान उत्तर देते हैं कि हाँ अवश्य संभव है। उसको मारने की विधि जाने बिना कदापि संभव नहीं है, पहले विधि जान लेना चाहिये। हम शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि में रहकर काम को नहीं मार सकते हैं क्योंकि इन सब स्थानों पर काम का अधिकार क्षेत्र है। हमें अर्थात् जीवात्मा को इससे भी ऊपर आत्मतत्व तक उठना होगा और वही स्थित होकर कामतत्व पर प्रहार करना होगा। इस प्रस्तुत श्लोक में शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्रदर्शित की गयी है।

स्थूल शरीर विषय है इन्द्रियों के कारण ही शरीर में मति होती है। इन्द्रियों की अपेक्षा शरीर स्थूल जड़ सिद्ध होती है उसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से होता है। अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान तो होता है पर विषयों के द्वारा इन्द्रियों का ज्ञान नहीं हो सकता है इन्द्रियां विषयों के बिना भी रह सकती है किन्तु विषयों की सत्ता इन्द्रियों के बिना सिद्ध नहीं होती है इन्द्रियां वहीं रहती हैं पर विषय बदलते रहते हैं अर्थात् कह सकते हैं कि इन्द्रियां व्यापक हैं तो विषय व्याप्य हैं विषय इन्द्रियों के अन्तर्गत ही आते हैं पर इन्द्रियां की विषयों के अन्तर्गत नही आती है इसलिये विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों को श्रेष्ठ, सूक्ष्म, सबल, प्रकाशक और व्यापक कहा गया है।

इन्द्रियों से मन को श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि इन्द्रियां मन को नहीं जान पाती हैं किन्तु मन सभी इन्द्रियों को जानता हैं। क्योंकि मन यदि इन्द्रियों के साथ सम्बन्धित न रहे तो इन्द्रियों को विषयों का ज्ञान नहीं हो पायेगा। प्रत्येक इन्द्रिय केवल अपने निर्धारित विषय को ही जान पाती है सबको नहीं। यथा- कान केवल शब्द को, नेत्र केवल रूप को, त्वचा केवल स्पर्श को, नासिका केवल गन्ध को, रसना केवल रस को जान पाते हैं। और अन्य को नहीं किन्तु मन पांचों ज्ञानेन्द्रियों के और उनके विषयो .को भी जान पाता है। इसलिये मन इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

अब मन से श्रेष्ठ बुद्धि को कहा गया है- क्योंकि बुद्धि का लक्षण ''निश्चयात्मिका बुद्धिः'' अर्थात् निश्चय करने वाला तन-मन नहीं बुद्धि है, मन तो संकल्प-विकल्प दोनों उपस्थित करने वाला है मन की स्थिति शान्त या व्याकुल, अच्छा या खराब हैं इस सब बातों को बुद्धि तय कर पाती है तात्पर्य है कि बुद्धि मन को भी जानती है, इन्द्रियों को भी जानती है तथा इन्द्रियों के विषयों को भी जानती है अतएव बुद्धि मन, इन्द्रिय आदि से भी श्रेष्ठ है।

श्लोक-

एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
ज्हि शत्रं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।43।।

अन्वय-

महाबाहो (हे वीरश्रेष्ठ) एवं (इस प्रकार) बुद्धेः (बुद्धि से) परं (परे) बुद्ध्वा (जानकर) आत्मानम् (अपने को) आत्मना (अपने द्वारा) संस्तभ्य (नियन्त्रित करके) कामरूपं (कामरूप) दुरासदं (दुर्जय) शत्रुं (शत्रु को) जहि (मार)।। 43।।

अर्थ- '' हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार (आत्मा को) बुद्धि से परे जानकर अपने आप को अपने द्वारा नियन्त्रित करके इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डाल।''

व्याख्या-इस श्लोक में भगवान अर्जुन को आज्ञा देते है कि बुद्धि से भी आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है इसलिये इस आत्मा के दुश्मन कामरूप बैरी को मार डालो। आत्मतत्व बहुत ही गूढ़ है सभी लोगों को आसानी से भोधगम्य नहीं होता है इस आत्मतत्व की दुरूहता का वर्णन 'कठोपनिषद्' में भी कहा गया है- कठोपनिषद् में कहा गया है कि 'सब भूतों के अन्दर छिपा हुआ यह आत्मा सबके द्वारा दृष्ट नहीं है केवल सूक्ष्मदर्शी पुरूष ही अत्यन्त तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि द्वारा इसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, जीव सभी का वाचक आत्मा है बुद्धि, मन को अभ्यास और वैराग्य के द्वारा भी वश में करती है पहले शरीर से पर इन्द्रियां है, इन्द्रियों से पर मन

है, मन से पर बुद्धि है और बुद्धि से पर काम है बताया गया है इसलिये बुद्धि से परे रहने वाले इस 'काम' को जानकर उसका नाश कर देना चाहिये।

अब प्रश्न है कि इस 'बुद्धि' का स्वामी कौन है ? अर्थात् बुद्धि से श्रेष्ठ कौन है ? तब भगवान उत्तर देते है कि बुद्धि से श्रेष्ठ ''अहम'' कर्ता है बुद्धिकरण है, अहमकर्ता है, वही भोगो की इच्छा कर्ता है और सुख-दुख का 'भोक्ता' बनता है बुद्धि में अपना चैतन्य नहीं है व तो जड़ है पर उसमें जो चैतन्याभास है, वह आत्मा के कारण है आत्मा ही बुद्धि को प्रकाशित करती है इसलिये आत्मा ही बुद्धि से परे (श्रेष्ठ) है, तब ऐसा आत्मनिश्चय हो जाने के बाद अपने को अपने द्वारा नियन्त्रित करके दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डालना चाहिये। बुद्धि से ऊपर उठने के बात इसलिये कही गयी है कि बुद्धि से यदि ऊपर नहीं उठेगा तो काम प्रभावित करता रहेगा इसलिये बुद्धि से ऊपर 'आत्मा' तक जाकर उसमें सिथत हो जाओ और आत्मचैतन्य में स्थित होकर बुद्धि और मन की चंचलता को शान्त करों। क्योंकि बुद्धि और मन कीचंचलता के कारण आत्मा भी चंचल प्रतीत होती है जैसे- सरोवर के जल हिलने-डुलने के कारण उसमें प्रति बिम्बित सूर्य या चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब भी हिलता-डुलता दिखाई देता इसी प्रकार आत्म चैतन्य भी बुद्धि- मन के सम्पर्क से परिणामी और चंचल प्रतीत होता है जैसे- सूर्य चन्द्रमा के वास्तविक स्वरूप जानने के लिए जल के ऊपर उठकर देखना होगा, उसी प्रकार 'बुद्धि' के ऊपर उठने पर ही आत्मा के स्वरूप का बोध होगा तब यह पता चल जायेगा कि काम का प्रभाव क्षेत्र 'बुद्धि' तक ही सीमित है। ऐसा यदि 'बोध' हो गया तो समझो कि काम को पहले सीढ़ी पर ध्वस्त कर दिये दूसरी सीढ़ी ''अपने को अपने द्वारा नियन्त्रित करना'' आचार्य शंकर अपने भाष्य मे संस्तभ्यात्मानमात्मना का अर्थ स्पष्ट करते हैं- '' जब हम आघ्यात्मिक साधना के द्वारा बुद्धि- मन की चंचलता को दूर करते है और अन्तः करण को स्थिर-शान्त बनाने में समर्थ होंते है तब आत्मचैतन्य पूरी तरह उसमें प्रतिबिम्बित होता है और हम अन्तः करण से बुद्धि से ऊपर उठकर बिम्ब आत्मा में स्थित हो जाते हैं। यही ' संस्तभ्यात्मानमात्मना' का अर्थ है इसी अवस्था में ही हम 'काम' को मारने में समर्थ हो पाते हैं आत्मा में स्थित होकर बुद्धि, मन, इन्द्रियों और शरीर को देखने से उनमें स्थित 'काम' जलकर नष्ट हो जाता है। कठोपनिषद् में (1/3/10-11) भी इसी 42 वें श्लोक के अनुरूप श्लोक प्राप्त होता है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थअर्थेभ्यश्च परं मनः मनसस्तु पराबुद्धिबुद्धेरात्मा महान्परः।
महतः परमव्यक्त ---------- सा परा गतिः ।।

अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ है, विषयों से मन उत्कृष्ठ है, मन से बुद्धि पर है और बुद्धि से भी महान आत्मा है। महत् तत्व से अव्यक्त पर है और अव्यक्त से भी पुरूष पर है। पुरूष से पराकाष्ठता है और वही परम गति है।

अभ्यास प्रश्न- ।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

सही विकल्प पर चिन्ह लगायें-

प्रश्न 1- 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन कर्तुमर्हसि' यह उक्ति किसके द्वारा कही गयी है-

(अ) श्री कृष्ण (ब) अर्जुन

(स) संजय (द) धृतराष्ट्र

प्रश्न 2- किसके तत्व से मोहित होने के कारण 'अज्ञ' व्यक्ति अपने को कर्ता मान बैठता है-

(अ) गुण (ब) बुद्धि

(स) इन्द्रिय (द) अहंकार

प्रश्न 3- लोकसंग्रह कर्म का लक्षण क्या नहीं है-

(अ) निराशीः (ब) निर्मम

(स) विगत ज्वरः (द) अल्पज्ञ

प्रश्न 4- अनसूया-वृत्ति से क्या तात्पर्य है-

(अ) दूसरों में दोषदृष्टि देखना (ब) दोषदृष्टि से रहित

(स) श्रद्धावन्तः (द) अशान्तः

प्रश्न 5- ज्ञानी भी किसके अनुरूप चेष्टा करता है-

(अ) ज्ञानस्य (ब) स्वस्याः प्रकृतेः

(स) सदृशं (द) निग्रहः

प्रश्न 6- 'अज्ञानां कर्मसंगिनाम्' विशेषण किसके लिये प्रयुक्त हुआ है-

(अ) कर्म में आसक्त (ब) अनासक्त

(स) निष्काम (द) निरर्थक

प्रश्न 7- ईश्वरीय नियमों के प्रति श्रद्धा न रखने पर साधक को क्या प्राप्त होती है-

(अ) अधोगति (ब) उच्चगति

(स) स्वर्ग (द) मोक्ष

प्रश्न 8- किसी व्यक्ति को किसके वश में नहीं आना चाहिये-

(अ) राग और द्वेष (ब) इन्द्रिय

(स) प्रकृति (द) विषय

प्रश्न 9- स्वधर्म में स्थित रहकर किसका वरण श्रेयस्कर है-

(अ) मरण का (ब) जन्म का

(स) धर्म का (द) कर्म का

प्रश्न 10- पाप में कौन ठेलता है-

(अ) राग (ब) काम

(स) अहंकार (द) मोह

प्रश्न 11- काम और क्रोध किस गुण से उत्पन्न हुये है-

(अ) रजोगुण (ब) तमोगुण

(स) सत्वगुण (द) तृष्णागुण

प्रश्न 12- भगवान ने किसको कहा कि इसे अपना शत्रु समझो-

(अ) काम क्रोध (ब) राग द्वेष

(स) तृष्णा (द) मोह

प्रश्न 13- तृष्णा कभी क्या नहीं होती है

(अ) जीर्ण (ब) शीर्ण

(स) उपभोग (द) मित्र

प्रश्न 14- विवेकरूप ज्ञान किसके द्वारा आवृत्त रहता है-

(अ) काम (ब) राग

(स) मोह (द) लोभ

प्रश्न 15- काम के रहने को स्थान क्या नहीं है ?

(अ) इन्द्रियां (ब) मन

(स) बुद्धि (द) आत्मा

प्रश्न 16- काम को नष्ट करने के लिये किसका नियमन जरूरी है-

(अ) इन्द्रियों का नियमन (ब) प्रकृति का

(स) गुणों का (द) अहंकार का

प्रश्न 17- इन्द्रियों को किससे श्रेष्ठ कहा गया है-

(अ) शरीर से . (ब) आत्मा से

(स) मन से (द) बुद्धि से

प्रश्न 18- इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ कौन है-

(अ) आत्मा (ब) मन

(स) काम (द) इन्द्रिय

प्रश्न 19- इन्द्रिय, मन, बुद्धि से ऊपर उठकर किस तत्व में स्थित होने की बात कही गयी है-

(अ) आत्मचैतन्य (ब) काम तत्व

(स) राग द्वेष (द) जीवात्मा

प्रश्न 20- ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाला कौन है-

(अ) काम (ब) क्रोध

(स) राग (द) द्वेष

6.4 सारांश

भगवद्गीता भगवान कृष्ण द्वारा कुरूक्षेत्र युद्ध में विषाद ग्रहस्त अर्जुन को दिया गया उपदेश्य है। कुरूक्षेत्र के युद्ध में एक ओर पाण्डव सेना और दूसरी कौरव सेना खड़ी है, उसके बीच में कृष्ण अपना रथा खडा करते हैं। और अर्जुन के युद्ध से विमुख होने पर स्वधर्म और स्वभाव का पालन करने की सीख देते हैं।

श्रेयानं स्वधर्मां विगुणः परधर्म तत्स्वनुष्ठि तात्ः।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मों भयावहः।।

इस इकाई में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को लोकसंग्रहार्थ कर्म करने का उपदेश देते हैं और जनक आदि का उदाहरण देते हैं। कहते है कि जैसा श्रेष्ठ जन आचरण करते है वैसा ही अनुवर्तन करने वाले भी आचरण करते है। अनासक्त होकर कर्म करने से कर्म बन्धन नहीं लगता है और परमतत्व की प्राप्ति होती है। जैसे- यज्ञार्थ कर्म करना चाहिये, वैसे लोकसंग्रह के लिये भी कर्म करना चाहियें भले ही व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर लिया हो और उसे कोई कर्म करने की आवश्यकता न हो तब भी उसे लोक संग्रह के लिये कर्म अवश्य करना चाहिये। क्योंकि और लोग इसका अनुकरण करेंगे। इसी क्रम में भगवान अपना उदाहरण देते हैं कि मुझे ही देखो- मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य करने को शेष नहीं है न तो कुछ अप्राप्त है और न हीं प्राप्त करना है फिर भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ यदि मैं यह मान लूँ कि मेरे लिये कुछ भी प्राप्त- अप्राप्त नहीं है तो ये सारे लोग नष्ट हो जायेंगे और मैं वर्णशंकर का निमित्त बन जाऊँगा और सारी प्रजाओं के ध्वंश का कारण बन जाऊँगा-

''उत्सीदेयूरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहमं।

संकरस्य च कर्ता श्याम पहन्यानिमाः प्रजाः।।''

इसी क्रम में आगे कहते है कि सब प्रकार के अच्छे कर्म ज्ञानी जन करें और अज्ञानी को भी सब प्रकार के अच्छे कर्मों में लगायें। पर हां ज्ञानी के लिए वही कर्म निष्काम होगा जबकि अज्ञानी के लिए सकाम कर्म होगा और जो ज्ञानी व्यक्ति होता वह गुण विभाग एवं कर्म विभाग के तत्व को जानने वाला होता है तथा सम्पूर्ण गुण ही अपने गुणों में रहते हैं। ''गुणाः गुणेशु वर्तन्त'' ऐसा मानकर तत्व वित्त कर्मों में आसक्त नहीं होते हैं। भगवान अर्जुन को निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं,

और कहते हैं कि-

'' मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसाः।
निराशीनिर्मयो भूत्वा युध्यस्वः विगत् ज्वरः।।''

गीता के 03/20 वें में श्लोक में भगवान ने अर्जुन से कहा कि- 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि'- लोकसंग्रह को देखते हुये भी तेरे लिए कर्म करना योग्य है। अर्जुन को भगवान को समझाते हैं कि काम मुनष्य का सबसे बड़ा शत्रु है यह रजोगुण से उत्पन्न है-

''कामः एषः क्रोधः रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिहः वैरिणम्ः।।''

इस प्रकार काम को मुनष्य का सबसे बड़ा शत्रु कहा गया है इस काम के द्वारा मनुष्य का ज्ञान उसी प्रकार आवृत्त हो जाता है जिस प्रकार मैल से दर्पण ढ़क जाता है। इन्द्रियां, मन, और बुद्धि का काम का निवास स्थान बताया गया है इसी काम के वशीभूत होकर देहाभिमानी पुरूष मोहित हो जाता है।

यथा-''इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यतेः।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमहावृत्य देहिनम्ः।।''

भगवान अर्जुन को सम्बोधित करते हुये कहते है कि इस काम पर विजय पाने के लिए इन्द्रिय, मन, बुद्धि को वश में रखना पड़ेगा इसीलिये भगवान आगे कहते हैं कि इन्द्रियों को संयत करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी काम को मार डालों। संक्षेप में कहा जा सकता है 'ज्ञानयोग' की तरह गीता में प्रतिपादित 'कर्मयोग' का आश्रय लेकर व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पा सकता है और इस प्ररकार मुक्ति के बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है।

6.5- पारिभाषिक शब्दावली-

1-लोकसंग्रह-

''लोक शब्द स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन तीनों लोकों का वाचक है। इन तीनों लोकों की मर्यादा को स्थायी रखने के लिए कर्म करना 'लोकसंग्रह' है।''

2-अहंकारविमूढ़ात्मा-

'अहंकार' अन्तः करण की एक वृत्त है 'स्वयं' (स्वरूप) उस वृत्तिका ज्ञाता हैं। परन्तु भूल से स्वयं को उस वृत्ति से मिलाने अर्थात् उस वृत्ति को ही अपना स्वरूप मान लेने से यह मनुष्य विमूढ़ात्मा कहा जाता है।''

3.अकृत्स्नवित्-

''कृत्स्न' का अर्थ है पूर्ण, अतः 'कृत्स्नवित्' का तात्पर्य हुआ 'पूर्ण का जानने वाला', सम्पूर्ण तत्व को जानने वाला है और इसके विपरीत 'अकृत्स्नवित्' का अर्थ होता है 'जो पूरा न जानता हो'।''

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 की उत्तरमाला

प्रश्न 1- (अ)	प्रश्न 2- (स)	प्रश्न 3- (ब)	प्रश्न 4- (अ)	प्रश्न 5- (ब)
प्रश्न 6- (स)	प्रश्न 7- (ब)	प्रश्न 8- (ब)	प्रश्न 9- (अ)	प्रश्न 10- (ब)
प्रश्न 11- (अ)	प्रश्न 12- (अ)	प्रश्न 13- (अ)	प्रश्न 14- (ब)	प्रश्न 15- (स)
प्रश्न 16- (द)	प्रश्न 17- (अ)	प्रश्न 18- (ब)	प्रश्न 19- (अ)	प्रश्न 20- (अ)

अभ्यास प्रश्न 2 की उत्तरमाला

प्रश्न 1- (अ)	प्रश्न 2- (द)	प्रश्न 3- (द)	प्रश्न 4- (ब)	प्रश्न 5- (ब)
प्रश्न 6- (अ)	प्रश्न 7- (अ)	प्रश्न 8- (अ)	प्रश्न 9- (अ)	प्रश्न 10- (ब)
प्रश्न 11- (अ)	प्रश्न 12- (अ)	प्रश्न 13- (अ)	प्रश्न 14- (अ)	प्रश्न 15- (द)
प्रश्न 16- (अ)	प्रश्न 17- (अ)	प्रश्न 18- (अ)	प्रश्न 19- (अ)	प्रश्न 20- (अ)

6.7- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. गीतातत्व चिन्तन - स्वामी आत्मानन्द
प्रकाशन-अद्वैत आश्रम, 5 डिही एण्टाली रोड-कलकत्ता
2. भगवद्गीता - चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
3. श्री मद्भगवद् गीता - योगीराज श्री श्यामाचरण
लोहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्र नाथ सान्याल।
4. श्री मदभगवद् गीता - साधक संजीवनी - स्वामी राम सुख दास।
5. 'गीता - स्वामी अड़गड़ानन्द।
6. श्री मदभगवद् गीता ' यथारूप - श्री श्रीमद ए0सी0 भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुवाद।
7. श्री मदभगवद् गीता त्रयी - भगवान श्री कृष्णचन्द्र वासुदेव।
8. श्री मदभगवद् गीता - तत्त्विवेचनी हिन्दीटीका - जयदयाल गोयन्दका गीता प्रेस गोरखपुर।
9. श्री मदभगवद् गीता - स्वामी अपूर्वानन्द - रामकृष्ण मठ- नागपुर।
10. युगगीता - डॉ प्रणव पाण्डया
11. गीता रहस्य - लोक0 बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस पूना।

6.8- सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. श्रीमद भगवद्गीता - तत्त्वविवेचनी (हिन्दी टीका) जयदयाल गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर।
2. श्रीमद् भगवद्गीता - स्वामी अपूर्वानन्द- रामकृष्ण मठ नागपुर ।
3. गीता तत्त्वचिन्तन - स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन - अद्वैतआश्रम- कल।
4. श्रीमदभगवद्गीता - चक्रवर्ती राजगोपलचारी
5. श्रीमदभगवद्गीता - योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय एवं भूपेन्द्रनाथ सान्याल।
6. यथार्थ गीता - स्वामी अड.गड़ानन्द।
7. गीता रहस्य - लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक नारायण प्रेस, पूना।

6.9- निबन्धात्मक प्रश्न-

प्रश्न-1 लोकसंग्रह हेतु कर्म किसे कहते है ? इसके पांच लक्षण स्पष्ट कीजिये ?

प्रश्न-2 मूढ़ और तत्त्वज्ञ में मुख्य भेद क्या है ?

प्रश्न-3 गीता में मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु किसे बताया गया है, और इसके नाश का क्या उपाय है ?